प्राकृत और अपभ्रंश

का

डिंगल-साहित्य

पर प्रभाव



संग्रहणीय प्रकाशन



आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : व्यक्ति और साहित्य —सं० डा० रामाधार शर्मा	१०.००
हिन्दी काव्य शास्त्र में रस-सिद्धान्त—डॉ० सच्चिदानन्द चौधरी	१८.००
आचार्य द्विवेदी और उनके संगी-साथी —लेखक आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी	१.००
हिन्दी-उपन्यास की शिल्पविधि का विकास—डा० (श्रीमती) ओम शुक्ल	१६.००
हिन्दी-निबन्ध का विकास—डा० ओंकारनाथ शर्मा	१६.०
अज्ञेय का काव्य—कुमारी सुमन झा	८.०
हिन्दी की नयी कविता—श्री पी० नारायणन कुट्टी	७.००
आ० हि० कविता में अलंकार विधान—डा० जगदीशनारायण त्रिपाठी	१५.००
नया हिन्दी-काव्य—डा० शिवकुमार मिश्र	१६ .०
हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा—डा० रामाधार शर्मा	१६.००
रामचरितमानस काव्यशास्त्रीय अनुशीलन—डा० राजकुमार पाण्डेय	१६.००
हिन्दी-उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन—डा० चण्डीप्रसाद जोशी	१६.००
तुलसीदास जीवनी और विचारधारा—डा० राजाराम रस्तोगी	१६.०
कविवर बिहारीलाल और उनका युग—डा० रणवीर सिन्हा	१६.००
निराला का परवर्ती काव्य—श्री रमेशचन्द्र मेहरा	१ .००
छायावाद : स्वरूप और व्याख्या—श्री राजेश्वरदयाल सक्सेना	५.००
प्रयोगवाद—श्री नरेन्द्रदेव वर्मा	१२.५
डिंगल साहित्य प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव—डा० गोवर्धन शर्मा	१६.००
प्रसाद की काव्य-प्रवृत्ति—डा० कामेश्वरप्रसादसिंह	२०.००
कामायनी का प्रवृत्ति मूलक अध्ययन—डा० कामेश्वरप्रसादसिंह	८.००
हिन्दी-गद्य का विकास—डा० प्रेमप्रकाश गौतम	१६.००
प्रसाद की नाट्य-कला—डॉ० रामसेवक पाण्डेय	१६.००
आधुनिक प्रगीत काव्य—डा० गणेश खरे	१६.००



अनुसन्धान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर-३

(शोध-ग्रन्थों के प्रकाशक)

प्राकृत और अपभ्रंश का डिंगल-साहित्य पर प्रभाव

डॉ० गोवर्द्धन शर्मा
एम० ए०, पी एच० डी०



अनुसन्धान प्रकाशन
आचार्यनगर, कानपुर

संग्रहणीय प्रकाशन



आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : व्यक्ति और साहित्य —सं० डा० रामाधार शर्मा	२०.००
हिन्दी काव्य शास्त्र में रस-सिद्धान्त—डॉ० सच्चिदानन्द चौधरी	१८.००
आचार्य द्विवेदी और उनके संगी-साथी —लेखक आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी	३.००
हिन्दी-उपन्यास की शिल्पविधि का विकास—डा० (श्रीमती) ओम शुक्ल	१६.००
हिन्दी-निबन्ध का विकास—डा० ओंकारनाथ शर्मा	१६.००
अज्ञेय का काव्य—सुश्री सुमन झा	८.००
हिन्दी की नयी कविता—श्री पी० नारायणन कुट्टी	७.००
आ० हि०-कविता में अलंकार विधान—डा० जगदीशनारायण त्रिपाठी	१५.०
नया हिन्दी-काव्य—डा० शिवकुमार मिश्र	१६.००
हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा—डा० रामाधार शर्मा	१६.०
रामचरितमानस काव्यशास्त्रीय अनुशीलन—डा० राजकुमार पाण्डेय	१६.००
हिन्दी-उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन—डा० चण्डीप्रसाद जोशी	१६ .
तुलसीदास जीवनी और विचारधारा—डा० राजाराम रस्तोगी	१६
कविवर बिहारीलाल और उनका युग—डा० रणवीर सिन्हा	१६.००
निराला का परवर्ती काव्य—श्री रमेशचन्द्र मेहरा	१०.००
छायावाद : स्वरूप और व्याख्या—श्री राजेश्वरदयाल सक्सेना	८.००
प्रयोगवाद—श्री नरेन्द्रदेव शर्मा	१२.५०
डिंगल साहित्य प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव—डा० गोवर्द्धन शर्मा	१६.००
प्रसाद की काव्य-प्रवृत्ति—डा० कामेश्वरप्रसादसिंह	२०.०
कामायनी का प्रवृत्ति मूलक अध्ययन—डा० कामेश्वरप्रसादसिंह	८
हिन्दी-गद्य का विकास—डा० प्रेमप्रकाश गौतम	१६.००
प्रसाद की नाट्य-कला—डॉ० रामसेवक पाण्डेय	१६.००
आधुनिक प्रगीत काव्य—डा० गणेश खरे	१६ .



अनुसन्धान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर-३

(शोध-ग्रन्थों के प्रकाशक)

प्राकृत और अपभ्रंश का डिंगल-साहित्य पर प्रभाव

डॉ० गोवर्द्धन शर्मा
एम० ए०, पी एच० डी०



अनुसन्धान प्रकाशन
आचार्यनगर, कानपुर

मूल्य
सोलह रुपये

प्रकाशक अनुसन्धान प्रकाशन
८७/१२९ आचार्यनगर कानपुर १
प्रकाशन-काल सन् १९६६ ई०
मुद्रक अनुपमप्रेस
चन्द्रिकादेवी रोड, कानपुर १

प्रियवर रामरतन जी चांडक

को



प्राक्कथन



'प्राकृत और अपभ्रंश का डिंगल-साहित्य पर प्रभाव' विषय पर प्रबन्ध प्रस्तुत करते हुए विषय की व्यापकता की ओर हमारा ध्यान सबसे पहले जाता है। भाषाविदों ने ईसा के छः सौ वर्ष पूर्व से प्राकृत का अभ्युदय माना है। निरन्तर प्रवहमान साहित्यधारा का—लगभग दो सहस्र वर्ष तक रचे गये प्राकृत अपभ्रंश और डिंगल के साहित्य का परिचय पा लेना भी बहुत टेढ़ा काम है। विषय जितना व्यापक है उतना ही जटिल भी। मैंने विषय का यथासम्भव गम्भीर और वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

कठिनाइयाँ और मेरे साधन : मूल स्रोतों का अध्ययन

जब विषय पर नियमित रूप से काम शुरू किया गया, तो तीन प्रमुख कठिनाइयों का अनुभव हुआ। वे थीं—

(१) प्राकृत, अपभ्रंश और डिंगल का अधिकांश साहित्य अप्रकाशित है। वह देश के सुदूर कोनों में स्थित विभिन्न पुस्तकालयों, ज्ञानभण्डारों या देवालयों में अज्ञात पड़ा है जहाँ तक पहुँचना सरल नहीं। जो कुछ अल्पमात्रा में साहित्य प्रकाशित भी हुआ है, वह आम आसानी से उपलब्ध नहीं होता। प्रकाशित साहित्य भी बहुधा कम प्रतियों के आधार पर सम्पादित किया हुआ है अतः उसे वैज्ञानिक और अन्तिम नहीं माना जा सकता है। पर्याप्त जानकारी का अभाव और सुसम्पादित प्रकाशित साहित्य की कमी अध्ययन के मार्ग की बहुत बड़ी बाधा रही।

(२) प्राकृत, अपभ्रंश और डिंगल—इन तीनों साहित्यों पर शोधात्मक कम काम हुआ है। सर्वांग-सुन्दर विस्तृत साहित्यिक इतिहास की बात तो दूर रही, काम चलाऊ इतिहास भी उपलब्ध नहीं है।

(३) डिंगल का क्या अर्थ है? राजस्थानी और डिंगल का क्या सम्बन्ध है? क्या डिंगल कोई भाषा है और उसका अपना साहित्य है या वह राजस्थानी भाषा की शैली विशेष मात्र है? क्या वह कृत्रिम भाषा है? डिंगल-साहित्य से क्या अभिप्राय ग्रहण किया जाय? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन पर विद्वानों में मतभेद है। विद्वानों के मतमतान्तर में से चुन कर कौन-सा मार्ग ग्रहण किया जाय जो वैज्ञानिक हो और हमें तटस्थ गम्भीर अध्ययन के द्वारा सही निर्णयों तक पहुंचावे।

इन तीनों कठिनाइयों को एक-एक कर सुलझाया गया। प्राकृत अपभ्रंश और डिंगल में अब तक—मई सन् १९६१ तक—प्रकाशित सुलभ समस्त साहित्य को परखा गया। सौराष्ट्र के चारणों द्वारा डिंगल की कुछ रचनाओं का गुजराती में प्रकाशन हुआ है उन्हें भी प्राप्त किया गया। जो साहित्य बाजार में अप्राप्य था उसका पुस्तकालयों में जाकर अध्ययन किया गया। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्राकृत, अपभ्रंश और डिंगल के उन ग्रन्थों को जो हिन्दी गुजराती मराठी राजस्थानी या अंग्रेजी में मिलते हैं विवेचन का आधार बनाया गया। इसके साथ ही विभिन्न ग्रंथालयों में जाकर अप्रकाशित किन्तु महत्वपूर्ण रचनाओं से सामग्री संचित की गई। जैसलमेर, नागौर, जोधपुर, उदयपुर, पूना, जामनगर, भावनगर, बड़ौदा, पाटण, अहमदाबाद, कारंजा, जयपुर, बीकानेर आदि स्थानों के ज्ञानभण्डारों, पुस्तकालयों, संस्कृतिमन्दिरों तथा व्यक्तिगत तौर पर अनेक मित्रों से सामग्री प्राप्त की गई। इस प्रकार मूलस्रोतों से प्राप्त विपुल सामग्री का उपयोग प्रस्तुत प्रबन्ध में किया गया है।

जहाँ तक इन तीनों साहित्यों पर किये गये विद्वानों के कार्य का लाभ उठाने का प्रश्न है मराठी गुजराती राजस्थानी हिन्दी अंग्रेजी और संस्कृत में जहां कहीं, और जितनी भी जानकारी उपलब्ध हो सकती थी उसे प्राप्त करने की कोशिश की गई जो परिशिष्ट (ख) में दी गई सहायक सामग्री-सूची में संकलित है। यथा सामर्थ्य कोई क्षेत्र अपर्यालोचित नहीं छोड़ा गया। डा० तोमर, डा० आचार्य तथा डा० शिवपुरी के अप्रकाशित किन्तु विषय से सम्बन्धित शोधप्रबन्धों को भी मंगा कर देखा गया। यही नहीं, अपितु अपभ्रंश प्राकृत व डिंगल के विद्वानों से निजी पत्रों द्वारा

विवेचन और विचारविनिमय द्वारा पत्रोत्तर द्वारा जानकारी प्राप्त की गई। सर्वश्री राहुल सांकृत्यायन अगरचन्द जी नाहटा उदयराज जी उज्ज्वल डा० गणेश म० देशपांडे डा० वी० एम० कुलकर्णी डा० माधव गोपाल देशमुख के० का० शास्त्री बेचरदास दोशी ओंकारनाथ मांकड बद्रीप्रसाद जी साकरिया आदि विद्वानों का सहयोग पाकर मैं भाग्यशाली बना हू। इस सम्बन्ध में अपने गुरुदेव डा० सोमनाथ जी गुप्त का विशेष आभारी हू जिनके मार्ग-दर्शन से ही प्रबन्ध प्रस्तुत करने में समर्थ हो हू

विभिन्न मत और मेरी मान्यताएँ

तीसरी कठिनाई डिंगल के स्वरूप को लेकर थी। सर्वश्री पुरुषोत्तम मेनारिया अगरचन्द जी नाहटा प्रभृति विद्वान डिंगल को मात्र शैली मानने के पक्ष में हैं। वे उसे भाषा स्वीकार नहीं करते। दूसरी ओर मोतीलाल मेनारिया टेसिटरी चटर्जी रामकर्ण आसोपा गजराज ओझा नरोत्तम स्वामी, जगदीश श्रीवास्तव हीरालाल महेश्वरी, उदयराज उज्ज्वल आदि विद्वान उसे भाषा मानते हैं। इन पंक्तियों का लेखक डिंगल को भाषा मानने के पक्ष में है। मारवाड़ी भाषा ही प्राकृत और अपभ्रंश से मिश्रित होकर डिंगल कहलाई। प्रारम्भ में साहित्यिक राजस्थानी मारवाड़ी बोलचाल से जुदा नहीं थी। कालान्तर में यही विकसित होकर डिंगल नाम से पुकारी जाने लगी। प्रस्तुत प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में इन मान्यताओं की सप्रमाण स्थापना की गई है। इसी प्रकार डिंगल काव्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया गया और सतर्क प्रतिपादित किया गया कि उन पर प्राकृत-अपभ्रंश का बहुत ऋण है (देखिये चौथा अध्याय)। संक्षेप में प्रस्तुत प्रबन्ध की निम्न विशेषताएँ हैं।

(१) प्राकृत और अपभ्रंश की पृष्ठभूमि में डिंगल साहित्य को परखने की यह पहली चेष्टा है।

(२) मराठी गुजराती हिन्दी राजस्थानी अंग्रेजी और संस्कृत में प्रकाशित तथा अनेक अप्रकाशित कृतियों के आधार पर प्रस्तुत प्रबन्ध में पहले पहल प्राकृत-अपभ्रंश और डिंगल साहित्य का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है।

(३) डिंगल वस्तुतः भाषा है या शैली तथा इसी प्रकार की अन्य सम्बद्ध समस्याओं का सप्रमाण समाधान प्रस्तुत किया गया है।

(४) डिंगल के विभिन्न काव्य रूपों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध में किया गया है—रास रासो कवाड़ा पामु दवावैत वचनिका ख्यात बात डिंगल गीत आदि।

(५) डिंगल साहित्य की प्रधान प्रवृत्तियों का परिचय देकर उनके प्रेरक स्रोतों को देखा गया। वचनमणा काव्यदान तथा अन्य प्रवृत्तियों एवं रूढ़ियों की विस्तृत समीक्षा की गई।

(६) प्राकृत व अपभ्रंश का डिंगल साहित्य पर वस्तुगत शैलीगत और शिल्पगत प्रभाव दर्शाया गया।

(७) डिंगल साहित्य विषयक अनेक भ्रामक धारणाओं का निराकरण किया गया और नवीन मान्यताओं की स्थापना की गई।

कृतज्ञता प्रकाशन

प्रस्तुत प्रबन्ध को तैयार करने में मैंने पूर्वलिखित विद्वानों से अपरिमित सहायता पाई है, उनके सम्मान में नतमस्तक हूं। इसी प्रकार उन सभी विद्वानों का आभारी हूं जिनकी रचनाओं से मुझे सहायता मिली है। पुस्तक प्रकाश जोधपुर, सुमेर पब्लिक लायब्रेरी जोधपुर, ज्ञान भण्डार बड़ा उपाश्रय पाटण, सरस्वती भवन उदयपुर, अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर, आनन्द बाई ज्ञान भण्डार जामनगर, दिगम्बर ज्ञान भण्डार कारंजा तथा सेठ दलपतभाई लालभाई भारतीय संस्कृति मंदिर अहमदाबाद के अधिकारियों ने मुझे पुस्तकें प्राप्त करने में मदद की, उनके प्रति भी आभारी हूं।

आदरणीय डा० सोमनाथ जी गुप्त के मार्ग-दर्शन के अभाव में यह कुछ भी नहीं हो सकता था। उन्हीं के प्रोत्साहन और समय-समय पर दी गई सक्रिय सहायता से इस महत् कार्य को मैं पूर्ण कर सका। उनकी महती कृपा के लिए सदैव नतमस्तक

राजस्थान की स्थानीय विशेषताओं को समझना भी जरूरी था। अधिकांश सामग्री मैं नहीं देख पाया। नाना प्रकार की चेष्टाएँ की गई कि प्रूफ की भूलें न रहने पावें, फिर भी कतिपय त्रुटियाँ रह गई हैं। सुधी पाठकों से उदारता की अपेक्षा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में राजस्थान विश्वविद्यालय ने आर्थिक अनुदान दिया है एतदर्थ लेखक विश्वविद्यालय के अधिकारियों का हार्दिक आभार मानता है।

—गोवर्द्धन शर्मा



विषय-सूची



१

प्राकृत : भाषा और साहित्य

किसे प्राकृत के नाम से संबोधित किया जाय ? कौन सी भाषा प्राकृत कहलाने की अधिकारिणी है ? ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर दो तीन ढंग से दिया जा सकता है। पाश्चात्य विद्वानों ने प्राकृत शब्द का प्रयोग इन अर्थों में किया है—

(१) वे विशेष भाषाएं जिनका भारतवर्ष में प्राकृत शब्द से उल्लेख किया जाता है। जैसे महाराष्ट्री, या संस्कृत नाटकों के प्राकृत अंश।

(२) मध्यम भारती युग की भाषाएं।

(३) साहित्यिक और शिष्ट भाषा से भिन्न सहजन्य लोक भाषा के लिए। इस अन्तिम अर्थ में कई लेखक प्राकृत के तीन भेद करते हैं[२] प्रथम द्वितीय और तृतीय प्राकृतों को तीनों बड़े युगों की सहजन्य लोक भाषाएं थीं।

इन तीनों प्रयोगों से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि चाहे जो हो प्राकृत भाषाएं चाहे उन्हें लोक भाषा के रूप में गृहीत किया जाय अथवा साहित्यिक के - भारत के भाषा–इतिहास की एक अत्यन्त आवश्यक भूमिका है। एक ओर से वर्तमान काल की बोलचाल की भव्य-भारतीय–आर्यभाषाएं और दूसरी ओर से प्राचीनतम भारतीय-आर्य भाषा जैसे कि वेद की भाषा यह दोनों स्वरूपों के बीच की जो भारतीय भाषा इतिहास की अवस्था है, उसको हम प्राकृत नाम दे सकते हैं।[३] इसी बात को प्रकारान्तर से इस प्रकार भी कहा जा सकता है—भारतीय आर्यभाषाओं को प्राचीन मध्य और आधुनिक तीन कालों में विभाजित किया गया है। प्राकृत मध्यकालीन भाषाओं का प्रतिनिधित्व करती है।

इसी व्यापक अर्थ में लेने पर ६०० ई० पूर्व से १००० ई० तक के सोलह सौ वर्षों तक भारतीय–आर्यभाषा विभिन्न प्राकृतों तथा तत्पश्चात् अपभ्रन्श के रूप में विकसित होती हुई आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की जननी बनी।[४] आर्यभाषा

---

१ बनारसीदास जैन प्राकृत प्रवेशिका-पृ० ५

२ ग्रियर्सन बूलर, पिशेल डा० प्रबोध पंडित डा तिवारी आदि सभी तीन विभाजन करते हैं। विस्तृत विवेचन अन्यत्र है।

३ डा० प्रबोध बेचरदास पंडित भाषा पृ० १

४ डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल हिन्दी साहित्य कोश-पृ० ४९२

५ डा० उदयनारायण तिवारी हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास-पृ ६०

के मध्यकालीन स्वरूप के विकास का ठीक-ठीक विवेचन करने के लिए १६०० वर्षों के इस काल को निम्न पर्वों में बाँटा जा सकता है—

(१) प्रथम पर्व जिसमें लगभग ६०० ई० पूर्व तक के प्रारंभिक परिवर्तन तथा २०० ई० पूर्व से २०० ई० तक का विकास अन्तर्भूत है।

(२) २०० ई० से ६०० ई० तक द्वितीय पर्व।

(३) ६०० ई० से १००० ई० तक तृतीय पर्व।[1]

प्रथम पर्व में भाषा के विकास के अध्ययन की सामग्री पालि साहित्य तथा अशोक के अभिलेखों से प्राप्त होती है। भरतसिंह पालि के इस काल को ५०० ई० पूर्व से १ ई० पूर्व तक मानते हैं।[2] पालि को आजकल 'प्राचीन प्राकृत' मानते हैं और प्राकृत से उसे भिन्न समझते हैं। प्राकृत के वैयाकरणों तथा अलंकार-शास्त्रों ने पाली को पृथक मानकर प्राकृत व्याकरण आदि लिखते समय इसका कुछ भी उल्लेख नहीं किया है।[3] इसीलिये हम भी प्रस्तुत अध्याय में पालि पर विस्तृत विचार नहीं करेंगे।

द्वितीय पर्व में जिस प्राकृत को ग्रहण किया जाता है उसे साहित्यिक प्राकृत के नाम से भी अभिहित किया जाता है। प्रस्तुत अध्याय का अध्ययन मध्यकाल की प्राकृत भाषा और साहित्य तक सीमित है। अतः यहाँ प्राकृत का व्यापक अर्थ न लेकर उसका ऐतिहासिक अर्थ ही लिया गया है जिसके अनुसार प्राकृत एक ओर संस्कृत तथा पालि और दूसरी ओर अपभ्रंश तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के बीच की कड़ी है। अर्थ-वैशिष्ट्य के नाते विद्वानों ने इसको साहित्यिक प्राकृत कहा है।

तृतीय पर्व में अपभ्रंश का विकास लिया जाता है। इसे प्राकृत साहित्य का अंतिम काल माना जाता है।[4] इस पर दूसरे अध्याय में विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। अतः इस अध्याय में इस पर कोई चर्चा नहीं की जायेगी।

प्राकृत की व्युत्पत्ति

प्राकृत के वैयाकरणगण प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति में प्रकृति शब्द का अर्थ संस्कृत करते हुये प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति लौकिक संस्कृत से मानते हैं। संस्कृत के कई अलंकार-शास्त्रों के टीकाकारों ने भी तद्भव और तत्सम शब्दों में स्थित 'तद्' शब्द का सम्बन्ध संस्कृत से लगाकर इसी मत का अनुसरण किया है। इस विषय पर हेमचंद्र आदि में ही कहता है—

---

१ डा० उदयनारायण तिवारी हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास-पृ० ६०
२ भरतसिंह उपाध्याय पालि साहित्य का इतिहास-पृ० ११, १२
३ मधुसूदन प्रसाद प्राकृत व्याकरण–भूमिका प्र.भनारायण-पृ० ४
४ डा० हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य-पृ० १४
५ डा० प्रबोध बेचरदास पंडित प्राकृत भाषा-पृ० २

प्रकृतिः संस्कृतम् । तत्र भवं प्राकृतम् उच्यते । १।१

अर्थात् 'आधारभूत भाषा संस्कृत है और इस संस्कृत से जो भाषा निकली है या आई है वह प्राकृत कहलाती है। इसी प्रकार 'मार्कण्डेय' ने भी अपने 'प्राकृत सर्वस्वम्' के आरम्भ में ही लिखा है—

प्रकृतिः संस्कृतम् । तत्र भवं प्राकृतम् उच्यते ।१

'दशरूपक' की टीका में 'धनिक' ने २ ६० में लिखा है—

प्रकृतेर् आगतं प्राकृतम् । प्रकृतिः संस्कृतम् ।

'वाग्भटालंकार' २ २ की टीका में 'सिंहदेवगणिन्' ने लिखा है—

प्रकृतेः संस्कृताद् आगतं प्राकृतम् ।

पीटर्सनकी तीसरी रिपोर्ट के १४३ ७ में 'प्राकृत चन्द्रिका' में आया है—

प्रकृतिः संस्कृतम् । तत्र भवत्वात् प्राकृतम् स्मृतम् ।

'नरसिंह' ने 'प्राकृत शब्द प्रदीपिका' के आरम्भ में ही कहा है। उसकी तुलना कीजिए—

प्रकृतेः संस्कृतायास् तु विकृतिः प्राकृती मता ।

कर्पूरमंजरी के बम्बई संस्करण में वासुदेव की जो संजीवनी टीका दी गई है उसमें लिखा है

प्राकृतस्य तु सर्वम् एव संस्कृतम् योनिः ।९।२

प्राकृत संजीवनी में संस्कृत को प्राकृत की योनि माना गया है।

प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः ।

काव्यादर्श की प्रेमचन्द्र तर्कवागीश कृत टीका में संस्कृत के प्रकृत रूप से प्राकृत को उत्पन्न माना है—

संस्कृत रूपायाः प्रकृतेः उत्पन्नत्वात् प्राकृतम् ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि साहित्य में सुरक्षित रहकर प्राकृत का जो रूप हमें उपलब्ध हुआ है इससे प्राकृत को संस्कृत की पुत्री कहा जा सकता है। उसके ९५ प्रतिशत शब्द संस्कृत से मिलते हैं। इसका धातुकोष तो पूर्णतया संस्कृतज है। इसका व्याकरण भी संस्कृत की प्रकृति के अनुरूप है—कुछ रूपों का संक्षिप्तीकरण और कुछ का सामान्यीकरण अवश्य हुआ है।[1] संस्कृत से हटकर जिस प्रकार की स्वतंत्रता और विभिन्नता अपभ्रंश अथवा आधुनिक भाषाओं में पाई जाती है वैसी प्राकृत में नहीं। साहित्यिक प्राकृत तो विशेषतया संस्कृत की परिचारिका बनकर चली है। इसीलिए इसमें तद्भव शब्दों का बाहुल्य और ठेठ देशी शब्दों की कमी है। प्राकृत का उत्तरवर्ती साहित्य ऐसा लगता है कि संस्कृत से उल्था कर लिया गया हो। संभवतः बहुत से परवर्ती लेखक सोचते संस्कृत में थे और लिखते प्राकृत

१ डा० हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य—पृ० ९

न थे, जैसे आजकल के कई सुशिक्षित साहित्यकार अंग्रेजी में सोचते हैं और उसका अनुवाद अपनी भाषा में कर लेते हैं।[1]

परन्तु भाषा शास्त्र की दृष्टि से उक्त मत असंगत, अप्रामाणिक और उलटा लगता है।[2] ऊपर दी गई व्युत्पत्तियों का तात्पर्य यह है कि प्राकृत शब्द प्रकृति से बना है प्रकृति का अर्थ है संस्कृत भाषा और संस्कृत भाषा से जो उत्पन्न हुई है वह है प्राकृत भाषा। प्रकृति शब्द का मुख्य अर्थ संस्कृत भाषा कभी नहीं होता—संस्कृत के किसी कोष में प्राकृत शब्द का यह अर्थ उपलब्ध नहीं है और गौण या लाक्षणिक अर्थ तब तक नहीं लिया जाता जब तक मुख्य अर्थ में बाध न हो।[3] दरअसल संस्कृत और प्राकृत भाषा के बीच में किसी प्रकार का कार्य-कारण भाव है ही नहीं।[4]

दूसरे मत के अनुसार प्राकृत भाषा का बोध करानेवाला प्राकृत शब्द प्रकृति से बना है। 'प्रकृति का एक अर्थ स्वभाव भी है अत जो भाषा स्वाभाविक है वह प्राकृत शब्द से घोषित होती है।'[5] इसी से मिलता जुलता अर्थ जनसाधारण भी लिया जाता है इसीलिए हरगोविन्ददास सेठ ने 'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम् अथवा प्रकृतीनां साधारण जनानाम् इदं प्राकृतम्' के द्वारा प्राकृत की व्युत्पत्ति की व्याख्या की है।[6] इस मत के समर्थन में उन्होंने निम्न उद्धरण दिया है—

'प्राकृतेति। सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कार: सहजो वचन व्यापार: प्रकृति तत्र भव: सैव वा प्राकृतम्।

यह उद्धरण रुद्रट के 'काव्यालंकार' के टीकाकार नमिसाधु का है जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रकृति शब्द का अर्थ है लोगों का व्याकरण आदि के संस्कारों से रहित स्वाभाविक वचन व्यापार उससे उत्पन्न अथवा वही है प्राकृत।

इस प्रकार हमने देखा कि संक्षेप में प्राकृत की व्युत्पत्ति को लेकर दो मत हैं—पहला तो यह कि प्रकृति अर्थात् संस्कृत से उत्पन्न प्राकृत। दूसरा यह कि प्रकृति अर्थात् जन सामान्य की व्याकरणादि के संस्कारों से मुक्त कथ्य भाषा पर आधारित प्राकृत। इनमें से दूसरा मत अधिक ग्राह्य है।

प्राकृत भाषा का विकास

पिशेल ने यह स्पष्ट किया है कि कुछ वैयाकरण प्राकृत शब्द के विश्लेषण—प्राक्+कृत—पहले बनी भाषा के आधार पर इसे संस्कृत से भी प्राचीनतर मानते

---

१ डा हरदेव बाहरी प्राकृत और साहित्य पृ०—६
२ डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल प्राकृत विमर्श पृ०—१
३ हरगोविन्ददास सेठ पाइय सद्दमहण्णवो-भूमिका पृ०—८
४ बेचरदास दोशी जिनागमकथा संग्रह भूमिका पृ० ४—५
५ बेचरदास दोशी जिनागमकथा संग्रह-भूमिका-पृ०—१
६ हरगोविन्ददास सेठ पाइय सद्दमहण्णवो-भूमिका-पृ० ४
७ वही—पृ० ९

है। अपने नैसर्गिक रूप में यह वैदिक काल के पूर्व भी वर्तमान थी। वैदिक भाषा को स्वयं उस काल में प्रचलित प्राकृत बोलियों का साहित्यिक रूप माना जाता है।[1] सब प्राकृत भाषाओं का वैदिक व्याकरण और शब्दों का नाना रूपों में साम्य है, और ये बातें संस्कृत में नहीं पाई जातीं।[2] वैदिक संस्कृत और शिलालेखी प्राकृत दोनों भाषाएं परस्पर बहिनें हैं—क्योंकि दोनों का विकास वैदिक युग की कथ्य–भाषाओं से– स्थानीय लोकभाषाओं से हुआ था।[3] जिस समय लौकिक संस्कृत भाषा प्रचलित हुई उस समय भी साधारण लोगों की स्वतंत्र कथ्य भाषा विद्यमान थी यह नाटक आदि में संस्कृत भाषा के साथ प्राकृत भाषी पात्रों के उल्लेख से प्रमाणित होता है। क्या तो वैदिक संस्कृत और क्या लौकिक संस्कृत दोनों ही उस समय की प्राकृत भाषाओं से उत्पन्न हुई हैं। आजकल के भाषा-तत्त्वज्ञों में इसी सिद्धान्त का अधिक आदर देखा जाता है।[4]

आठवीं शती के महाकवि वाक्पतिराज ने अपने गउडवहो नामक महाकाव्य में इसी मत को इस प्रकार प्रकट किया है –

सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो यणेंति वायाओ।
एंति समुद्दं चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइं ॥ ९३ ॥

अर्थात् इसी प्राकृत भाषा में सभी भाषायें प्रवेश करती हैं और इस प्राकृत भाषा से ही सब भाषायें निर्गत हुई हैं। जल आकर समुद्र में ही प्रवेश करता है और समुद्र से ही वाष्परूप से बाहर होता है।

आज यह मान लिया गया है कि प्राकृत का विकास संस्कृत से नहीं हुआ है। प्राकृत भाषाएँ वास्तव में कृत्रिम और काव्य की भाषाएँ हैं क्योंकि इन भाषाओं को कवियों ने अपने काव्यों में काम में लाने के प्रयोजन से बहुत तोड़–मरोड़ और बदल दिया। किन्तु वह इस अर्थ में तोड़ी-मरोड़ी हुई या कृत्रिम भाषाएँ नहीं हैं कि हम यह समझें कि वे कवियों की कल्पना की उपज हों।[5] इनका ठीक वही हिसाब है जो संस्कृत का है जो शिक्षित भारतियों की सामान्य बोलचाल की भाषा नहीं है और न इसमें बोलचाल की भाषा का पूरा आधार मिला है किन्तु अवश्य ही यह जनता के द्वारा बोली गई किसी 'भाषा' के आधार पर बनी थी और राजनीतिक या धार्मिक इतिहास की परम्परा के कारण यह भारत की सामान्य साहित्यिक भाषा बन गई। भेद इतना ही कि यह पूर्णतया असम्भव है कि सब प्राकृत भाषाओं को संस्कृत की भांति एक मूल भाषा तक पहुँचाया जाय। केवल संस्कृत को ही इसका मूल समझना

---

१ सरयूप्रसाद अग्रवाल हिन्दी साहित्य कोश — पृ० ४९२
२ डा० पिशेल प्राकृत भाषाओं का व्याकरण – पृ ८
३ सी० के चौधरी कम्पेरेटिव प्राकृत ग्रामर — पृ ६
४ हरगोविन्ददास सेठ पाइअसद्दमहण्णवो – भूमिका – पृ० ८
५ वही — पृ० ९
६ बीम्स काम्परेटिव ग्रामर आफ दि मोडर्न आर्यन लेंग्वेजेज– खण्ड १—पृ० १०१

जैसा कि कई विद्वान समझते हैं और इन विद्वानों में होल्फर, लास्सन, भंडारकर याकोबोई भी शामिल हैं भ्रमपूर्ण है। प्राकृत का मूल, संस्कृत को बताना सम्भव नहीं है इसे पिशेल ने सप्रमाण सिद्ध कर दिया है।'

भाषा के विकास की दृष्टि से भी 'प्राकृत' का संकुचित अर्थ ही लिया जाता है क्योंकि ६०० ई० पूर्व से लेकर १००० ई० तक की सभी भाषायें प्राकृत के नाम से कही गयी हैं जिन्हें आरम्भिक प्राकृत' 'मध्यकालीन प्राकृत' और 'उत्तरकालीन प्राकृत' के नाम से विभाजित किया गया है। आरम्भिक प्राकृत के अन्तर्गत पालि और शिलालेखी प्राकृत अथवा लेख प्राकृत मध्यकालीन प्राकृत के अन्तर्गत महाराष्ट्री, 'शौरसेनी', मागधी अर्धमागधी पैशाची' आदि और उत्तरकालीन के अन्तर्गत 'नागर, उपनागर, 'ब्राचड़ आदि अपभ्रंश भाषाओं की गणना की जाती है। परन्तु और भी अधिक संकुचित रूप में कुछ लोगों ने मध्यकालीन प्राकृतों की ही गणना साहित्यिक प्राकृत भाषाओं के रूप में की है।

संस्कृत भाषा की सर्व व्यापकता प्राचीन काल में तो रही ही परन्तु बाद में भी उसका यथेष्ट प्रभाव बना रहा परन्तु एक काल ऐसा आया जब कि संस्कृत का व्यवहार सामान्य जनता में नहीं रह गया। सर्वप्रथम अशोक के शिलालेखों तथा सिक्कों पर संस्कृत से भिन्न प्राकृत भाषा के कुछ उदाहरण मिलते हैं और साथ ही धार्मिक ग्रंथों की प्राकृतों-(पालि और अर्धमागधी) में भी उस काल का सम्पन्न साहित्य उपलब्ध होता है। सामाजिक धार्मिक राजनीतिक तथ्यों का जितना परिचय उक्त प्राकृतों से मिल सकता है उतना उस काल में प्रचलित संस्कृत भाषा से नहीं मिलता। उस काल में उक्त प्राकृतें जन-सामान्य की भाषायें थीं संस्कृत जनता की भाषा नहीं रह गई थी। संस्कृत भाषा का परिष्कार प्रातिशाख्यों के समय से लेकर अष्टाध्यायी और महाभाष्य के समय तक बराबर होता रहा और वह जनसाधारण की भाषा न रह कर सीमित समुदाय की भाषा हो गई थी। प्राचीन आर्यों की विविध बोलियाँ-'उदिच्य' 'प्राच्य' 'मध्यदेशी आदि जो ऋग्वेद-काल से ही प्रचलित थीं वे संस्कृत के विकास के समय में भी विविध क्षेत्रों में प्रचलित थीं और फिर उन्हीं क्षेत्रों में विभिन्न प्राकृत रूपों का विकास हुआ तथा इनका प्रचार तब तक बना रहा जब तक कि आधुनिक आर्य भाषाओं का विकास उनके आधार पर नहीं हो गया।'

प्राकृत भाषा के व्याकरण समय-समय पर और विभिन्न लेखकों द्वारा रचे गये। प्राचीन भारतीय वैयाकरणों द्वारा रचित ग्रंथों की सूची निम्न है।' इस सूची में वृत्तियाँ भी शामिल हैं।

१ प्राकृत प्रकाश-वररुचि (प्रकाशित)
२ प्राकृत लक्षण-चंड (प्रकाशित)
३ प्राकृत व्याकरण-हेमचंद्र (प्रकाशित)
४ प्राकृत संजीवनी-वसन्तराज (मार्कण्डेय के प्राकृत सर्वस्व में उल्लख)

---

१ पिशेल प्राकृत भाषाओं का व्याकरण-हिन्दी अनुवाद-पृ० ८१

२ सरयू प्रसाद अग्रवाल प्राकृत विमर्श-पृ ५

३ बेचरदास दोशी प्राकृत व्याकरण-पृ ४६ ४७ से उद्धृत

५ प्राकृत कामधेनु—लंकेश्वर
६ प्राकृत व्याकरण—समंत भद्र
७ प्राकृत व्याकरणवृत्ति—त्रिविक्रम (प्रकाशित)
८ प्राकृत प्रक्रिया वृत्ति— उदय सौभाग्य (प्रकाशित)
९ प्राकृत प्रबोध—नरचंद्र
१० प्राकृत चंद्रिका—शेषकृष्ण पंडित
११ प्राकृत चंद्रिका—वामनाचार्य
१२ प्राकृत मनोरमा—भामह मार्कण्डेय के प्राकृत सर्वस्व में उल्लेख
१३ प्राकृत रूपावतार—सिंहराज (प्रकाशित)
१४ प्राकृत दीपिका—चंडीधर शर्मा
१५ प्राकृत कल्पतरु—रामतर्कवागीश (प्रकाशित)
१६ प्राकृतमंजरी—कात्यायन (प्रकाशित)
१७ प्राकृत सर्वस्व—मार्कण्डेय (प्रकाशित)
१८ प्राकृतानंद—रघुनाथ शर्मा
१९ प्राकृत प्रदीपिका—नरसिंह
२० प्राकृत मणि दीपिका—चिन्नबोम्म भूपाल
२१ प्राकृत मणिदीप अप्पयज्वन् (प्रकाशित)
२२ षड्भाषा मंजरी—अज्ञात
२३ षड्भाषा वार्तिक—अज्ञात
२४ षड्भाषा चंद्रिका—लक्ष्मीधर (प्रकाशित)
२५ षड्भाषा चंद्रिका—भामकवि
२६ षड्भाषा सुबंतादर्श—अज्ञात
२७ षड्भाषा रूपमालिका—दुर्गणाचार्य
२८ संक्षिप्तसार प्राकृतपाद क्रमदीश्वर
२९ प्राकृत व्याकरण—शुभचंद्र

हो सकता है कि कुछ और रचनाएँ अभी भी अज्ञात हों।

प्राचीनतम प्राकृत-व्याकरण प्राकृत-प्रकाश के रचयिता वररुचिने महाराष्ट्री पैशाची, मागधी और शौरसेनी का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने इन चारों के अतिरिक्त 'चूलिका पैशाचिक', आर्षअर्धमागधी और अपभ्रंश का उल्लेख किया है। त्रिविक्रम लक्ष्मीधर सिंहराज नरसिंह आदि ने हेमचन्द्र के विभाजन का अनुकरण किया है। इनमें केवल त्रिविक्रम के अतिरिक्त, शौरसेनी मागधी, पैशाची चूलिका पैशाची और अपभ्रंश को षट् भाषा के नाम से भी कहा गया है। मार्कण्डेयने इन छः के स्थान पर सोलह भाषाओं का उल्लेख किया है। उनके अनुसार प्राकृतों को भाषा विभाषा अपभ्रंश और पैशाच चार वर्गों में बाँटा गया है। भाषा के अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या आवन्ती, मागधी दाक्षिणात्य एवं बाह्लीकी विभाषा के अन्तर्गत शाकारी चाण्डाली शाबरी आभीरीकी टक्की मुख्य रूप हैं ओड्री और द्राविड़ी विभाषायें नहीं मानी गयी हैं अपभ्रंश के सत्ताईस रूपों को मानकर उप नागर और ब्राचड में और ग्यारह पैशाची भाषाओं को कैकय, शौरसेन और पांचाल तीन रूपों में गणना की गयी है। रामतर्कवागीश और पुरुषोत्तम ने भी मार्कण्डेय के उक्त विभाजन का समर्थन किया है।[1]

१ सरयूप्रसाद अग्रवाल प्राकृत विमर्श—पृ० ९—७

अब तक के अध्ययन से प्राकृत भाषा के वैज्ञानिक वर्गीकरण की समस्या हल नहीं हुई है। हमने ऊपर देखा है कि वररुचि हेमचन्द्र या मार्कण्डेय किसी भी वैयाकरण द्वारा किया गया वर्गीकरण पूर्ण और सुस्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार कालभेद पर आधारित वर्गीकरण यथा–प्राचीन प्राकृत मध्यवर्ती प्राकृत तथा परवर्तीप्राकृत पालि–साहित्यिक प्राकृतें–अपभ्रंश भी उपयुक्त नहीं है। अत हम प्राकृत का विभाजन इस प्रकार से करेंगे।[1]

१ शिलालेखी प्राकृत

अशोक के समय से लेकर बाद तक ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि में उपलब्ध शिलालेखों की प्राकृत जो उस समय के शिलालेखों ताम्रपत्रों तथा सिक्कों में पाई जाती है।

२ बहिर्भारतीय प्राकृत

इसके अन्तर्गत खोतान में मिले खरोष्ठी लिपि में लिखे धम्मपद' की प्राकृत तथा मध्यएशिया से मिले खोतानी हस्तलेखों की प्राकृत की गणना होती है जिसे निया प्राकृत कहा जाता है।

३ धार्मिक प्राकृत

इसके अन्तर्गत बौद्धों की धार्मिक प्राकृत पालि तथा जैनों की आर्षभाषा अर्धमागधी का ग्रहण होता है। इसके अतिरिक्त जैन–महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी का भी समावेश होता है।

४ वैयाकरणों की प्राकृत

वररुचि तथा भरत से लेकर मार्कण्डेय तथा रामतर्कवागीश तक के वैयाकरणों द्वारा उल्लिखित प्राकृत एवं प्राकृत की विभाषायें।

५ साहित्यिक प्राकृत

इसमें महाराष्ट्री शौरसेनी मागधी पैशाची तथा अपभ्रंश के साहित्यिक रूप का समावेश होता है।

६ नाटकीय प्राकृत

इसमें भास तथा अश्वघोष से लेकर बाद तक के संस्कृत नाटकों में उपलब्ध तद् प्राकृत तथा उसकी वैभाषिक प्रवृत्तियों का समावेश किया जाता है। इसी में प्राच्या आवंती ढक्की शकारी चांडाली आदि का ग्रहण होता है।

७ व्यावहारिक या मिश्र संस्कृत

इसको कुछ विद्वान प्राकृत से भिन्न मानना चाहेंगे तथा अन्य विद्वान इसे संस्कृत में ही अन्तर्भूत करना चाहेंगे किन्तु भाषावैज्ञानिक दृष्टि से यह संस्कृत का ही वह प्राकृतीभूत रूप कहा जा सकता है जिसका समावेश प्राकृत में करना ठीक होगा। इसमें

---

१ भोलाशंकर व्यास हिन्दी साहित्यका बृहद् इतिहास–खंड १–पृ० २०२

महाभारत तथा पुराणों की व्यावहारिक संस्कृत बौद्धों की मिश्र संस्कृत या तथाकथित बौद्ध-मिश्र-संस्कृत तथा जैनों के कतिपय ग्रंथों की मिश्र संस्कृत का समावेश किया जाता है। इसी को कुछ लोग 'भाषा डायलेक्ट' भी कहते हैं।[1]

हम यहां इन्हीं प्राकृतों का संक्षिप्त परिचय जानने की कोशिश करेंगे।

१ शिलालेखी प्राकृत

प्राकृत के प्राचीनतम रूप यदि कहीं मिल सकते हैं तो केवल शिलालेखों में ही। ईसी के जन्म से पूर्व तीसरी सदी से लेकर ईसवी सन् की तीसरी सदी तक अनेक प्रस्तरलेख गुफाओं, स्तूपों स्तम्भों आदि में उत्कीर्ण मिलते हैं, फ्रेंच विद्वान सेनरा ने इस प्रस्तर-लेखों की भाषा को 'स्मृतिस्तम्भों की प्राकृत' कहा है। यह नाम भ्रमपूर्ण है क्योंकि इससे यह अर्थ निकलता है कि यह भाषा सोलह आने कृत्रिम है। इसपूर्ण पिशेलका सुझाव है कि इस बोली का नाम 'लेण-बोली' रखा जाय।[2] लेण का अर्थ गुफा है। यह शब्द संस्कृत लयन से निकला है, जो इन प्रस्तर-लेखों में बहुधा पाया जाता है। अशोक के लेख अनेक लाटों पर मिलते हैं इसलिए इसे लाट-विभाषा भी कहा गया है।[3] ये शिला लेख हमें दो लिपियों में मिलते हैं— ब्राह्मी तथा खरोष्ठी। खरोष्ठी का प्रयोग केवल शाहबाजगढ़ी और मानसेरा वाले लेखों में है।[4] खरोष्ठी लिपि में शाहबाजगढ़ी और मानसेरा ब्राह्मी लिपि में गिरनार, कालसी, धौली जौगड़ और सोपार के लेख हैं। लघु-शिला लेखों के अन्तर्गतरूपनाथ, सहस राम बराट, ब्रह्मगीरि सिद्धपुर जटिंग रामेश्वर मस्की, कोपबाल, येरगुडि के लेख हैं। स्तम्भ लेख दिल्ली टोपरा, दिल्ली मिरत इलाहाबाद, कौशाम्बी रधिया मथिया और रामपूर्वा के लेख हैं। लघुस्तंभ लेख सारनाथ सांची इलाहाबाद और कौशाम्बी में मिलते हैं। स्तंभ वाललेख रुम्मिन्देइ और नेपाल के नीगलिव स्थानों में मिले हैं। लेयनलेख गया जिले के बराबर और नागार्जुन गुफाओं में उपलब्ध हुए हैं।[5] इस प्रकार अशोक के इन लेखों में प्राकृत की चार वैभाषिक प्रवृत्तियां परिलक्षित होती हैं[6]—उत्तरपश्चिमी प्राकृत या उदीच्य प्राकृत पश्चिमी प्राकृत, मध्यपूर्वी प्राकृत तथा पूर्वी प्राकृत।

अशोक के शिलालेखों के अतिरिक्त अन्य कई शिलालेख प्राकृत में उपलब्ध होते हैं मेहेंडेल ने इन्हें पश्चिमी भारत में प्राप्त शिलालेख दक्षिण भारत में प्राप्त शिलालेख तथा पूर्वी भारत में प्राप्त शिला लेख इन तीन वर्गों में बांटा है तथा इसी क्रम से अपनी पुस्तक में इनका भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। यद्यपि

१ डा० रामसिंह तोमर: आलोचना अंक-८-पृ० ५२

२ पिशेल प्राकृत भाषाओं का व्याकरण-हिन्दी अनुवाद—पृ० १०

३ डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल प्राकृत विमर्श —पृ० ११

४ जनार्दन भट्ट अशोक के धर्मलेख—प्रथम अध्याय

५ डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल प्राकृत विमर्श — पृ० १२ – १३

६ डा भोलाशंकर हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास—पृ० २७३ प्रथम खंड

७ डा० मधुकर मेहेंडल हिस्टोरिकल ग्रामर आफ इन्स्क्रिप्शनल प्राकृत पृ० १४३

शिलालेख बहुत पीछे तक के मिलते हैं किन्तु शिलालेखी प्राकृत के अध्ययन की दृष्टि से लेकर पूर्व तीसरी शताब्दी से विक्रम की चौथी शती तक के सात सौ वर्षों के शिलालेख ही विशेष महत्व के हैं। अशोक के बाद इस काल के शिलालेखों में खारवेल का हाथी गुंफा शिलालेख उदय गिरि तथा खंड गिरि के शिलालेख एवं पश्चिमी भारत के आंध्र राजाओं के शिलालेख विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्राकृत के उपलब्ध शिलालेखों के अन्तर्गत पल्लव वंश के राजा शिवस्कंद वर्मन एवं युवराज विजय बुद्ध वर्मन की रानी के दान-वर्णन कुल कुमका शिलालेख सोमदेव कृत ललित विग्रहराज नाटक के कुछ अंश भी गिने जाते हैं। लूडर, स्युर्मन और पिशेल ने इनका उल्लेख किया है। पिशेल ने इनको 'दानपत्राणि' के नाम से पुकारा है।[1] सिंहल द्वीप के शिलालेख १०० ई० पूर्व से लेकर २०० ई० तक के उपलब्ध होते हैं जिनका साम्य महाराष्ट्री समूह में स्थिर किया गया है। गुफा एवं शिलालेख सम्पूर्ण द्वीप में पाये जाते हैं और अक्षर लेख नासारों के आस पास मिलते हैं और उनमें ताम्रपत्रों का मंदिर के लिए दान का उल्लेख है। गाइगरने इसे सिंहाली प्राकृत का नाम दिया है। कौशाम्बी एवं मथुरा में पाये गये शिलालेख भी महत्व के हैं।

बोलियों से अत्यधिक प्रभावित है। ब्यूल्स् ब्लाक ने इसे 'खरोष्ठी-धम्मपद' कहकर पुकारा है। इसकी भाषा पाली से भिन्न है, इसलिए इसे प्राकृत-धम्मपद भी कहा जाता है।

सर औरेल स्टेनने चीनी तुर्किस्तान में कई खरोष्ठी लेखों का अनुसंधान किया। सन् १९०१ से सन् १९१४ तक के समय में तीनबार उन्होंने यात्रायें की और निया-प्रदेश से अनेक लेख प्राप्त किये। ये लेख निया-प्रदेश से प्राप्त हुए हैं, अतः इनकी भाषा निया प्राकृत के नाम से पुकारी जाती है। ये लेख खरोष्ठी लिपि में है और भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से उनका दरदी भाषाओं से विशेष सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। दरदी वर्ग की तोरवाली के साथ इसका निकटतम सम्बन्ध है।[1] इन लेखों में अधिकतर लेख राजकीय विषयों से सम्बद्ध हैं।[2] उदाहरण के लिए राज आज्ञाएं प्रान्ताधीशों या न्यायाधीशों के प्रसारित आदेश क्रय-विक्रयपत्र निर्णीपत्र और नाना प्रकार की सूचियां। इस भाषा में घोषस्वर ज ध्वनि तथा सघोष ऊष्म ध्वनियों के लिपि चिह्नों के अस्तित्व का पता लगता है जबकि ये ध्वनियां अन्य भारतीय प्राकृतों में नहीं पाई जाती।

३ धार्मिक प्राकृत

धार्मिक प्राकृतों के अन्तर्गत हम बौद्ध तथा जैन धार्मिक ग्रन्थों की प्राकृत लेते हैं। इसमें पालि अर्धमागधी जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी की गणना की जा सकती है। चूंकि पालिभाषा और साहित्य से प्रस्तुत प्रबन्ध का विषयगत सम्बन्ध नहीं है अतः इस सम्बन्ध में विशेष विचार करना अनावश्यक होगा इसीलिए पालि सम्बन्धी चर्चा को यहां स्थान नहीं दिया गया।

जैन प्राकृत साहित्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–(१) सिद्धान्त साहित्य और (२) सिद्धान्तेतर साहित्य। दूसरे प्रकार का जैन–प्राकृत–साहित्य साहित्यक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। जैनों का अधिकांश साहित्य अर्धमागधी आर्षप्राकृत से सम्बद्ध माना जाता है।[3] किन्तु जैन विद्वानों ने अर्धमागधी या आर्षप्राकृत के अतिरिक्त महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृत में भी रचनायें की हैं। महाराष्ट्री तथा शौरसेनी का जो रूप हमें जैन ग्रन्थों में मिलता है वह परिनिष्ठित प्राकृत साहित्य की महाराष्ट्री शौरसेनी से कुछ भिन्न है इसलिये विद्वानों ने इन्हें जैन–महाराष्ट्री और जैन–शौरसेनी कहा है।

४ साहित्यिक या परिनिष्ठित प्राकृत

प्राकृत वैयाकरणों ने चार प्रमुख प्राकृतें मानी हैं–महाराष्ट्री, शौरसेनी मागधी तथा पैशाची।

---

१ कत्रे प्राकृत लेंग्वेज एण्ड देयर कंट्रिब्यूशन टु इंडियन कल्चर पृ० १५

२ भोलाशंकर व्यास हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास खंड १ पृ० ७५

३ कपाडिया पाइय भाषा अने साहित्य, पृ० ७०

४ [illegible]

महाराष्ट्री प्राकृत क्या किसी प्रदेश विशेष की भाषा थी ? इस सम्बन्ध में मतभेद है। प्रारम्भ में विद्वानों ने प्राकृतों के स्थानवाचक नामों के आधार पर महाराष्ट्री प्राकृत को महाराष्ट्र प्रदेश की भाषा मानना चाहा। आज भी कुछ मराठी विद्वान यही विचार रखते हैं।[1] उनके अनुसार महाराष्ट्र प्रदेश में प्रचलित प्राकृत महाराष्ट्री प्राकृत कहलाई। इसी स्थानिक आधार को लेकर ग्रियर्सन ने प्राकृतों का विभाजन इस प्रकार किया है—

केन्द्रीय प्राकृत	शौरसेनी	
बाह्य प्राकृत	पूर्व	मागधी
	दक्षिण	महाराष्ट्री
मध्यवर्ती		अर्धमागधी

बूलर भी इस विभाजन को उपयुक्त मानते हैं।[2] किन्तु अन्य विद्वान इसी मत को नहीं मानते। डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल[3] डा० प्रबोध बेचरदास पंडित हार्नले[4] डा० मनमोहन घोष[5] डा० दमारे[6] डा० पिशेल सभी विद्वान इसे प्रकारान्तर से शौरसेनी प्राकृत का विकसित रूप सिद्ध करते हैं। डाक्टर प्रबोध पंडित के अनुसार हमारे समक्ष एक ही प्राकृत विविध रूपों से प्रगट होता है। प्रथम शौरसेनी प्राकृत के रूप में पश्चात महाराष्ट्री के रूप में। ये प्राकृत उनके नाम के अनुसार किसी विशिष्ट प्रदेश की भाषाएं नहीं किन्तु प्राकृतों की दो ऐतिहासिक भूमिका मात्र है।

अधिकतर वैयाकरणों ने भी महाराष्ट्री प्राकृत का विशेष वर्णन किया है और अन्य प्राकृतों के केवल मुख्य मुख्य लक्षण देकर शेष महाराष्ट्रीवत कहकर काम चला लिया है। दण्डी का कहना है कि 'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्राकृतं विदु महाराष्ट्री सर्वोत्कृष्ट प्राकृत है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि पाँचवीं-छठी शताब्दी में महाराष्ट्री का साहित्यिक प्रभाव भारत भर में व्याप्त था। सेतुबन्ध गाथा सप्तशती वज्जालग्ग रावण वहो गउडवहो कुमारपाल चरित आदि अधिकांश महत्वपूर्ण रचनायें महाराष्ट्री प्राकृत में ही हैं।

शौरसेनी—मथुरा और उसके आसपास के प्रदेश को शूरसेन कहते हैं, वहाँ की भाषा शौरसेनी कहलाई। ऐतिहासिक दृष्टि से शौरसेनी उत्तरकालीन वैदिकभाषा

---

१ सदाशिव आत्माराम जोगलेकर गाथा सप्तशती-भूमिका-पृ० ४
२ ए० सी बूलर इन्ट्रोडक्शन टु प्राकृत-दसवां अध्याय
३ प्रबोध बेचरदास पंडित प्राकृत भाषा पृ० ११
४ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य पृ० २४ पर उद्धरित
५ मायवे मराठी और उसका साहित्य पृ० १५ पर उद्धरित
६ वही पृ० १६ पर उद्धरित
७ पिशल प्राकृत भाषाओं का व्याकरण हिन्दी अनुवाद पृ० ७ टिप्पणी
८ प्रबोध पंडित प्राकृत भाषा पृ० १८

संस्कृत और साहित्यिक पालि-इन सबकी उत्तराधिकारिणी थी। प्राकृतों में शौरसेनी सबसे पुरानी मानी जाती है। बड़े दुर्भाग्य की बात है कि मध्य प्रदेश का पर्याप्त साहित्य राजनीतिक क्रान्तियों के कारण नष्ट हो गया। शौरसेनी का लोक-साहित्य केवल नाटकों में सुरक्षित रह गया है। धार्मिक साहित्य जैन ग्रन्थों में पाया जाता है। विद्वानों ने भाषा के उस रूप को जैन-शौरसेनी भी कहा है। हम इसकी चर्चा पहले कर ही चुके हैं। दिगम्बर मत का सिद्धान्त साहित्य इसी में है इस कारण से कुछ लोगों ने इसे दिगम्बरी भाषा भी कहा है।[1] शौरसेनी न केवल अपने क्षेत्र की व्यापक भाषा थी वरन अन्य प्राकृतों के भाषा-क्षेत्रों को भी इसने यथेष्ट रूप में प्रभावित किया तथा कई उत्तर तथा पश्चिमोत्तर भाषाओं के उद्भव में सहायता की।[2]

मागधी-पूर्व में बिहार प्रदेश के प्राचीन 'मगध' राज्य के नाम पर इसका नामकरण हुआ। अर्वाचीन बिहारी बोलियों में मगहीका इससे नाम साम्य है। पूर्वी क्षेत्रों में मागधी व्यापक प्राकृत थी। यह गौतम बुद्ध के उपदेशों की भाषा कही जाती है और पालि भाषा का मूल स्रोत भी यही है। उसका कोई स्वतन्त्र साहित्य उपलब्ध नहीं होता। केवल पूर्वी क्षेत्र के शिलालेखों तथा संस्कृत नाटकों में निम्न श्रेणी के पात्रों की भाषा के रूप में यह सुरक्षित है।[3]

५ पैशाची

पैशाची एक प्राचीन प्राकृत मानी जाती है। बौद्ध परम्परा के अनुसार इसके एक सम्प्रदाय—स्थविर वादियों के ग्रन्थ पैशाची में थे।[4] इसकी प्राचीनता तो इतनी है कि विद्वानों ने इसे पालि अर्धमागधी और शिला लेखों की प्राकृत की कोटि में रखा है।[5] यहाँ तक कि हरगोविन्द दास सेठ ने पालि की उत्पत्ति की सम्भावना भी इसी से मानी है।[6] इसे भूत भाषा अर्थात् भूतों की बोली कहा गया है—काव्यादर्श १/३८ सरस्वतीकंठाभरण १५/११ १३ कथा सरित्सागर ७/२९ और ८/३० आदि। पिशेल का अनुमान है कि पिशाच जनता द्वारा पिशाच देश में यह भाषा बोली जाती होगी। पैशाच जाति का उल्लेख भी महाभारत (७/१२१/१४) में पाया जाता है। कुछ वैयाकरणों ने इसके भी अनेक भेद स्वीकार किये हैं, उस ब्यौरे में जाने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। हार्नले के अनुसार पैशाची आर्य भाषा थी जिसका प्रयोग द्राविड़ लोग करते थे। उनकी इस मान्यता का आधार ध्वनि-परिवर्तन का अध्ययन

---

१ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य पृ० २१
२ सरयूप्रसाद अग्रवाल हिन्दी साहित्य कोष पृ० ४९३
३ सरयूप्रसाद अग्रवाल हिन्दी साहित्य कोष पृ० ४९३
४ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य—पृ० २८
५ शालिग्राम उपाध्याय हिन्दी अनुशीलन—धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक पृ० ६४
६ हरगोविन्ददास सेठ पाइअसद्द महण्णवो-भूमिका—पृ० १४

रहा है किन्तु फ्रांसीसी विद्वान् रामार इसे ठीक नहीं मानते। अस्तु। इसके उदाहरण कथा सरित्सागर, बृहत्कथा-मंजरी, बालरामायण, वाग्भट्टालंकार आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत-नाटकों में मिल जाते हैं। इसके अवशेष चीनी, तुर्किस्तान, काफिरस्तान, पामीर आदि में पाये गए शिला लेखों में भी मिलते हैं।[1] वैसे पैशाची में स्वतन्त्र रूप से कोई कृति नहीं मिलती है। गुणाढ्य कृत 'बृहत्कथा' के कारण इसकी ख्याति है। परन्तु मूल कृति काल-कवलित हो गई है। इसका एक उपभेद चूलिका पैशाची भी माना गया है। आधुनिक पश्चिमोत्तरी बोलियां तथा भाषायें—कश्मीरी सीना दरदी, काफरी, खिमाली, इसकी उत्तराधिकारिणी कही गई है।

६ नाटकीय प्राकृत

संस्कृत नाटकों में संस्कृत के साथ प्राकृतों का भी प्रयोग मिलता है। भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में पात्र भेद के अनुसार भाषा भेद का संकेत किया था। संस्कृत नाटकों की प्रमुख प्राकृतें महाराष्ट्री, शौरसेनी तथा मागधी हैं। महाराष्ट्री का प्रयोग केवल पद्य तथा गीतों में मिलता है। नाटकों की प्राकृतों में प्रमुख स्थान शौरसेनी का है। स्त्रियां बच्चे तथा अन्य मध्यवर्ग के पात्र शौरसेनी में बोलते हैं। मागधी का प्रयोग शौरसेनी की अपेक्षा कम पाया जाता है। इसे निकृष्ट कोटि के पात्र बोलते हैं। शाकुंतल में इसे मछुआ तथा राजसेवक बोलते हैं। मृच्छकटिक में स्थावरक कुंभीलक वर्धमानक रोहसेन तथा चांडाल इसका प्रयोग करते हैं। शकारी तथा चांडाली आदि मागधी की ही विभाषायें हैं। शकारी का प्रयोग मृच्छकटिक में पाया जाता है राजश्याल संस्थानक शकारी बोलता है।

संस्कृत नाटकों में प्राकृत के प्रयोग की परम्परा अश्वघोष के तुर्फान से मिल शारि पुत्र प्रकरण तथा गणिका रूपकों में पाई जाती है। प्रो॰ ल्यूडर्स के मतानुसार इन नाटकों के असपात्र प्राचीन मागधी का गणिका तथा विदूषक प्राचीन शौरसेनी का तथा तापस प्राचीन अर्धमागधी का प्रयोग करते हैं।[2] अश्वघोष के बाद भास की नाटकीय प्राकृत आती है। इसमें प्राय शौरसेनी का प्रयोग हुआ है। मागधी का प्रयोग प्रत्यभिज्ञा चारुदत्त तथा बालचरित में एवं अर्धमागधी का प्रयोग कर्णभार में हुआ है।[3] कालिदास के नाटकों में शौरसेनी तथा मागधी का प्रयोग हुआ है गीतों में महाराष्ट्री भी पाई जाती है। प्राकृत की दृष्टि से शूद्रक के मृच्छकटिक का अत्यधिक महत्व है। मृच्छकटिक में शौरसेनी तथा मागधी के शुद्ध रूप के अतिरिक्त कई विभाषायें मिलती हैं। शौरसेनी की दो विभाषायें प्राच्य तथा आवंती का प्रयोग क्रमशः विदूषक तथा वीरक करते हैं। पिशेल के मतानुसार चंदनक दाक्षिणात्य का प्रयोग करता है। संस्थानक शकारी बोलता है तथा माथुर ढक्की या टक्की बोलता

१ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य पृ॰ २८-२९
२ कीथ संस्कृत ड्रामा—पृ॰ ८६-८७
३ कीथ संस्कृत ड्रामा—पृ॰ १२२

है। अश्वघोष, भास, शूद्रक तथा कालिदास के बाद के नाटकों की प्राकृत अत्यधिक कृत्रिम है। भट्टनारायण, भवभूति मुरारि आदि कवियों के नाटकों की प्राकृत संस्कृत के आधार पर वैयाकरणों के[1] नियमों को ध्यान में रखकर बनाई गई कृत्रिम प्राकृत प्रतीत होती है।

७-वैयाकरणों की प्राकृत

हमने इसी अध्याय में पृ० १०-११ देखिये—प्राकृत के व्याकरण ग्रंथों की सूची दी है। इन सब प्राकृत व्याकरण ग्रंथों में उदाहरणों के रूप में प्राकृत के नमूने मिल जाते हैं।

मिश्र या गाथा संस्कृत

मिश्र या गाथा संस्कृत संस्कृत का वह रूप है, जो पाणिनी के नियमों के अनुसार नहीं चलता तथा प्राकृत व्याकरण के रूपों एवं शब्द-समूह से यत्र तत्र प्रभावित मिलता है। यही कारण है कि भाषा-वैज्ञानिकों ने इसे संस्कृत का रूप नहीं मानकर मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा का एक रूप माना है।[2] इस भाषा के तीन रूप मिलते हैं—

१ बौद्ध मिश्र संस्कृत या बौद्ध संकर संस्कृत
२ जैन मिश्र संस्कृत
३ हिन्दू मिश्र संस्कृत

बौद्ध मिश्र संस्कृत

बौद्धों के महायान संप्रदाय का साहित्य प्रायः संस्कृत भाषा में निबद्ध है, किन्तु इसकी संस्कृत शुद्ध पाणिनीय संस्कृत नहीं है। महावस्तु, ललित विस्तर, जातकमाला अवदानशतक आदि ग्रंथों की भाषा ऐसी ही है। आरम्भ में इस भाषा को गाथा विभाषा-गाथा डायलेक्ट कहा जाता था किन्तु फ्रांसीसी विद्वान सेनार्टने जिसने महावस्तु का तीन भागों में सम्पादन किया इसका नाम मिश्र संस्कृत देना उचित समझा।[3]

जैन मिश्र संस्कृत

सबसे पहले प्रसिद्ध अमरीकी भाषाविद् ब्लूमफील्डने अपने एक लेख द्वारा विद्वानों का ध्यान जैन मिश्र संस्कृत की ओर आकर्षित किया। जैनों के अधिकांश संस्कृत ग्रंथ भाषा की दृष्टि से शुद्ध और पाणिनीय हैं। कुछ रचनायें अवश्य ऐसी मिली हैं, जो संस्कृत में रची होने पर भी अपने में मध्य भारतीय आर्य भाषा के तत्वों को लिए है। ऐसी रचनाओं में जटासिंह नन्दी रचित वरांगचरित[4] व कुछ विजयकृत जिनसेन पद्मावती चरित्र[5] प्रमुख हैं।

---

१ भोलाशंकर व्यास हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास खं० १—पृ० २९१
२ भोलाशंकर व्यास हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास—खं० १—पृ० २९०
३ विंटरनित्ज हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर—भा० २—पृ० २२६
४ डा० आदि नाथ ने मिनाथ उपाध्ये वरांग चरित—अंग्रेजी भूमिका पृ० ४२ ४८
५ मूलराज जैन जिनसेन पद्मावती चरित्र—अंग्रेजी भूमिका—पृ० २३-३०

ब्राह्मण मिश्र संस्कृत

कुछ विद्वान महाभारत रामायण तथा पुराणों की भाषा में कई अपाणि नीय प्रयोग देखकर उसे मिश्र-संस्कृत कह बैठते हैं जो अनुचित है।

६-प्राकृत साहित्यका उदय

प्राकृत साहित्य जन सामान्य की वैचारिक क्रांति के साथ उदित होता दिखाई देता है। जैसा कि स्पष्ट है विक्रम से कई सौ वर्ष पूर्व से ही संस्कृत धर्म और काव्य की भाषा बन चुकी थी एवं वह बोलचाल की भाषा से दूर हटती जा रही थी। संस्कृत के विकास में अभिजातवर्ग का विशेष हाथ रहा है। इसने सामान्य जनता की बोलियों को उच्च साहित्य का माध्यम नहीं बनाया किन्तु ये बोलियां जनता का सहारा पाकर विकसित होती रहीं। लोकपरक सुधारवादी वैचारिक क्रान्ति ने अपने प्रचार के माध्य के लिये उन्हें अपनाया। यहीं से प्राकृत साहित्य का श्रीगणेश माना जा सकता है। प्राकृत साहित्य का उदय सर्व प्रथम धार्मिक क्रान्ति से होता है। जैन और बौद्ध धर्म ने विक्रम पूर्व पांचवी-छठी शती में जनता की बोलियों को अपनाया और उनमे अपने प्रारम्भिक साहित्य की रचना की। यह वैचारिक क्रांति पूर्व में हुई थी अत पूर्व की बोलियों को नया जीवन मिला। भगवान् बुद्ध तथा महावीर ने जनता की बोली मे, ही अपने सद्धर्म के उपदेश दिए। पर पश्चिम में चाहे जनसामान्य की बोलियों का स्वरुप रहा हो वे अधिक विकास न पा सकीं। वहां संस्कृत का पद अक्षुण्ण बना रहा। इसका कारण यह था कि मध्यदेश आर्यवैदिक संस्कृति का केन्द्र था। आगे जाकर ज्यों ज्यों संस्कृत रूढ होती गई, मध्यदेश में भी प्राकृत साहित्य का समानांतर विकास होने लगा पर फिर भी वह अधिक पल्लवित न हो पाया।[1]

वैसे तो प्राकृत का साहित्यिक काल विक्रम की छठी शती के बाद भी चलता है, पर मोटे तौर पर विक्रम पूर्व छठी शती से लेकर विक्रम की छठी शती तक का १२०० वर्ष का काल ही हमने प्राकृतकाल माना है। इस काल में प्राकृत साहित्य को तीन स्रोतों से आश्रय मिला—(१) धर्माश्रय (२) राजाश्रय और (३) लोकाश्रय। धर्मा श्रय का संकेत हम कर चुके हैं। प्राकृत को राज्य भाषा के रूप में सबसे पहला महत्व देने वाला प्रियदर्शी अशोक था जिसने जनता की बोली में अपनी धर्मलिपियों को उत्कीर्ण कराया। किन्तु मौर्यों का अन्त होने पर वैदिक धर्म के पुनरुत्थान से संस्कृत की पुन प्रतिष्ठा बढ़ गई परन्तु कलिंग के जैन राजाओं ने फिर भी प्राकृत को राज्य भाषा का पद दिया। खारवेल के हाथीगुंफा शिलालेख को इस बात का प्रमाण माना जा सकता है। पर इतना होने पर भी प्राकृत इस पद पर पूर्णत प्रतिष्ठित न हो पाई। प्राकृत साहित्य की उन्नति में वैदिक धर्मावलम्बी आन्ध्रवन्शी राजाओं ने भी बहुत सहायता की। आंध्र साम्राज्य शीघ्र ही प्राकृत साहित्य का गढ़ बन गया। आंध्रवंशी राजा सातवाहन ने स्वयं प्राकृत की गाथाओं का संग्रह किया। परवर्ती कई अन्य

---

१ भोलाशंकर व्यास हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास-खं १ पृ० २७०-७१

राजाओं ने प्राकृत कवियों को आश्रय दिया। काश्मीरराज प्रवरसेन स्वयं प्राकृत महाकाव्य के रचयिता थे तथा यशोवर्मनने वाक्पतिराज (गउडवहोके रचयिता) को अपनी राजसभा में सम्मान्य स्थान दे रखा था। वाक्पतिराज के लगभग १००-१५० वर्ष बाद ही कन्नौज के एक अन्य राजा के यहां यायावर महाकवि राजशेखर ने अपनी प्राकृत रचनाओं को पल्लवित किया और प्राकृत को संस्कृत से भी अधिक कोमल भाषा घोषित किया। राजशेखर के समय तक प्राकृत का सम्मान अत्यधिक बढ़ गया था। यह वह काल था जब प्राकृत भी संस्कृति की भांति परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा बन चुकी थी और भी कोक भाषाओं से आ पड़ी थी। पण्डितों तथा कवियों ने प्राकृत को सम्मानित पद दे दिया था। राजशेखर ने तो साहित्य की रचनाओं में संस्कृत तथा प्राकृत काव्य में ठीक वही भेद बताया था जो पुरुष तथा रमणी में है—एक में परुषता है तो दूसरी में कोमलता।

परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो ।
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअ मिहंतरं तेत्तिअ मिमाणं ॥
कर्पूरमंजरी-१।८

७-प्राकृत साहित्य की रूपरेखा

आज का उपलब्ध प्राकृत साहित्य ६०० ईस्वी पूर्व से आरम्भ होकर १८०० ईस्वी तक आता है जिसका विभाजन निम्न ढंग से किया जा सकता है—

१—धार्मिक प्राकृत साहित्य

(अ) विशुद्ध धार्मिक साम्प्रदायिक सिद्धान्तों आदि का विवेचन पालि में *रचित बौद्ध साहित्य तथा अर्धमागधी एवं शौरसेनी में रचित जैन-धार्मिक साहित्य।*

(आ) धार्मिक साहित्यिक पालि कथा साहित्य जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी में रचित साहित्य एवं जैन अपभ्रंश साहित्य।

२—साहित्यिक या ललित प्राकृत महाराष्ट्री, शौरसेनी पैशाची और अपभ्रंश साहित्य।

(अ) स्वतंत्र कृतियों के रूप में, तथा

(आ) अन्य ग्रंथों में उद्धरणों के रूप में प्राप्य प्राकृत साहित्य।

३—नाटकों में प्राकृत प्राकृत साहित्य

४—भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त- प्रदेशों में प्राप्त साहित्य प्राकृत धम्मपद, निया-प्राकृत तथा खोतान एवं मध्य एसिया आदि का प्राकृत साहित्य।

५—शिला लेखों का प्राकृत

६—मिश्र संस्कृत-भाषा बायलेक्ट

पालि यद्यपि भाषा की दृष्टि से प्राकृत का ही रूप है पर प्रायः उसे प्राकृत से पृथक माना जाता है *अत यहां पालि साहित्य नहीं सम्मिलित किया गया है।*[1] अर्धमागधी और शौरसेनी के धार्मिक जैनागमों को भी शुद्ध साहित्य की श्रेणी में न आने के कारण छोड़ दिया गया है। अपभ्रंश सम्बन्धी अध्ययन विस्तारपूर्वक दूसरे

१ डा० रामसिंह तोमर आलोचना अंक ८-पृ० ५२

ब्राह्मण मिश्र संस्कृत

कुछ विद्वान महाभारत रामायण तथा पुराणों की भाषा में कई अपाणि नीय प्रयोग देखकर उसे मिश्र-संस्कृत कह बैठते हैं जो अनुचित है।

६ प्राकृत साहित्यका उदय

प्राकृत साहित्य जन सामान्य की वैचारिक क्रांति के साथ उदित होता दिखाई देता है। जैसा कि स्पष्ट है विक्रम से कई सौ वर्ष पूर्व से ही संस्कृत धर्म और काव्य की भाषा बन चुकी थी एवं वह बोलचाल की भाषा से दूर हटती जा रही थी। संस्कृत के विकास में अभिजातवर्ग का विशेष हाथ रहा है। इसने सामान्य जनता की बोलियों को उच्च साहित्य का माध्यम नहीं बनाया किन्तु ये बोलियां जनता का सहारा पाकर विकसित होती रहीं। लोकपरक सुधारवादी वैचारिक क्रान्ति ने अपने प्रचार के माध्य के लिये उन्हें अपनाया। यहीं से प्राकृत साहित्य का श्रीगणेश माना जा सकता है। प्राकृत साहित्य का उदय सर्व प्रथम धार्मिक क्रान्ति से होता है। जैन और बौद्ध धर्म ने विक्रम पूर्व पांचवी-छठी शती में जनता की बोलियों को अपनाया और उनमें अपने प्रारम्भिक साहित्य की रचना की। यह वैचारिक क्रांति पूर्व में हुई थी, अत पूर्व की बोलियों को नया जीवन मिला। भगवान् बुद्ध तथा महावीर ने जनता की बोली में ही अपने सद्धर्म के उपदेश दिए। पर पश्चिम में चाहे जनसामान्य की बोलियों का स्वरूप रहा हो वे अधिक विकास न पा सकीं। वहां संस्कृत का पद अक्षुण्ण बना रहा। इसका कारण यह था कि मध्यदेश आर्यवैदिक संस्कृति का केन्द्र था। आगे चलकर ज्यों ज्यों संस्कृत रूढ़ होती गई, मध्यदेश में भी प्राकृत साहित्य का समानांतर विकास होने लगा पर फिर भी वह अधिक पल्लवित न हो पाया।[1]

वैसे तो प्राकृत का साहित्यिक काल विक्रम की छठी शती के बाद भी चलता है, पर मोटे तौर पर विक्रम पूर्व छठी शती से लेकर विक्रम की छठी शती तक का १२०० वर्ष का काल ही हमने प्राकृतकाल माना है। इस काल में प्राकृत साहित्य को तीन स्रोतों से आश्रय मिला—(१) धर्माश्रय (२) राजाश्रय और (३) लोकाश्रय। धर्माश्रय का संकेत हम कर चुके हैं। प्राकृत को राज्य भाषा के रूप में सबसे पहला महत्व देने वाला प्रियदर्शी अशोक था जिसने जनता की बोली में अपनी धर्मलिपियों को उत्कीर्ण कराया। किन्तु मौर्यों का अन्त होने पर वैदिक धर्म के पुनरुत्थान से संस्कृत की पुन प्रतिष्ठा बढ़ गई परन्तु कलिंग के जैन राजाओं ने फिर भी प्राकृत को राज्य भाषा का पद दिया। खारवेल के हाथीगुंफा शिलालेख को इस बात का प्रमाण माना जा सकता है। पर इतना होने पर भी प्राकृत इस पद पर पूर्णत प्रतिष्ठित न हो पाई। प्राकृत साहित्य की उन्नति में वैदिक धर्मावलम्बी आन्ध्रवन्शी राजाओं ने भी बहुत सहायता की। आंध्र साम्राज्य शीघ्र ही प्राकृत साहित्य का गढ़ बन गया। आंध्रवंशी राजा सातवाहन ने स्वयं प्राकृत की गाथाओं का संग्रह किया। परवर्ती कई अन्य

---

१ भोलाशंकर व्यास हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास-खं० १ पृ २७०-७१

राजाओं ने प्राकृत कवियों को आश्रय दिया। काश्मीरराज प्रवरसेन स्वयं प्राकृत महाकाव्य के रचयिता थे तथा यशोवर्मन्‌ने वाक्पतिराज (गउडवहोके रचयिता) को अपनी राजसभा में सम्मान्य स्थान दे रखा था। वाक्पतिराज के लगभग १००-१५० वर्ष बाद ही कन्नौज के एक अन्य राजा के यहाँ मायावर महाकवि राजशेखर ने अपनी प्राकृत रचनाओं को पल्लवित किया और प्राकृत को संस्कृत से भी अधिक कोमल भाषा घोषित किया। राजशेखर के समय तक प्राकृत का सम्मान अत्यधिक बढ़ गया था। यह वह काल था जब प्राकृत भी संस्कृति की भाँति परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा बन चुकी थी और भी लोक भाषाओं से जा पड़ी थी। पण्डितों तथा कवियों ने प्राकृत को सम्मानित पद दे दिया था। राजशेखर ने तो साहित्य की रचनाओं में संस्कृत तथा प्राकृत काव्य में ठीक वही भेद बताया था जो पुरुष तथा रमणी में है—एक में परुषता है तो दूसरी में कोमलता।

परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो ।
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअ मिहंतरं तेत्तिअ मिमाणं ॥
कर्पूरमंजरी–१।८

७-प्राकृत साहित्य की रूपरेखा

आज का उपलब्ध प्राकृत साहित्य ६०० ईस्वी पूर्व से आरम्भ होकर १८०० ईस्वी तक जाता है जिसका विभाजन निम्न ढंग से किया जा सकता है—

१—धार्मिक प्राकृत साहित्य

(अ) विशुद्ध धार्मिक साम्प्रदायिक सिद्धान्तों आदि का विवेचन पालि में रचित बौद्ध साहित्य तथा अर्धमागधी एवं शौरसेनी में रचित जैन-धार्मिक साहित्य।

(आ) धार्मिक साहित्यिक पालि कथा साहित्य जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी में रचित साहित्य एवं जैन अपभ्रंश साहित्य।

२—साहित्यिक या ललित प्राकृत महाराष्ट्री, शौरसेनी पैशाची और अपभ्रंश साहित्य।

(अ) स्वतंत्र कृतियों के रूप में तथा

(आ) अन्य ग्रंथों में उद्धरणों के रूप में प्राप्य प्राकृत साहित्य।

३—नाटकों में प्राकृत प्राकृत साहित्य

४—भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त- प्रदेशों में प्राप्त साहित्य-प्राकृत धम्मपद मिश्र-प्राकृत तथा खोतान एवं मध्य एशिया आदि का प्राकृत साहित्य।

५—शिला लेखों का प्राकृत

६—मिश्र संस्कृत-भाषा डायलेक्ट

पालि यद्यपि भाषा की दृष्टि से प्राकृत का ही रूप है पर प्रायः उसे प्राकृत से पृथक माना जाता है, अत यहाँ पालि साहित्य नहीं सम्मिलित किया गया है।[1] अर्धमागधी और शौरसेनी के धार्मिक जैनागमों को भी शुद्ध साहित्य की श्रेणी में न आने के कारण छोड़ दिया गया है। अपभ्रंश सम्बन्धी अध्ययन विस्तारपूर्वक दूसरे

१ डा० रामसिंह तोमर आलोचना अंक ८–पृ० ५२

अध्याय में किया गया है अतः यहाँ मात्र प्राकृत की ललित कृतियों पर ही विचार किया जा रहा है।

उक्त विभाजन उपयुक्त होने पर भी हमारे विषय की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होता अतः हम काव्य रूपों को आधार बनाकर प्राकृत काव्य का संक्षिप्त अध्ययन करेंगे। हमारे अध्ययन का आधार निम्न होगा —

(१) प्रबन्धकाव्य (२) मुक्तक काव्य (३) कथा साहित्य (४) नाटक (५) अन्य प्रकार। प्रबन्ध काव्यों के अंतर्गत दो प्रकार की रचनाएं गृहीत की जाती हैं—महाकाव्य एवं खण्ड काव्य। प्राकृत के महाकाव्य अधिकांश में चरित काव्य हैं जो जैन कवियों द्वारा रचित हैं। इन चरित काव्यों पर पुराण और कथा शैली का गहरा प्रभाव है।[1] जो जैनेतर काव्य हैं उनमें शास्त्रीय शैली नहीं या कम दिखलायी पड़ती है। ऐसे दो ही महाकाव्य प्राप्त हैं प्रवरसेन का सेतुबन्ध या रावणवहो और वाक्पतिराज का गउडवहो। ये दोनों ही शास्त्रीय शैली के महाकाव्य हैं। शेष ग्रंथ जैन चरित काव्यों की परम्परा में आते हैं।

प्राकृत का प्राचीनतम महाकाव्य विमलसूरि का 'पउम चरियं' है। इसमें राम कथा का जैन रूप दिया गया है। पउम-चरियं के रचयिता विमलसूरि राहु नामक आचार्य के प्रशिष्य और विजय के शिष्य थे।[2] लेखक ने स्वयं पउमचरियं की रचना का समय वीर निर्वाण संवत् ५३० अर्थात् ६० विक्रमी दिया है।[3] परन्तु कुछ विद्वान् इसे इतनी पुरानी रचना मानने के पक्ष में नहीं हैं। डा० हर्मन जैकोबी उसकी भाषा और रचनाशैली पर से अनुमान करते हैं कि वह ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी की रचना है। दूसरे इसे विक्रम की चौथी शताब्दी की रचना मानते हैं।[5] केशवराव ह० ध्रुव तो उसे और भी अर्वाचीन मानते हैं।[6] वे छन्दों के क्रमविकास के इतिहास के विशेषज्ञ थे। इस ग्रंथ के प्रत्येक उद्देश के अन्त में जो गाहिणी शरभ आदि छंदों का उपयोग किया गया है वह उनकी समझ में अर्वाचीन है। गीति में यमक और सर्गान्त में विमल शब्द का आना भी उनकी दृष्टि में अर्वाचीनता के द्योतक हैं परन्तु ये अधिकतर ऐसे अनुमान हैं, जिन पर बहुत भरोसा नहीं रखा जा सकता। अतः डा० विंटरनित्ज डा० लायमन नाथूराम प्रेमी[7] डा० भायाणी[8] आदि इसे कवि द्वारा दिए गए समय की रचना मानने के पक्ष में हैं।

---

१ शम्भूनाथसिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० १६४
२ नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास —पृ० ८७
३ वही पृ ९१
४ जैकोबी मोडर्न रिव्यू—सन् १९१४ दिसम्बर-दस एंशियेंट प्राकृत वर्क्स
५ बनारसीदास जैन प्राकृत प्रवेशिका—पृ १११
६ केशव हर्षद ध्रुव पद्यरचनानी ऐतिहासिक आलोचना—
७ नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास — पृ० ९१
८ हरदेवबाहरी प्राकृत और उसका साहित्य — पृ ६६

इस सम्बन्ध में डा० जैकोबी का कहना है कि यह तीसरी शताब्दी में लिखा हुआ प्राकृत का प्राचीनतम महाकाव्य है जो वाल्मीकि रामायण की कथा का जैन रूपान्तर है उसकी भाषा प्रारम्भिक प्राकृत है और वह महाकाव्य की सरल शैली में लिखा गया है। डा० जैकोबी ने इस आधार पर यह अनुमान किया है कि विमलसूरि के पहले भी प्राकृत में अनेक लोक प्रचलित महाकाव्य थे और पउमचरिय उनमें से एक है जो आज भी प्राप्त है। पउमचरिय में प्राचीन महाकाव्य परम्परा का अनुरूप आद्यन्त अनवरुद्ध कथाप्रवाह दिखलायी पड़ता है और वाल्मीकि रामायण की तरह ही अलंकृत किन्तु संश्लिष्ट वर्णन स्थान स्थान पर मिलते हैं जिससे उसकी शैली आकर्षक और उदात्त हो गई है। इसमें पौराणिक शैली के महाकाव्यों के अनेक तत्व दिखलाई पड़ते हैं। कथा का प्रारम्भ संवाद रूप में होता है। पउमचरिय के अनुसार रामकथा पहले पहल महावीर स्वामी ने अपने शिष्यों —इंद्रभूति आदि से कही थी, इन्द्रभूति ने उसे अपने शिष्यों को बताया और वहां से वह कथा विभिन्न आचार्यों के पास पहुँची। पउमचरिय की कथा भी इन्द्रभूति और उनके शिष्य श्रेणिक के सम्वाद के रूप में कही गयी है और बीच-बीच में पौराणिकशैली के अनुरूप प्रश्नोत्तर के रूप में अनेक अवान्तर कथायें भी कही गई हैं। यद्यपि इसमें महाभारत और पुराणों की तरह जगह जगह उपदेशात्मक कथन भरे हुए हैं किन्तु कुल मिलाकर यह पुराण से अधिक महाकाव्य ही है क्योंकि सर्ग प्रतिसर्ग मन्वन्तर आदि का वर्णन इसमें नहीं है। इसके विपरीत इसमें प्रारम्भ में तीर्थंकरों की वन्दना देश वर्णन सम्वाद रूप में कथा का वस्तु-निर्देश और पहले अध्याय में ही सभी अध्यायों का सार संक्षेप में दे दिया गया है। इस प्रकार यह वाल्मीकि रामायण के ढंग का उसी की शैली में लिखा गया प्राकृत महाकाव्य है।[1]

पउमचरिय में दशरथ की चार रानियां बताई गयी हैं। कौशल्या या अपराजिता, सुमित्रा कैकेयी और सुप्रभा। वनवास में राम और लक्ष्मण कई विवाह करते हैं—राम गन्धर्व राज की तीन कन्याओं से और लक्ष्मण वज्रकर्ण की आठ कन्याओं से। आगे चलकर राम सुग्रीव की १३ कन्याओं से और लक्ष्मण लंका के पास समुद्र राज की कन्या और शक्ति लगने पर चिकित्सा करने वाली विशल्या नाम की कन्या से विवाह करते हैं। अयोध्या में राजा राम की ८०० और लक्ष्मण की १३०० रानियां कही गई हैं। रावण की ८०० रानियां थीं। शूपनखा का नाम चन्द्रनखा दिया है और उसके पति का खरदूषण। हनुमान का विवाह रावण की भांजी अनंगकुसुमासे हुआ था।

कथा का अन्त जैन कल्पना के अनुसार मोड़ दिया गया है। सीता अग्नि परीक्षा में सफल होकर जैन दीक्षा ले लेती है और बाद में स्वर्ग को प्राप्त करती है। सीता के पुत्रों के नाम लवण और अंकुश बताये गये हैं। लक्ष्मण मर कर नरक में जाते हैं क्योंकि रावण का वध इन्हीं के हाथों हुआ। राम अहिंसा व्रतधारी थे। वे दीक्षा ले लेते हैं और साधना करके मोक्ष पाते हैं।

---

१ शम्भूनाथ सिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ १६४-१६५

राजा श्रेणिक की शंकाओं का समाधान करते हुए गणधर गौतम ने यह राम कथा सुनाई है। कुछ-एक अवान्तर कथाएं भी हैं। कथानक रोचक और सुन्दर है। कथांश की अपेक्षा वर्णन कम है। प्रारम्भ में विद्याधर-लोक, राक्षस-वंश तथा वानर वंश का वर्णन है। बीच-बीच में नगर, नदी तालाब आदि के वर्णन हैं। कहीं कहीं उपदेश भी मिल जाते हैं। भाषा में सरसता, ओज और प्रवाह है। महाराष्ट्री प्राकृत के अतिरिक्त संस्कृत और अपभ्रंश रूप भी यत्र-तत्र आ गए हैं। कवि की शैली महाकाव्य की है। गाथा छन्द का अधिकतर प्रयोग हुआ है। छन्द, अलंकार और रस की विविधता और सफल योजना से ज्ञात पड़ता है कि ग्रन्थकार अच्छे शिल्पी और पण्डित थे। ग्रंथ का विस्तार ११८ उद्देशों (अध्यायों) के अन्तर्गत १००० से कुछ अधिक पद्यों में हुआ है।[1]

वसुदेव हिण्डी

इसमें यादव नरेश कृष्णजनक वसुदेव के भ्रमण की कथा वर्णित है। कथा के उपक्रम का आधार मुख्यरूप से 'हरिवंश' है। कौरव–पाण्डवों की कथा गौण है जिसका आधार महाभारत है। शैली में बृहत्कथा का प्रभाव स्पष्ट है। कथा का विभाजन मुख, प्रतिमुख, शरीर आदि में हुआ है। प्रधान कथा के साथ अनेक अन्तर्कथाएं गुम्फित हैं जिनमें तीर्थंकरों और अन्य शलाका पुरुषों के चरित वर्णित हैं। कृष्ण को अरिष्टनेमिका समकालीन बताया गया है। ऋषि मुनि विद्याधर देवी-देवता आदि की कथाएं भी संक्षिप्त हैं। बाद में इन कथाओं के आधार पर स्वतन्त्र ग्रंथों की रचना होती रही है।

इसका विस्तार १०० लम्भकों में हुआ है। अधिकांशतः गद्य का प्रयोग हुआ है कहीं-कहीं पद्य मिल जाते हैं। शैली प्राय सरल है, पर वर्णनों में लम्बे-लम्बे समास प्रयुक्त हुए हैं। इसीसे ये वर्णन काव्यात्मक होते हुए भी क्लिष्ट हैं। कथांश अवश्य सरल और रोचक है। यह ग्रंथ भी महाराष्ट्री में है। इसका पूर्व भाग संघदास गणि ने और उत्तर भाग धर्म सेन गणि ने लिखा। कृति का उल्लेख जिनभद्र हरिभद्र तथा मलयगिरि ने किया है। इससे इसका रचना काल ७ वीं सदी से पूर्व निश्चित होता है।

शलाका-पुरुष-चरित राम और कृष्ण के चरितों के अतिरिक्त तीर्थंकरों के चरितों में कोई विशेष साहित्यिक गुण नहीं मिलते। उनमें शीलाचार्य (शीलांक सूरी) कृत चउप्पन-महापुरिस-चरियं एक विशाल ग्रंथ है। इसमें ५४ शलाका पुरुषों का चरित वर्णित है। ९ प्रतिवासुदेवों को वासुदेवों के साथ ही गिना गया है। बाद में इन्हें अलग मानकर अपभ्रंश में ६३ शलाका पुरुषों पर चरित काव्य लिखे गए हैं। इसका रचना काल ८६८ ई० निर्धारित है। 'आदि नाथ चरियं' वर्धमान का विशालग्रंथ है जिसमें ११० ० गाथाएं हैं। इसमें पांच प्रस्तावों के अन्तर्गत ऋषभदेव का जीवन चरित दिया गया है। उसकी रचना तिथि सन् ११०३ ई० है। ११०४ ई० की एक कृति

---

1 हरदेव बाहरी : प्राकृत और उसका साहित्य–पृ० ६५ ६६

'पृथ्वी चन्द्रचरित' है जिसमें ७५०० पद्य हैं। इसके रचयिता शांतिसूरि थे। १२ वीं सदी ही में आचार्य हरिभद्र हुए हैं। उन्होंने संस्कृत प्राकृत और उपभ्रंश में कई ग्रंथ लिखे। इनकी 'प्राकृत-कृतियां मल्लिनाथ चरित्र' (३ प्रस्ताव) तथा 'चन्द्र प्रभचरित्र (८००० पद्य) हैं। इनके प्राकृत चरित काव्यों में कवित्वपूर्ण और साहित्यिक कोटि के वर्णन प्राप्त होते हैं परन्तु इससे अधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ उत्तर काल में गुणचन्द्र -कृत 'महावीर चरित' और 'सोमप्रभाचार्यकृत' सुमतिनाथ चरित (लगभग ११९० ई०) उल्लेखनीय हैं। यही सोमप्रभ 'कुमारपाल-प्रतिबोध' क रचयिता थे।

'सुपासणाह-चरिय' में सातवें तीर्थंकर श्री पार्श्व के अनेक जन्मों की कथाएं वर्णित हैं। जैन धर्म की व्याख्या में अनेक उपकथाएं दी गई हैं जिनमें स-कुल प्रेम और आश्चर्य से ओतप्रोत हैं। गाथाओं की संख्या ८००० हैं। जिनमें ९८ पद्य अपभ्रंश के भी हैं। शैली अच्छी है। शब्द और अर्थ अलंकारों का सफल निर्वाह हुआ है। भाषा अलंकृत है और अभिषेकादि के वर्णनों में विशेषतः चमत्कार पूर्ण हो गई है।

'महावीर-चरित' की वर्णन शैली भी इसी प्रकार की है। इसका विशेष गुण इसकी शुद्ध और व्याकरण सम्मत प्राकृत है। काव्य की दृष्टि से भी यह सफल कृति है। कुछ नये शब्दों का प्रयोग इसमें पहली बार हुआ है। अलंकारों का बाहुल्य है। वर्णनों में कालिदास और बाणभट्ट की छाया झलकती है। कई वाक्य तो ऐसे लगते हैं कि संस्कृत से रूपान्तरित कर लिये गए हों। गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक सरस है। ग्रन्थ में आठ 'प्रस्ताव' हैं।

'सुमतिनाथ-चरित' में प्रधान वर्णन के साथ-साथ जैन धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या कथाओं के माध्यम से की गई है। इसमें ९५०० पद्य हैं।

चक्रवर्तियों की जीवन-गाथाओं में श्रीचन्द्रकृत 'सनत्कुमार चरित' प्रसिद्ध है। इसमें ८१२७ पद्य हैं। सनत्कुमार का हरण, वन-भ्रमण नाना कष्ट-सहन, अनेक विद्याधरियों से विवाह, सफलता आदि के वर्णन सुन्दर हैं।

'कुमारपाल-चरित', यह ग्रन्थ २८ सर्गों में प्राप्त है। प्रथम बीस सर्ग संस्कृत में और अन्तिम आठ सर्ग प्राकृत तथा अपभ्रंश में हैं। इसीलिये इसका दूसरा नाम 'द्वयाश्रय महाकाव्य' है। प्राकृत भाग में एक और दोहरे उद्देश्य का निर्वाह करने की चेष्टा की गई है—कुमारपाल के चरित का वर्णन करने के साथ-साथ यही पद्य प्राकृत व्याकरण के नियमों के उदाहरणों का काम भी देते हैं। ये नियम तो उनकी दूसरी कृति 'सिद्ध-हेम' में हैं और उदाहरण यहां पर दिये गए हैं। इससे कथा के विकास में तो कोई विघ्न नहीं पड़ता, पर शैली बड़ी कृत्रिम और बोझिल हो गई है।

कुमारपाल का परिचय 'कुमारपाल-प्रतिबोध' के सम्बन्ध में पहले दिया जा चुका है। आचार्य हेमचन्द्र उनके गुरु थे। 'कुमारपाल-चरित' उन्हीं आचार्य की कृति है। हेमचन्द्र अपने समय के सबसे बड़े विद्वान थे। उन्होंने टीका-ग्रन्थ, कोष व्याकरण, काव्य, प्रबन्ध आदि अनेक प्रकार की रचनाएं कीं। वे कलिकाल सर्वज्ञ'

पहले मूलश्री अपना अनुभव सुनाने लगे — एक बार मैं अपने सिर पर गंगा उठाये शिवपुरी को चला। कमण्डलु और छत्र लिये मैं जा रहा था कि एक मत्त हाथी मेरे पीछे पड़ गया। मैं कमण्डलु में घुस गया, तो हाथी मेरे पीछे-पीछे घुस आया। छः महीने वह मेरे पीछे भागता फिरा। अन्त में मैं कमण्डलु की टोंटी से बाहर निकल गया पर हाथी की पूंछ उसमें फंस गई। मैं शिवपुरी पहुंचा। वहां पर छः महीने मैंने गंगा को अपने सिर में धारण किये रखा और फिर उज्जयिनी आ गया।

इस प्रकार की कथाएं हर एक ने सुनाईं और दूसरों ने पुराणादि से उन्हें सत्य सिद्ध कर दिया। लगभग ५० पौराणिक कथाएं इसमें प्रमाण के रूप में आई हैं। शैली सरस और प्रवाहयुक्त है और अलंकारों के बोझ से दबी नहीं है।

इसके रचयिता भी 'समराइच्च-कहा' के लेखक आचार्य हरिभद्र सूरि हैं। इस कृति का मूल उद्देश्य ब्राह्मण धर्म पर व्यंग करना है और निस्संदेह यह एक सफल रचना है।

आख्यानक-प्रकरण—इसमें ४१ कथाएं और ४-५ उपकथाएं संगृहीत हैं। इनमें ११ कथाएं साधुओं को दान देने के फल पर हैं। अन्य में जिन-पूजा धर्मोत्साह धर्म-फल इत्यादि विषयों का स्पष्टीकरण किया गया है। कुछ-एक कहानियां अति संक्षिप्त हैं। वर्णनों में तत्कालीन समाज राजनीति आचार-व्यवहार जनस्वभाव आदि का परिचय मिल जाता है। कहानियों में सिंहकुमार की कथा मनोरथ श्रावक की कथा पार्श्व श्रावक की कथा यक्षों की कथाएं कुन्तला रानी का आख्यान और वणिक पुत्र का वृत्तान्त साहित्यिक दृष्टि से उत्तम हैं। कल्पना और रस का सफल निर्वाह हुआ है। भाषा सरल और सुबोध पद्यमय है जहां-तहां संस्कृत के पद्य बिखरे हुये हैं। वर्णन-शैली प्रवाहयुक्त है। समास कम हैं और शब्दाडम्बर का अभाव है। भावों की मौलिकता इस कृति की एक और विशेषता है।

इसकी रचना सन् ९११ ई० में आचार्य जिनेश्वर ने की। वे आयुर्वेद संगीत नाट्य शास्त्र अर्थ शास्त्र आदि के पंडित थे। उनके संस्कृत और प्राकृत में कई एक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। अन्य प्राकृत ग्रन्थ धार्मिक हैं और उनमें साहित्यिक अंश नहीं के बराबर हैं।

कथामहोदधि — 'कथा-कोष' के ढंग के अनेक कथा-संग्रह प्राकृत और अपभ्रंश में उपलब्ध हैं। इनकी कुछ कथाएं तो सामान्य रूप से इधर-उधर अन्य धर्म कथा ग्रंथों में भी मिल जाती हैं पर अधिकतर मौलिक जान पड़ती हैं। ऐसे कथा-संग्रहों में सोमचन्द्र कृत कथा महोदधि उल्लेखनीय है। इसमें १५७ कहानियां हैं कुछ संस्कृत में और कुछ अपभ्रंश में। प्राकृत कथाओं की शैली रोचक और सरस है।

विजयचन्द्र चरित—इसमें जिन पूजा का फल दिखाने के लिए आठ कथाएं हैं। रचनाकार चन्द्रप्रभ महत्तर और रचना-काल सन् १०७० ई० निश्चित है।

ज्ञान पञ्चमी कथा— इसमें दस कथाएं हैं-जयसेण-कहा, नंद-कहा, भद्दा कहा वीर-कहा कमला-कहा, गुणाणुराम कहा, विमल-कहा, धरण-कहा देवी-कहा तथा भविस्सयत्त कहा। प्रत्येक कथा ज्ञान पञ्चमी व्रत के माहात्म्य के दृष्टान्त के रूप में लिखी गई है। सबका अन्त एकसा है जिससे कथा की सरसता नष्ट हो जाती है, पर शेष कथा-भाग प्राय अच्छा बन पड़ा है। प्रथम और अन्तिम कथाएं लम्बी हैं— लगभग ५ ५ सौ गाथाओं में अन्य कथाएं १२५ १२५ गाथाओं में समाप्त की गई हैं। गाथाओं की कुल संख्या २००४ है।

कृति का रचनाकाल निर्धारित नहीं किया जा सका। इसके रचयिता महेश्वर सूरी, जैसा कि 'ज्ञान पञ्चमी-कथा' से स्पष्ट है बड़े प्रतिभाशाली और भाषा प्रभुत्ववान कवि थे। कथाओं की वर्णन-शैली सरस और भावयुक्त है। इनकी भाषा सुललित और सरस महाराष्ट्री है। जगह—जगह सूक्तियां और ललित पद्यावलियां भरी पड़ी है। वर्णन कवित्वपूर्ण हैं।

'विजयचन्द्र केवलिन्'—इसमें गाथाओं की संख्या १०६३ है जिसमें आठ प्रकार की जिन-पूजा का माहात्म्य आठ कथाओं में वर्णित किया गया है। इस प्रकार जयसुर राजा की कथा का विषय गंध-पूजा विनयंधर की कथा का धूप-पूजा कीर युगल की कथा का अक्षत-पूजा वणिक सुता लीलावती की कथा का पुष्प-पूजा, जिनमती की कथा का दीप-पूजा हली पुरुष की कथा का नैवेद्य-पूजा दुर्गा की कथा का फल-पूजा और वीर प्रसुता की कथा का विषय जल-पूजा है। अन्त में एक अवशिष्ट कथा है। भाषा अवश्य सरस है, परन्तु भाव चरित्र, कथा गठन आदि की दृष्टि से कृति का साहित्यिक महत्व कम है। इसकी रचना सन् १०७ ई० में अभयदेव सूरि के शिष्य चन्द्रप्रभ महत्तरने की। ये पूर्वी प्रदेश के रहने वाले जान पड़ते हैं। इनकी महाराष्ट्री में मागधी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

तरंगवती—इस नाम की प्रेम-कथा का उल्लेख 'अनुयोगद्वार सूत्र', 'कुवलय माला', तिलकमंजरीआदि ग्रन्थों में हुआ है। मूल कृति नहीं मिलती। इसका संक्षेप १६४३ पद्यों में 'तरंगलोला' नाम से उपलब्ध है। 'तरंग-लोला' के सम्पादक नेमिचन्द्र का कहना है कि 'तरंगवती' बहुत बड़ा ग्रंथ था और इसकी कथा अद्भुत थी। तरंगवती एक रूपवती स्त्री है जिसे सरोवर में हंस-मिथुन को देखकर अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया जब कि वह स्वयं हंसिनी थी। उसके पति हंस को किसी व्याध ने मार डाला था। यह याद करके उसे मुर्च्छा आ गई। यहीं से प्रेम और विरह की जागृति होती है। सचेत होने पर वह अपने प्रियतम की खोज में निकल पड़ी। अनेक विपत्तियां सहने के बाद उसे अपने इष्ट की प्राप्ति होती है। वह और उसका प्रेमी विवाह-बंधन में बंधते हैं और अन्त में एक जैन-मुनि के उपदेश से जैन-धर्म में प्रवेश करते हैं।

कथा उत्तम पुरुष में वर्णित है। इसमें करुण-शृंगारादि अनेक रसों प्रेम की विविध परिस्थितियों, चरित्र की ऊंची-नीची अवस्थाओं, बाह्य और अन्तर्संघर्ष का

स्थितियों का बहुत स्वाभाविक और विशद वर्णन किया गया है। काव्य चमत्कार अनेक स्थलों पर मिलता है। भाषा प्रवाहपूर्ण और साहित्यिक है। देशी शब्दों और प्रचलित मुहावरों का अच्छा प्रयोग हुआ है।

'तरंगवती' के रचयिता पालित्त (पादलिप्त) सूरि थे। उनका जन्म कोशल में हुआ था। पहला नाम नागेन्द्र था साधु हो जाने पर पादलिप्त हुआ। वे जैन धर्म के एक प्रसिद्ध आचार्य थे और आंध्र नरेश हाल की राजसभा में सम्मानित कवि थे। एक किंवदंति के अनुसार वे उज्जयिनी के राजा विक्रम के समकालीन थे। विद्वानों ने इनका जीवन-काल ५ वीं सदी से पूर्व निश्चित किया है।[1]

सुरसुन्दरी चरियं

सुरसुन्दरी चरित' १६ परिच्छेदों में विभक्त एक प्रेम-कथा है। प्रत्येकपरिच्छेद में २५० पद्य हैं और इस प्रकार चार हजार पद्य हैं। *कथा का संगठन मूल कथा के* साथ अवान्तरकथाओं का सम्बन्ध और गुम्फन, मानसिक स्थितियों कास्वाभाविक वर्णन वातावरण की सुन्दर सृष्टि चरित्रों क मनोवैज्ञानिक विकास इत्यादि अनेक औपन्यासिक गुण इसकृति में विद्यमान हैं।

आलोचकों ने इसे सरस और काव्य गुण सम्पन्न रचना माना है। रसों की विविधता में कवि ने बड़ा कौशल दिखाया है। शान्त रस प्रधान है। विषयों की विविधता से भी ग्रंथ परिपूर्ण है—कहीं सूर्योदय वसन्त वन सरोवर, नगर राजसभा युद्ध, विवाह, विरह मूर्च्छा आदि का वर्णन है तो कहीं धर्म आचार अहिंसा सत्य संन्यास पर उपदेश हैं और कहीं सुख दुःख नरक स्वर्ग संसार की असारता पर सुभाषित हैं। लाटानुप्रास यमक श्लेष आदि शब्दालंकारों के अतिरिक्त अर्थालंकारों का सुन्दर प्रयोग किया गया है। भाषा में प्रसाद गुण प्रधान है। संस्कृत अपभ्रंश और ग्राम्य भाषा के शब्द भी यदा-कदा मिल जाते हैं।

कथानक बहुत संक्षिप्त और सरल है। धनदेव सेठ एक दिव्य मणि की सहायता से चित्रवेग नामक विद्याधर को नागों के पाश से छुड़ाते हैं। विद्याधर सुरसुन्दरी और अपने प्रेम विरह और मिलन की आशा निराशामयी कथा सुनाता है।

यह ग्रंथ कवि ने अपनी बहन कल्याणमती के कहने पर सरस प्राकृत में लिखा है। कवि का नाम साधु धनेसर (धनेश्वर) दिया गया है। इस नाम के ६-७ जैन-लेखक हुए हैं। ग्रंथ में प्राप्त एक सूचना के अनुसार यह धनेश्वर 'कथाकोशप्रकरण' के रचयिता जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे जिन्होंने चन्द्रावती नगर में सन् १०३८ ई० में ग्रंथोत्थान की रचना की थी।

कालकाचार्य-कथानक

यह एक लघु कथा है जिसमें १४५ पद्य और शेष गद्य हैं। कथानक बहुत ही सरल और छोटा है। राजकुमार कालक की छोटी बहन सरस्वती को उज्जियिनी नरेश गर्दभिल्ल भगा ले जाता है। कालक लोगों में गर्दभिल्ल के विरुद्ध विद्रोह उत्पन्न

---

१ रामसिंह तोमर—आलोचना—अंक ८, पृ० ५१

करते हैं। वे शक-कुल के राजा को उकसाते हैं और उसकी सहायता से उज्जयिनी पर आक्रमण कर देते हैं एवं अपनी बहन को छुड़ा लाते हैं। बाद में वे साधु हो जाते हैं और जैन धर्म के आचार्य होकर प्रसिद्धि पाते हैं। हो सकता है कि इस कथानक में कोई ऐतिहासिक सत्य हो। कृति की शैली अलंकृत और कवित्वपूर्ण है विशेषत नगर वर्णन आदि में। इसका रचना काल १० वीं शती निर्धारित किया गया है।

भुवन-सुन्दरी

इस नाम का एक प्रेमाख्यान विजय सिंह द्वारा लिखा हुआ मिलता है। कथा में कोई विशेषता नहीं है। रचना-तिथि ९१७ ई० निश्चित है।

मलय-सुन्दरी कथा

इसमें राजकुमार महाबल और मलय सुन्दरी की प्रेम कथा, उनके अनेक बार बिछुड़ने और मिलने तथा अन्त में साधु हो जाने का वर्णन है। घटनायें जटिल और आश्चर्य पूर्ण हैं। कृतिकार का पता नहीं चल सका पर इसका रचना-काल १४ वीं शती से पहले निर्धारित किया गया है।

सिरिसिरिवाल-कहा

इस कथा का उद्देश्य सिद्धचक्रपूजा का माहात्म्य प्रदर्शित करना है। राजकुमार श्रीपाल अपने चाचा से सताया हुआ भाग गया और कोढ़ियों के बीच में पड़कर कोढ़ी हो गया। एक राजा अपनी पुत्री मदन सुन्दरी से क्रुद्ध था उसने उसका विवाह श्रीपाल कोढ़ी से कर दिया। रास्ते में एक साधु मुनिचन्द्र ने उन्हें सिद्ध चक्र की नवपद-पूजा का उपदेश दिया। भ्रमण करते हुए राजकुमार को कुछ रासायनिक मिले उनसे सोना पाकर और एक सिद्ध से 'जलतारिणी' तथा परशस्त्रनिवारिणी नाम की तांत्रिक जड़ियाँ पाकर वह आगे चला।

कौशाम्बी का एक बनिया, धवल, धनोपार्जन के लिए कहीं जा रहा था। उसके जलयान फँसे थे। श्रीपाल ने नवपदध्यान से उसका बेड़ा पार किया और समुद्र यात्रा पर चल पड़ा। रास्ते में उसने बब्बर कन्या मदनसेना से विवाह किया। फिर वह दोनों पत्नियों को लेकर रत्नद्वीप पहुँचा, वहाँ चक्रेश्वरी देवी की आज्ञा से विद्याधरी मदनमंजूषा से विवाह किया। धवल ने उसे मारकर उसकी पत्नियों को वश में करने की चेष्टा की। श्रीपाल को समुद्र में गिराया गया पर वह बचकर कोंकण पहुँचा और वहाँ की राजकुमारी मदनमंजरी से विवाह किया। पीछे उसकी वे पत्नियाँ चक्रेश्वरी देवी की सहायता से अपने सतीत्व की रक्षा करती हुई धवल के साथ वहाँ पहुँची। धवल ने कई षड्यन्त्र किए और अन्त में जान गंवाई। श्रीपाल परिवार का सुख भोगने लगा।

आख्यान की शैली प्राय सरल और सरस है। अलंकारों का जहाँ-जहाँ प्रयोग हुआ है बड़े स्वाभाविक ढंग से हुआ है। स्तुति और वर्णन में लम्बे-लम्बे समास प्रयुक्त है। गद्य और पद्य की भाषा में अन्तर है। प्राय महाराष्ट्री का प्रयोग हुआ है। कुछ

एक पर्वों में अपभ्रंश है। इसके रचयिता रत्नशेखर सूरि १४ वीं शती के उत्तरार्ध में हुए हैं।

रयणसेहर-कहा

जायसी-कृत 'पदमावत' का पूर्व-रूप 'रत्नशेखर' कथा है। रत्नशेखर रत्नपुर नगरी का राजा है, जो सिंहल की राजकुमारी रत्नवती का रूप-वर्णन सुनकर व्याकुल हो उठता है। कहा गया है कि इन दोनों का प्रेम जन्म-जन्मान्तर से था। राजा रत्नशेखर अपने मन में बिठाई मूर्ति की खोज में निकल पड़ता है और सिंहलद्वीप जाता है। उधर रत्नवती में भी प्रेम जागृत होता है। वह कामदेव की पूजा के लिए मंदिर में जाती है। वहीं रत्नशेखर विद्यमान है। दोनों की भेंट होती है। बाद में दोनों को बड़े-बड़े कष्ट सहन करने पड़ते हैं। अन्त में उनका विवाह हो जाता है।

भाषा-शैली सरस है। गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। लोकविश्वासों का चित्रण विशद ढंग से हुआ है। ग्रंथकार जिनहर्षगणि बड़े अनुभवी और पंडित जान पड़ते हैं। उनके रचना कौशल का भी पर्याप्त प्रमाण मिलता है। कृति की रचना चित्रकूट (चित्तौड़) में १५ वीं शती के अन्त में हुई, ऐसा अन्तर्साक्ष्य से सिद्ध होता है।[1]

जैनों ने इन कथा-आख्यायिकाओं के अतिरिक्त उपदेश देने के लिए अनेक कथाओं का प्रणयन और सम्पादन किया। इनमें धर्म आचार और नीति सम्बन्धी सूक्तियों और उपदेशों की प्रधानता है। दृष्टान्त के लिये स्थान-स्थान पर अवान्तर कथाएं भी मिल जाती हैं। इस प्रकार की प्रमुख रचनायें निम्न हैं।

कुवलयमाला कथा

इसमें क्रोध मान, माया मोह आदि विषयों का परिणाम दिखाने के लिए कथाओं का संग्रह किया गया है। कथाओं की शैली रोचक है, विषयों की विविधता सराहनीय है भाषा सरस और चलती हुई है और उपदेशों के कथन का ढंग रोचक है। ग्रंथ में प्रसंगवश अनेक प्राकृत कवियों और कथाओं का उल्लेख हुआ है, जिससे भाषा और साहित्य के इतिहास की खोज में बड़ी सहायता मिल सकती है। कुछ सामाजिक तथ्य भी उपलब्ध होते हैं। हूणराज तोरमाण की लूटमार का उल्लेख तत्कालीन राजनीतिक दशा पर प्रकाश डालता है। भाषा महाराष्ट्री है। यत्र-तत्र अपभ्रंश और पैशाची का भी प्रयोग हुआ है। इस उपदेश-कथा-ग्रंथ के रचयिता उद्योतन सूरि ८ वीं शती ईसवी के उत्तरार्ध में हुए हैं। कृति के अन्त में सूचित किया गया है कि इसकी समाप्ति जाबालिपुर में शकाब्द ७०० में हुई। उद्योतन सूरि हरिभद्र वीरभद्र के शिष्य थे। उनकी शैली में हरिभद्र का प्रभाव लक्षित होता है।

उवएस माला

धर्मदासगणि कृत 'उपदेश माला' बहुत प्रसिद्ध और आदृत ग्रंथ है। इसमें साधुओं और गृहस्थों के लिए अनेक नैतिक शिक्षाएं हैं एवं ज्ञान-ध्यान, तप-संयम,

1 हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य, पृ० ६९-६५

दान दया अहिंसा, विनय-शालीनता विवेक अपरिग्रह अनासक्ति आदि सद्गुणों पर सुबोध और सुरम्य उपदेश है। जैन संघ में दीक्षित भिक्षु-भिक्षुणियां इसे कंठस्थ कर लेती हैं। मूल गाथाओं की संख्या ५४१ है। टीका के रूप में कथाओं का समावेश किया गया है। जैन मान्यता के अनुसार धर्मदास महावीर स्वामी के समकालीन थे पर अन्तर्साक्ष्य के आधार पर विद्वानों का कहना है कि वे चौथी-पाँचवीं शती के जान पड़ते हैं।[1] ग्रंथ की रचना उसने अपने पुत्र रणसिंह के लिए की।[2]

'उवएस माला' पर कई टीकायें ६ वीं सदी की प्राप्त हैं।

इसके अनुकरण में हरिभद्र सूरि ने 'उपदेशपद प्रकरण' नाम से एक धर्मोप देशग्रंथ की रचना की, परन्तु उसकी उतनी प्रतिष्ठा नहीं है।[3] इसको वस्तुतः, साहित्यिक कृति कहना अन्याय होगा क्योंकि इसकी शब्द योजना नितान्त दुरूह है और इसकी शैली असाधारण पांडित्यपूर्ण है।

धर्मोपदेशमाला विवरण

यह एक संग्रहग्रंथ है जिसमें धर्म नीति शुभाशुभफल सद्गुण महिमा दुर्गुण निन्दा इत्यादि अनेक विषयों पर सूक्तियाँ और इनकी व्याख्या में १५६ कथाएं उद्धत की गई हैं। उदाहरणार्थ शील की व्याख्या के लिए राजमती-कथा भाव के लिए इलापुत्र कथा राग और द्वेष का परिणाम दिखाने के लिए क्रमशः वणिक-तनय-कथा तथा नाविक नन्दन कथा दान का माहात्म्य दिखाने के लिए शालिभद्र-कथा, इसी प्रकार चाणक्य कथा ब्रह्मदत्तचक्रि कथा वैशिगमदत्त-कथा इत्यादि। इन कथाओं में जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र से पात्र लिए गए हैं—महापुरुष सम्राट सम्राज्ञियाँ राजकुमारियाँ साधु सेठ बनिया मूर्ख दुर्जन जुआरी, शराबी सभी तरह के लोग। इनका चरित्र-चित्रण बड़ी स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक और स्पष्ट रीति से किया गया है। अनेक देशों नगरों नदियों सरोवरों और प्राकृतिक दृश्यों के विशद वर्णन दिये गए हैं। शृंगार वीर करुण आदि रसों और वक्रोक्ति व्याजोक्ति अन्योक्ति दृष्टान्त रूपक उपमा आदि अलंकारों के अनेक उदाहरण बिखरे पड़े हैं। मनोविज्ञान की अनेक बातों का उल्लेख हुआ है। कहीं-कहीं सामाजिक और ऐतिहासिक महत्व की सामग्री भी मिल जाती है।

यह ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। भाषा गद्य-पद्य मिश्रित है। गाथाएं बहुधा गद्य में हैं। मूल गाथाओं के रचयिताओं के नाम नहीं दिये गये। संकलन कर्ता और कथा-लेखक जयसिंह सूरि (कृष्ण मुनि के शिष्य) बताए गए हैं, जिनकी अपनी सूचना के अनुसार ग्रंथ की रचना सम् ८५८ ई० में हुई।

---

१ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य पृ० ५४

२ भगवतशरण उपाध्याय विश्व साहित्य की रूप रेखा, पृ० ५०३

३ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य पृ० ५४

४ भगवतशरण उपाध्याय विश्वसाहित्य की रूप रेखा, पृ० ५०३

कुमारपाल प्रतिबोध

इसमें सोमप्रभाचार्य ने वे शिक्षाएं संग्रहीत की हैं जो समय समय पर आचार्य हेमचन्द्र ने कुमार पाल को दी थीं। कुमारपाल पाटन के प्रसिद्ध चालुक्यराज मूलराज की ८ वीं पीढ़ी में हुए। वे बड़े वीर बुद्धिमान और उदार राजा थे। उन्होंने, यह जानने के लिए कि कौन सा धर्म अच्छा है विद्वानों की अनेक सभाएं बुलाईं पर उन्हें सन्तोष न हुआ। तब उसके मन्त्री ने जैनाचार्यों की प्रशंसा करते हुए सोमचन्द्र (जो बाद में हेमचन्द्र नाम से प्रसिद्ध हुए) से शिक्षा पाने की प्रेरणा दी। मूल कथा इतनी है कि हेमचन्द्र के उपदेश सुनकर राजा धीरे धीरे जैनधर्म में दीक्षित हुए। इन्होंने कई मन्दिर सत्रागार चैत्य और विहार बनवाये कई तीर्थ यात्राएं कीं इत्यादि इत्यादि। इस पुस्तक का दूसरा नाम 'जैन धर्म प्रतिबोध' है जो मुख्य नाम की अपेक्षा अधिक सार्थक है क्योंकि उसका उद्देश्य पंच महाव्रतों एवं पूजा कर्तव्य पालन गृहस्थों के १२ व्रतों और विषय-विकारों के सम्बन्ध में उपदेश संग्रह करना है। दृष्टान्त रूप में ५८ कथायें कही गई हैं—जैसे जुए के विषय में 'नल चरित' परस्त्री गमन के विषय में प्रद्योत कथा वेश्या व्यसन के विषय में 'अशोक कथा' मद्यपान के बारे में 'द्वारिकादहन कथा' परधन हरण पर 'वरुणकथा', गुरु सेवा के विषय में 'लक्ष्मीकथा' शीलव्रतपालन में 'शीलवती कथा' मृगावती का वृत्तान्त, तप के बारे में 'रुक्मिणी कथा' इत्यादि।

ग्रंथ की भाषा सरल और सरस है। पांच प्रस्तावों में से अन्तिम में संस्कृत का भी प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश के उदाहरण भी मिल जाते हैं। पद्य अधिक हैं गद्य कम। इसमें ऐतिहासिक सामग्री बहुत नहीं पर धार्मिक और साहित्यिक दृष्टि से इसका महत्व स्वीकार किया गया है।

सोमप्रभाचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे और अन्हिलपुर गुजरात में रहते थे। कई भाषाओं के पण्डित थे। इन्होंने स्वयं इस कृति का रचना-काल सं० १२४१ बताया है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'वज्जसहावपयास' 'द्रव्यस्वभाव प्रकाश' जिसका दूसरा नाम 'बृहद् नयचक्र' है (१० ० ई०) 'भावाकोष (११० ई०) 'भवर्वैराग्यशतक' (१२०० ई०) 'भाषा सहस्त्री (११४ ई०) उपदेशों और नीति-शिक्षाओं के विख्यात संग्रह हैं। पर इनमें दृष्टान्त प्रायः नहीं हैं और जो हैं भी वे अतिसंक्षिप्त विरल हैं।[1]

प्राकृत की साहित्यिक रचनायें

कुछ वर्ष पहले तक यह समझा जाता था कि प्राकृत जैन भाषा है और इसमें जैन-धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। परन्तु आधुनिक अन्वेषणों ने प्राकृत की साहित्य-सम्पत्ति को बाहर लाकर दिखाई तो सहृदय जन गद्गद् हो उठे। अब

---

१ डा० हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य पृ० ५६

जो लौकिक साहित्य प्रकाश में आया है तो उसमें सेतुबन्ध, 'गौडवहो,' 'गाथासप्तशती 'वज्जालग्ग' प्रभृति एसे देदीप्यमान ग्रन्थ-रत्न मिले जिनकी प्रभा ने बड़े-बड़े पण्डितों को चकाचौंध कर दिया है। प्राकृत काव्यों की सरसता और मधुरता को सभी आलोचकों और आचार्यों ने स्वीकार किया है।

ये काव्य प्राय महाराष्ट्री में हैं। इनके दो वर्ग किये जा सकते हैं—प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्यों में महाकाव्य भी हैं, खण्ड काव्य भी। महाकाव्यों में आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट सभी गुण विद्यमान हैं। कथा के संगठन का कौशल, शैली का अलंकरण, प्रकृति के दृश्यों का संश्लिष्ट वर्णन शब्दों का कलापूर्ण चयन, अर्थ-गाम्भीर्य आदि महाकाव्य की सारी विशेषताएं इनमें भरी हैं। एक बात ध्यान देने योग्य है। इसी अध्याय में वर्णित जैन प्रबन्धों को भी लौकिक काव्यों की कोटि में लिया जा सकता है। उन प्रबन्धों पर अद्भुत झीना सा आवरण धार्मिकता का है। कथावस्तु प्राय लौकिक है कभी-कभी अर्द्धेतिहासिक है। केवल अन्त में प्रधान पात्रों का जैन धर्म की ओर प्रवृत्त हो जाना उन्हें नितान्त धार्मिक नहीं बना देता। हमें तो जैन-कथा 'लीलावई' और लौकिक कथा 'सुरसुन्दरी की शैली और प्रबन्धात्मकता में विशेष अन्तर दिखाई नहीं देता। हम हेमचन्द्रकृत 'कुमारपाल चरित' को लौकिक साहित्य की संज्ञा से वंचित करने में संकोच का अनुभव करते हैं। इस तथ्य की दृष्टि से प्राकृत का प्रबन्ध-काव्य बड़ा विशाल है।[1]

प्राकृत का मुक्तक काव्य भी हमारे साहित्य का परम रमणीय अंग है। इसकी परम विशेषता यह है कि इसमें लोक-जीवन के विविध पटलों की स जीव अभिव्यक्ति हुई है। संस्कृत में जो कल्पना और आचार्यत्व का प्राधान्य था वह प्राकृत के मुक्तक पद्यों में नहीं है। इनमें अनुभूति और कल्पना का सुन्दर सामंजस्य है। सत्य और सुन्दर, जीवन और काव्य का सम्मिश्रण है। इसीसे इनमें मार्मिकता अधिक है। इनमें रागात्मक वृत्तियों का विकास स्वाभाविक ढग से हुआ है। इनका अधिकतर वर्ण्य विषय शृंगार नीति, धर्म तथा प्राकृतिक सौन्दर्य है। वीर, रौद्र अथवा भयानक रस के लिए इनमें प्राय स्थान नहीं है। प्राकृत मुक्तकों का-सा साहित्य, माधुर्य और उल्लास अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी-सी व्यंग्यार्थ की सुन्दरता सर्वत्र नहीं मिलती।

बड़े-बड़े सुन्दर गीत प्राकृत और संस्कृत के नाटकों में आए हैं। इनका अलग से अभी संकलन नहीं हुआ। कर्पूर मंजरी' और 'चन्द्रलेखा' सट्टक के प्रकृति—सम्बन्धी पद्य 'अभिज्ञानशाकुन्तल' 'प्रियदर्शिका 'मृच्छकटिक' तथा 'विक्रमोर्वशीय आदि के शृंगार रस-सिक्त गीत बहुत ही मनोहर हैं। इस अध्याय के उत्तरार्द्ध में हम नाटकेतर गीति—साहित्य की ही चर्चा करेंगे।

सेतुबन्ध या रावणवहो—संस्कृत में वाल्मीकि रामायण के बाद जिस तरह कालिदास के महाकाव्य शास्त्रीय शैली के मानदण्ड के रूप में मान्य हैं, उसी प्रकार प्राकृत में पउम चरिय के बाद प्रवरसेन का सेतुबन्ध या रावणवहो सर्वोत्कृष्ट शास्त्रीय

महाकाव्य है।[1] इसके १५ आश्वासों में से प्रथम आठ में नल-नील तथा वानरों द्वारा समुद्र पर सेतु बांधने का वर्णन है। दण्डी, बाण आदि ने 'सेतुबन्ध' अथवा 'सेतु' नाम से ही इसका उल्लेख किया है। उत्तरार्ध में रावण-वध तक की घटनाओं का वर्णन है। इसलिये इसका दूसरा नाम 'रावण-वध' भी उपयुक्त है। पुष्पिकाओं में 'दसमुहवह' 'दशमुख वध' नाम भी मिलता है। कथा का आधार वाल्मीकीय रामायण' का युद्ध काण्ड है। कथानक में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया। कथांश बहुत संक्षिप्त है। विरह-सन्तप्त राम हनुमान द्वारा सीता का समाचार पाकर लंका की ओर चल देते हैं। मार्ग में समुद्र की बाधा उपस्थित हो जाने के कारण रुक जाते हैं। यहीं पर विभीषण उनसे आ मिलते हैं। वानर-सेना समुद्र पर सेतु बान्धती है। सेतु बांधने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यहां पर कई अन्तर्कथाओं की कल्पना भी गई है। राम समुद्र पार करके लंका में प्रवेश करते हैं और रावण तथा कुम्भकर्ण आदि का वध करके सीता को छुड़ा लेते हैं। कथा का अन्त श्रीराम के अभिषेक के साथ ही हो जाता है।

कृति के पूर्वार्द्ध में समुद्र, पर्वत एवं सूर्योदय सूर्यास्त आदि बीसियों प्राकृतिक दृश्यों के बड़े सुन्दर और काव्यात्मक वर्णन हैं। कवि कल्पना की जितनी सराहना की जाय कम है। उत्तरार्द्ध में मानव प्रकृति के चित्रण में कवि की अनुभूति और गम्भीर एवं व्यापक दृष्टि का परिचय मिलता है।। राम के क्षोभ रावण की चिन्ता सीता के त्रास विभीषण की कृतज्ञता राक्षसों की हड़बड़ी इत्यादि मानवीय भाव नाओं का सूक्ष्म चित्रण किया गया है। वानर और राक्षस–सेनाओं तथा उनके बीच के संग्राम एवं द्वन्द्व युद्ध का वर्णन विस्तृत और चित्रमय ढंग से हुआ है। वीररस प्रधान है। अन्य रसों का भी यथास्थान समावेश हुआ है। दसवें आश्वास में कामिनी-केलि तथा राक्षसियों का संभोग वर्णन और उनके रूप-गुण-सौन्दर्य का चित्रण बहुत अनूठा है। सूक्तियों का तो यह ग्रन्थ भाण्डार ही माना गया है।

'सेतुबन्ध' की भाषा शुद्ध साहित्यक महाराष्ट्री है। परवर्ती कृतियों की अपेक्षा इसमें समासों का प्रयोग अधिक हुआ है। इस दृष्टि से इस पर तत्कालीन संस्कृत शैली का गहरा प्रभाव है। छन्द भी संस्कृत का अपनाया गया है और सम्पूर्ण कृति में एक ही छन्द आर्या' प्रयुक्त है। सर्ग के अन्त में छन्द बदलता नहीं है।

इस कृति का प्रभाव संस्कृत प्राकृत और अपभ्रन्श पर भी पड़ा है। इसके पीछे 'रावणवध 'गोड़वध शिशुपालवध' 'कंसवध' आदि अनेक प्रबन्ध लिखे गये। इस ग्रन्थ पर कई टीकाएं लिखी गई जिनमें अकबर के समय के रामदास की 'राम प्रदीप' प्रसिद्ध है।

'सेतुबन्ध' के रचयिता कौन थे और उन्होंने कब इसकी रचना की इसका अभी तक निर्णय नहीं हो सका। ग्रन्थ के शिखर में कहीं भी ग्रन्थकार का नाम नहीं मिलता हां सर्ग के अन्त में किसी-किसी पुष्पिका में प्रवरसेन का नामोल्लेख अवश्य

१ शम्भूनाथ सिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० १७०

हुआ है। दण्डी, बाणभट्ट, क्षेमेन्द्र आदि ने इसे प्रवरसेन की कृति माना है। दक्षिण के एक टीकाकार श्रीकृष्ण भी इसे प्रवरसेन की रचना मानते हैं। टीकाकार रामदास ने यह भ्रामक धारणा प्रचलित कर दी कि इसके रचयिता कालिदास थे। उनका कहना है कि विक्रमादित्य की आज्ञा से कालिदास ने इसे प्रवरसेन के लिए लिखा। किन्तु रामदास सैकड़ों वर्ष बाद में हुए हैं उनकी कल्पना का कोई आधार दिखाई नहीं देता। यह तो निश्चित है कि 'सेतुबन्ध' के लेखक प्रवरसेन थे। पर प्रवरसेन नाम से कई राजा हुए हैं—चार कश्मीर के और एक कुन्तल देश का। विद्वानों का मत है कि ये प्रवरसेन काश्मीर के राजा ही थे।[1] प्रवरसेन प्रथम का जीवनकाल १२१–१८१ ई० और अन्तिम प्रवरसेन का समय ४१५ से ४२० ई० तक बताया जाता है। डा० सुशील कुमार दे ने इस रचना को पाँचवीं शताब्दी की माना है।

हमारा मत यह है कि प्रवरसेन राजा इसके रचयिता नहीं थे। उनके किसी आश्रित कवि ने उनके नाम से इसे चला दिया होगा। प्रायः राजाओं के नाम से जो कृतियाँ हमारे साहित्य में उपलब्ध हैं वे उनकी क्रीत सम्पत्ति हैं।[2] कुछ भी हो यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है जिसकी प्रशंसा बाण और दण्डी दोनों ने की है।[3] प्रौढ़ और प्रसाद गुणयुक्त भाषा, उक्ति वैचित्र्य, प्रासंगिक वस्तु व्यापार वर्णन और प्रसाद गुण के कारण इसे रूढ़िमुक्त रससिद्ध शास्त्रीय महाकाव्य कहा जा सकता है।

गौडवहो—'गौडवध' एक लौकिक चरित के आधार पर लिखा गया प्रबन्ध काव्य है। नाम से तो ज्ञात होता है कि इसमें गौड देश के किसी राजा के वध का वर्णन होगा। परन्तु न तो गौडराज का कहीं नाम आता है और न ही उसके वध की कथा मिलती है। कदाचित् यह अधूरा काव्य मूल कृतिका पूर्व भाग है। ऐसा ही कवि की अन्तिम सूचना से भी विदित होता है। कथानक ऐतिहासिक है। कन्नौज के राजा यशोवर्मा वर्षाऋतु के बीत जाने पर गौड देश पर आक्रमण करने की तैयारी करते हैं। शरदागमन के साथ विजययात्रा का आरम्भ होता है। कन्नौज से मगध तक जाने वाले दृश्यों एवं कालक्रमागत ऋतुओं का वर्णन कवि ने मार्मिकता से किया है। विजययात्रा का वर्णन भी काव्यसौन्दर्यपूर्ण है। जब यशोवर्मा विन्ध्य पर्वत पर पहुँचते हैं तो इसका समाचार पाते ही गौड देशाधिप भाग जाता है किन्तु अन्त में मारा जाता है। इस घटना का उल्लेख मात्र एक पद्य में हुआ है। यशोवर्मा अनेक पूर्वी नरेशों पर विजय प्राप्त करके कन्नौज लौट आता है। बंग देश पंजाब अयोध्या पारसीक देश कन्नौज कान्धार और मारवाड़ का वर्णन यथास्थान किया गया है।[4] ग्रन्थ में कवि का नाम बप्पइराय (वाक्पति राज) दिया गया है। वे कन्नौज में राजा यशोवर्मा के आश्रय में रहते थे और इनके प्रिय कवि और मित्र थे।

१ डा० रामसिंह तोमर आलोचना—अंक ८ पृ० ५५
२ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य—पृ० ८१
३ भगवतशरण उपाध्याय विश्व साहित्य की रूपरेखा—पृ० १०५
४ शंभुनाथसिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० १७१
५ हरदेव बाहरी। प्राकृत और उसका साहित्य—पृ० ८१–८९

ग्रन्थ से यह भी अवगत होता है कि इसकी रचना यशोवर्मा की मृत्यु के कुछ ही वर्ष बाद आरम्भ की गई थी। इससे इसका रचनाकाल आठवीं सदी का पूर्वार्द्ध निर्धारित किया गया है।

इसमें १२०८ गाथायें हैं और कथानक सर्ग आश्वास आदि में विभक्त नहीं है। यों भी इसमें कथावस्तु नहीं के ही बराबर है और अत्यन्त अलंकृत वर्णनों, दूरारूढ़ कल्पनाओं, विद्वतापूर्ण सन्दर्भों तथा आवश्यक वस्तु-व्यापार-वर्णन से काव्य का कलेवर स्फीत हो गया है। किन्तु इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें ग्राम्य जीवन और दृश्यों का बहुत ही यथार्थ और जीवन्त चित्रण हुआ है। शास्त्रीय महाकाव्य के लक्षणों की दृष्टि से देखने पर इसमें अनेक त्रुटियां भी दिखलाई पड़ती हैं। कथा सर्गबद्ध नहीं है और आरम्भ में मंगलाचरण पूर्व कवियों की प्रशंसा सज्जन प्रशंसा, दुर्जन निन्दा, राजा की प्रशंसा काव्यालोचना प्राकृत भाषा की प्रशंसा आदि बातें ऐसी हैं जो विशेष रूप से कथा आख्यायिका में ही विस्तार के साथ पाई जाती हैं। कथा आख्यायिका की तरह ही इसमें कथान्तर के रूप में प्रकृत वर्णन, आदि अप्रासंगिक बातें तथा यशोवर्मन का देशान्तर भ्रमण और बीच-बीच में उनकी प्रशस्ति भी भरी हुई है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वाक्पतिराज ने इस काव्य में बाणभट्ट के हर्षचरित और प्राकृत के छन्दोबद्ध कथा काव्यों की शैली का समन्वय किया है और साथ ही परम्परागत शास्त्रीय महाकाव्य की रूढ़ियों का भी अप्रासंगिक वस्तु-व्यापार-वर्णनों के रूप में पालन किया है। अतः इसे अलंकृत काव्य शैली में लिखा हुआ ऐतिहासिक चरित काव्य ही कहा जा सकता है। परम्परा से इसे महाकाव्य माना जाता है। किन्तु वस्तुतः यह महाकाव्य पद का अधिकारी नहीं है, जैसे बाण का हर्षचरित यदि छन्दोबद्ध रूप में होता तो भी महाकाव्य नहीं माना जाता।[1]

महुमह विजय—'मधुमथ विजय' नामक एक और काव्य भी वाक्पतिराज ने लिखा था ऐसा 'गौडवह' में उन्होंने स्वयं सूचित किया है। परन्तु अब इसके दो तीन पद्य ही अलंकार ग्रन्थों में बच गये हैं, कृति नष्ट हो गई है। कृति का उल्लेख बाद के अनेक आचार्यों ने किया है इससे जान पड़ता है कि यह अवश्य महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध रही होगी।

लीलावई—'लीलावती' में प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन तथा सिंहलद्वीप की राजकुमारी लीलावती की प्रेम-कथा है। कुवलयावली राजर्षि विपुलाशय की अप्सरा रम्भा से उत्पन्न कन्या थी। उसने गन्धर्वकुमार चित्रांगद से गान्धर्व विवाह कर लिया। उसके पिता ने कुपित होकर चित्रांगद को शाप दिया और वह भीषणानन राक्षस बन गया। कुवलयावली आत्महत्या करने को उद्यत हुई पर रम्भा ने आकर उसको ढाढ़स बंधाई और उसे नल कूबर के संरक्षण में छोड़ दिया।

---

१ शंभुनाथ सिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० १७१

२ डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये द्वारा संपादित

यक्षराज नलकूबर का विवाह वसन्तश्री नाम की विद्याधरी से हुआ था। जिससे महानुमती का जन्म हुआ। महानुमती और कुवलयावली दोनों सखियों का बड़ा स्नेह था। एक बार वे विमान पर चढ़ कर मलय पर्वत पर गई वहां सिद्ध कुमारियों के साथ झूला झूलते हुए महानुमती और सिद्धकुमार माधवानिल की आँखें चार हुईं। घर लौटकर महानुमती बड़ी व्याकुल रहने लगी। उसने कुवलयावली को पुनः मलय देश भेजा। परन्तु वहां जाकर पता चला कि माधवानिल को कोई शत्रु पकड़ कर पाताल लोक में ले गए हैं। वापिस आकर उसने दुखी महानुमती को सान्त्वना दी। दोनों गोदावरी के तट पर भवानी की पूजा करने लगीं।

प्रधान कथा का प्रवेश यहां पर होता है। सिंहलराज की पुत्री लीलावती का जन्म वसन्तश्री की बहन विद्याधरी शारदश्री से हुआ था। एक दिन लीलावती प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन (हाल) के चित्र को देख कर मोहित हो गई। बाद में उसने उसे स्वप्न में भी देखा। माता-पिता की आज्ञा लेकर वह अपने इष्ट की खोज में निकल पड़ी। उसका मन मार्ग में गोदावरी-तट पर आकर ठहरा, जहां उसे अपनी मौसी की लड़की महानुमती मिल गई। तीनों विरहणी एक साथ रहने लगीं।

अपने राज का विस्तार करते हुए सातवाहन ने सिंहल राज पर आक्रमण करना चाहा। लेकिन उनके सेनापति विजयानन्द ने सलाह दी कि सिंहल से मैत्री रखना ही अच्छा होगा। राजा सातवाहन ने विजयानन्द को ही दूत बनाकर भेजा। विजयानन्द नौका टूट जाने के कारण गोदावरी के तट पर रुक गया। उसे पता लगा कि सिंहलराज की पुत्री लीलावती यहां पर वास करती है। उसने सातवाहन को सारा वृत्तान्त आ सुनाया। सातवाहन सेना लेकर उपस्थित हुआ और लीलावती से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। परन्तु लीलावती ने यह कह कर इन्कार किया कि जब तक महानुमती का प्रिय न मिलेगा तब तक मैं विवाह नहीं करूंगी। राजा सातवाहन पाताल पहुँचा और माधवानिल को छुड़ा लाया। फिर भीषणानन राक्षस पर आक्रमण किया। चोट खाते ही भीषणानन पुनः राजकुमार बन गया। इस समय यक्षराज नल कूबर, विद्याधर हंस और सिंहल-नरेश वहीं एकत्र हुए। उन्होंने अपनी-अपनी पुत्री का विवाह तत्प्रिय राजकुमार से कर दिया। यक्षों गन्धर्वों सिद्धों विद्याधरों राक्षसों और मानवों ने वर-वधुओं को अनेक सिद्धियां उपहार में दीं।

दिव्यलोक और मानवलोक दोनों के पात्र इस कथा में होने के कारण कवि ने इसे 'दिव्य-मानुषी' कथा कहा है। कवि में भवानी गौरी शिव और गणेश की पूजा का उल्लेख तथा देवताओं के शाप एवं वर का वृत्तान्त कई बार आया है। ज्योतिष प्रारब्ध संयोग जादू-टोना आदि में कवि का दृढ़ विश्वास है। लेकिन इसका आधार धार्मिक नहीं है। इसे प्रेम-काव्य कहना ही समीचीन होगा। प्रेम का संयत और सन्तुलित चित्रण करने में कवि ने पूर्ण सफलता प्राप्त की है। उसने प्रेमियों और प्रेमिकाओं की दृढ़ता की दीर्घ परीक्षा करके ही उन्हें विवाह-बन्धन में

भाषा है। कृति में जगह-जगह प्राकृतिक दृश्यों के बहुत सुन्दर वर्णन हैं। राजाओं के जीवन का चित्रण बड़ा विस्तृत और काव्यात्मक है। प्रधान कथा के साथ अनेक उपकथाएं गुम्फित हैं इससे थोड़ी-बहुत उलझन की सम्भावना होती है, पर कवि का प्रबन्ध-कौशल सराहनीय है।

कृति सर्गों या उच्छ्वासों में विभाजित नहीं। एक निरन्तर कथा आद्योपान्त चलती है। शैली अलंकृत और साहित्यिक है। भाषा प्रवाह-पूर्ण और काव्योपयुक्त 'मरहट्ठ देसि भासा' है। कहीं-कहीं गद्य का समावेश भी हुआ है।

कवि ने 'लीलावई' में अपने वंश का परिचय तो दिया है पर अपना नामोल्लेख नहीं किया। कृति के अज्ञातनामा टीकाकार ने लिखा है 'कुतूहलनाम्ना विप्रेण विरचितं लीलावती नाम कथारत्नं शृणुते'। 'कोऊहल' नाम कुछ पद्यों में भी आया है। विद्वानों का कहना है कि कुतूहल ही इस प्रबन्धकाव्य के रचयिता थे। इनका रचनाकाल १० वीं शती के आसपास माना जाता है, क्योंकि भोज (१०१० १०५० ई०) ने 'लीलावती' का नामोल्लेख किया है और यह भी ज्ञात है कि ग्रन्थकार बाणभट्ट हर्ष आदि की रचनाओं से परिचित थे। यह भी अनुमान किया गया है कि ये महाराष्ट्र के रहने वाले थे।[1]

सिरिचिंध कव्वमथवा श्रीचिह्न काव्यम्' बारह सर्गों में भाषाबद्ध महाराष्ट्री रचना है। पहले आठ सर्ग कवि कृष्णलीलाशुक द्वारा और अन्तिम चार उनके शिष्य दुर्गाप्रसाद द्वारा लिखे गये हैं। इसमें कृष्णलीला वर्णन के साथ-साथ वररुचि और त्रिविक्रम के प्राकृत-व्याकरणों की व्याख्या उपस्थित की गई है। इस शैली में यह कृति संस्कृत के 'भट्टीकाव्य' और 'रावणवधं' एवं प्राकृत के 'कुमारपाल चरित' से मिलती-जुलती है। इस तरह इसमें पाण्डित्य तो है पर रसपूर्णता नहीं है क्योंकि यह साधारण पाठक के लिए दुर्बोध और नीरस है।

सोरि-चरित—इसमें कृष्ण की कथा वर्णित है। भाषा कृत्रिम होते हुए भी शुद्ध और व्याकरण-सम्मत है। आद्योपान्त यमक का प्रयोग किया गया है। इससे कवि के पाण्डित्य का प्रभाव तो पड़ता है पर दुरूहता तथा कृत्रिमता और भी बढ़ जाती है। इसके रचयिता श्रीकण्ठ का समय १४वीं शताब्दी के लगभग अनुमान किया जाता है। ये मालाबार के रहने वाले थे।

उसाणिरुद्ध, 'कंसवहो'—'उषानिरुद्ध और 'कंसवध' भागवत पुराण के आधार पर लिखे गए खण्ड काव्य हैं। दोनों में चार-चार सर्ग हैं। प्रथम का अन्त नायक-नायिका के विवाह के साथ होता है और दूसरे का कंस के नाश के साथ। कंसवध में प्रसंगवश कृष्ण की बाल-लीलाओं का भी निर्देश किया है। इसमें २३३ पद्य हैं। 'उषानिरुद्ध' में २८० पद्य हैं। दोनों काव्यों में अनेक संस्कृत छन्दों का प्रयोग हुआ है। भाषा शुद्ध महाराष्ट्री है। इनके रचयिता केरल-देशवासी राम

---

१ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य पृ० ८७ ८१

पाणिवाद था। 'पाणिवाद' का अर्थ है ढोल। पाणिवाद नाम की मालाबार में नाटक खेलने वाली एक जाति थी। ढोल और मुरज बजाना इसका काम था। रामपाणिवाद का एक एकांकी नाटक भी प्राकृत में प्राप्त हुआ है। इसकी रचनाएं संस्कृत और मलयालम में भी हैं। इसका जीवनकाल सन् १७०७ से १७७५ तक माना गया है।[1]

मुक्तक रचनायें

गाहासत्तसई—यह महाराष्ट्री की प्राचीनतम कृति मानी जाती है जिसकी गणना संसार के श्रेष्ठ काव्यों में की जाती है। इसमें सात सौ से कुछ ऊपर अनेक प्राकृत-कवियों के मुक्तक गाथा-पद्य संग्रहीत हैं। मुक्तक पद्यों की रचना प्रबंध रचना की अपेक्षा अधिक दुःसाध्य और कठिन मानी गई है। यह साधारण कवि का कार्य नहीं है क्योंकि मुक्तक के प्रत्येक पद्य में रस अर्थ और प्रसंग की पूर्णता होनी चाहिए एवं कल्पना और अनुभूति का संगठन और स्वतन्त्र भाव होना चाहिए। महाकाव्य, खण्डकाव्य, आख्यायिका आदि में तो पाठक का मन कथा रस में लीन रहता है काव्य के गुण दोष का बहुत विचार वह नहीं करता। मुक्तक में कथा का अवलम्ब होता नहीं। पूर्वापर-सम्बन्ध से निरपेक्ष होने के कारण मुक्तक पद्य रसनिर्भर रहता है। इसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान होता है। कहते हैं कि 'गाथासप्तशती के संग्रहकर्ता ने एक करोड़ प्राकृत पद्यों में से सात सौ उत्कृष्ट पद्य चुनकर यह ग्रंथ सम्पादित किया था।'[2] इसका महत्व इस बात से आंका जा सकता है कि 'ध्वन्यालोक' 'दशलोचन' 'सरस्वती-कण्ठाभरण', 'काव्यप्रकाश' आदि काव्यशास्त्रों में इसकी गाथाओं को आदर्श के रूप में उद्धरित किया गया है। रुद्रट, वाग्भट्ट विश्वनाथ, गोवर्धनाचार्य बाणभट्ट, राजशेखर इत्यादि आलोचकों ने इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है और कुछ-एक का तो कहना है कि ऐसी सरसता संस्कृत में कठिन है। इसके अनुकरण में कई सप्तशतियां लिखी गईं—संस्कृत में 'आर्यासप्तशती' आदि और हिन्दी में 'मतिराम सतसई' 'बिहारी-सतसई', 'वृन्द सतसई' आदि इसी की परम्परा में आती हैं।[3]

हाल के समय के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। परम्परा के अनुसार ये वही सातवाहन हैं जो विक्रम की प्रथम शती में आंध्र के राजा थे। हाल सातवाहन ने ही महाराष्ट्री में प्रचलित मुक्तकों का संग्रह सतसई में किया था। किन्तु उपलब्ध गाथासप्तशती की भाषा का काल विक्रम की दूसरी

---

१ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य पृ० ८७–८९

२ जोगलेकर हाल सातवाहनाची गाथा सप्तशती–भूमिका–पृ० ४१

३ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य–पृ० ९१

४ भोलाशंकर व्यास हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास–पृ० २१४

शती से लेकर पाँचवी शती के बीच आता पड़ता है।[1] साथ ही गाथा सप्तशती के काव्य भाषा वाले संस्करण में छठी शती तक के प्राकृत कवियों—उदाहरण के लिए भाषा कवि ईशान की गाथाएं पाई जाती है।[2] गाथा सप्तशती के जो संस्करण हैं उनमें भी सभी गाथाएं समान नहीं है केवल ४३० गाथाएं समान हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि सातवाहन ने गाथा कोष का संग्रह किया था जिसमें एक हजार के लगभग गाथाएँ थीं। प्रस्तुत संस्करण उसी के आधार पर मेवाड़ के गुहिलोतवंशी राजा नरवाहन के पुत्र शालिवाहन ने विक्रम की दसवीं शती में किया है।[3] हाल की सतसई की गाथाओं को प्रारम्भिक प्राकृत लोक साहित्य माना जाता है। किन्तु डाक्टर कीथ इसे नहीं मानते। वे बताते हैं कि इसकी भाषा कृत्रिम है तथा जन भाषा का रूप इसमें नहीं मिलता।[4] इतना होते हुए भी भावना तथा कल्पना की दृष्टि से इसमें जन-जीवन का रंग दिखाई पड़ता है। गाथा सप्तशती में ग्रामीण जीवन के सरस चित्र देखने को मिलते हैं। कृषक और कृषकवनिता, गोप और गोपियों का जीवन, खेतों की रखवाली करती शालिवधुयें धान कूटती हुई ग्रामीण नारी के चित्र लोकजीवन का वातावरण निर्मित कर देते हैं। किन्तु इससे भी बढ़कर गाथा सप्तशती की गाथाओं में प्रेम के विविध पक्षों के चित्र देखने को मिलते हैं। विवाहित दम्पती के संयोग तथा वियोग के रूपग्राही चित्रों के अलावा यहां उन्मुक्त प्रणय के चित्र भी मिलते हैं, जिनमें से कुछ में कहीं-कहीं उच्छृंखलता भी दिखलाई पड़ती है। प्रकृति वर्णन के परिवेश को लेकर उक्त गाथाकार ने नायक या नायिका के मनोभावों की अपूर्व व्यंजना की है। निम्नलिखित गाथा में नदी में कमल पत्र पर आराम करते बगुले के प्रकृति सौन्दर्य के माध्यम से स्वयं दूती की मनोभावना तथा संकेत स्थल की व्यंजना कराई गई है

उअ णिच्चलणिप्पंदा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥

अर्थात् देखो उस कमल पत्र पर शांत भाव से बैठा बगुला कैसा सुन्दर लग रहा है जैसे मरकतमणि के पात्र पर शंख की शुक्ति पड़ी हो।

वज्जालग्ग

यह भी प्राकृत की बहुत प्रसिद्ध सतसई है। इसमें निर्दिष्ट गाथाओं की संख्या ७९४ है। गाथायें अलग-अलग विषयों के अन्तर्गत संगृहीत हैं। ऐसे विषयों को वज्जा कहा गया है। इनकी संख्या ४८ है। कुछ वज्जा-शीर्षक इस प्रकार हैं—सज्जन, दुर्जन मित्र नीति धैर्य साहस, दैव दारिद्र्य सेवक स्वामी गज सिंह व्याघ्र, हरिण

---

१ कीथ हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर–पृ० २२४
२ राहुल सांकृत्यायन हिन्दी काव्यधारा–भूमिका–पृ० १
३ नागरी प्रचारिणी पत्रिका–भा २१ अंक १४, पृ २२२ २८२
४ भगवतशरण उपाध्याय विश्व साहित्य की रूपरेखा–पृ० २०२
५ कीथ हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर–पृ १२४

हंस चन्द्र, गमन स्तन, लावण्य, प्रेम, मान, विरह, पुरुषोल्लास, दूती सुगृहिणी, सती इत्यादि। इनके अन्तर्गत मानव प्रकृति और मानवेतर प्रकृति के अनेक पक्ष वर्णित हैं। शृंगारिक पद्यों की संख्या ५० प्रतिशत से कम है। इसमें नखशिख-वर्णन, नायक-नायिका-वर्णन, प्रेम के संचारी भावों, अनेक विभावों और अनुभावों का चित्रण, संयोग और विप्रलम्भ शृंगार की अनेक अवस्थाओं की व्याख्या की गई है। यद्यपि इसके रचयिता अथवा सम्पादक श्वेताम्बर मुनि हैं तो भी इसमें जैन धर्म का कहीं निर्देश नहीं मिलता। गाथाओं के कवियों के नामों का कोई संकेत नहीं किया गया। इसके अनेक छन्द रुय्यक जयरथ, सोमेश्वर विश्वनाथ हेमचन्द्र, आदि अलंकार शास्त्रियों की कृतियों में भी मिलते हैं। 'वज्जालग्ग' के एक पद्य में कहा गया है कि विविध कवियों के द्वारा विरचित कविताओं में से गाथायें चुनकर 'वज्जालग्ग तैयार किया गया। संकलनकर्ता का नाम जयवल्लभ सूरि ज्ञात है, लेकिन इनके सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। इसका जीवन काल अनुमानतः ११वीं १४वीं शताब्दी ईस्वी के बीच में माना गया है।

प्रायः गाथाओं का साहित्यिक स्तर काफी ऊंचा है। कल्पना और अनुभूति की छटा अनेक स्थलों पर मिलती है। वाक्चातुर्य गठन और प्रभाव की दृष्टि से कई पद्य प्रशंसनीय हैं। वीथियाँ सुभाषित अपनी रमणीयता में अद्वितीय हैं।[1]

विषम बाणलीला

आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक'[2] में स्वरचित इस प्राकृत कृति का उल्लेख किया है। इसके कुछ पद्य इधर-उधर[3] बिखरे पड़े और टीकाकारों द्वारा उद्धृत प्राप्त होते हैं। कृति अप्राप्य है। उपलब्ध पद्यों और 'विषमबाणलीला' नाम से विदित होता है कि यह शृंगार रस के मुक्तक छन्दों का संग्रह रहा होगा। कल्हण की राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धनाचार्य कश्मीर-नरेश अवन्ति वर्मा के राज्यकाल (सन् ८५५-८८४ ई) में विद्यमान थे। वे कश्मीरी थे यह उनकी राजानक उपाधि से भी स्पष्ट है।

मदन-मुकुट

नायक-नायिका-भेद पर यह एकमात्र कृति ज्ञात है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व है। इसकी ८१ गाथायें प्रकाशित हुई हैं। ग्रन्थ परिच्छेदों में विभक्त है और ऐसा लगता है कि लक्षणों की व्याख्या में मुक्तक पद्य उद्धृत किए गए हैं। पर जब तक सारी कृति प्रकाश में नहीं आ जाती इसकी शैली पर कुछ कहा नहीं जा सकता। प्राप्त पद्यों की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है और काव्यात्मकता प्रशंसनीय है। रचयिता का नाम गोसल मिश्र निर्दिष्ट है, पर इनके देश-काल आदि के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

१ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य—पृ० १४ १५
२ काव्यमाला संस्करण पृ० ५६,१३६
३ 'लोचन' व्याख्या तथा बिहार की कृति

फुटकर पद्य

इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी समय में प्राकृत काव्य अति उन्नत और समृद्ध रहा होगा। 'गाथा सप्तशती' के टीकाकार ने ११२ कवियों का नामोल्लेख किया है, जिनकी कृतियों में से हाल ने चुनाव करके इस अमर कृति का सम्पादन किया था। राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' हरिवृद्ध नन्दिउड्ड, पोट्टिस, पालित्तक चम्पक राज, मल्लशेखर आदि अनेक कवियों के नाम मिलते हैं। अनेक ऐसे भी रहे होंगे जिनका नाम तक मिट गया है। इन सबके काव्य क्या हुए, कहाँ गए, यह तो काल ही बता सकता है काव्य शास्त्रों में कुछ प्राकृत पद्य आदर्श उदाहरण के रूप में उद्धृत हैं। इससे जाना जा सकता है कि संस्कृत के पण्डितों तक में प्राकृत का महत्व स्वीकार किया गया था। 'नाट्य-शास्त्र, ध्वन्यालोक भोजन सरस्वती कण्ठाभरण काव्यानुशासन दशरूपक' आदि ग्रन्थों में बीसियों पद्य बच गए हैं।

भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में दो प्रकार के प्राकृत-पद्य हैं। रूपकादि के उदाहरण में महाराष्ट्री के कुछ पद्य आये हैं। परन्तु भरत ने स्वयं महाराष्ट्री नाम की किसी प्राकृत का संकेत नहीं किया। ध्रुवागीत शौरसेनी प्राकृत में हैं। इनकी संख्या १०० से कुछ ऊपर है। इनमें सूर्य चन्द्र मेघ बिजली और शरद आदि ऋतुओं का वर्णन है। प्राकृत भाषा और साहित्य के लिए इनका ऐतिहासिक महत्व है। भरत साहित्य शास्त्र के प्रथमाचार्य माने जाते हैं। उन्होंने प्राकृत के जिन पद्यों को अपनी कृति में स्थान देकर गौरवान्वित किया है उनकी काव्य-गुण-सम्पन्नता निर्विवाद है। उनका समय ईसवी सन की पहली शती निर्धारित किया गया है। इससे यह भी अवगत होता है कि उस काल में भी प्राकृत-काव्य पण्डितजन—मान्य हो गया था।

आनन्दवर्धनकृत 'ध्वन्यालोक में ४५ पद्य प्राकृत के हैं। कुछ के आधार-ग्रन्थों के नाम भी दिये गये हैं पर वे ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। ये पद्य शृंगारात्मक हैं। इनकी कल्पना मधुर और सरस है। 'ध्वन्यालोक में पृष्ठ ७१, ११६, १८८' २७९ ३०१ ४७० आदि पर ये पद्य उद्धृत हैं।

'ध्वन्यालोक के 'लोचन टीकाकार अभिनव गुप्त ने दो पद्य उद्धृत किये हैं जो अन्यत्र नहीं मिलते।

सबसे अधिक पद्य भोज-कृत सरस्वती—कण्ठाभरण' में उद्धृत हुए हैं। इनकी संख्या १५ के लगभग है। कुछ पद्य 'गाथा सप्तशती 'सेतुबन्ध गौडवहो कर्पूरमंजरी' आदि कृतियों से लिये गए पर ५० के आधार ग्रन्थों का कुछ पता नहीं है। अधिकांश का विषय शृंगार है। इनके अतिरिक्त नीति प्रकृति आदि विषयों पर पद्य हैं। भोजराज धारानगरी के सुप्रसिद्ध परमारवंशीय राजा थे। वे कवि साहित्यरसिक और अनेक भाषाविद विद्वान थे। इनका समय सन् १०५ ई० से पूर्व समाप्त होता है।

धर्नंजयकृत 'रसकल्पद्रुम' में २५ पद्य मिलते हैं जिनमें १० अज्ञात कवियों के हैं। ये १० पद्य और कहीं उपलब्ध नहीं होते। धर्नंजय का समय सन् १००० ई० के आस-पास अनुमानित किया जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' और उसकी वृत्तियों में ८० प्राकृतपद्य संगृहीत हैं। शृंगार सम्बन्धी पद्यों के अतिरिक्त इनमें अनेक विषयों पर सूक्तियां हैं।

इनके अतिरिक्त रुद्रट के 'काव्यालंकार' रुय्यक के 'अलंकार-सर्वस्व' जयरथ 'अलंकार-विमर्शिनी' सोमेश्वर के 'काव्यादर्श' जयन्त की 'काव्यप्रकाश-दीपिका' की स्वयम्भू के 'स्वयंभू छन्द' विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' पण्डितराज जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' आदि ग्रंथों में अनेक प्राकृत पद्य पड़े हैं जिनके रचयिताओं का कुछ भी पता नहीं है।[1]

प्राकृत नाटक

प्राकृत में अपना अलग से नाटक साहित्य नहीं मिलता। वैसे कर्पूरमंजरी सट्टक जैसी दो एक नाटकीय कृतियां शुद्ध प्राकृत में मिलती हैं।[2] सट्टक नामक रचनायें उपरूपकों में गृहीत की जाती हैं।[3] जिनकी भाषा बहुधा आद्यन्त प्राकृत होती है। प्राचीनतम प्राप्त सट्टक राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' है। इसका कथानक प्रणय-कलह है जिसके अन्त में चण्डपाल और कर्पूरमंजरी का विवाह सम्पन्न होता है। राजशेखर साहित्यिक व्यंजना और छन्द-शैली का अनुपम पंडित है और उसके छन्दों में असाधारण सांगीतिक झंकृति है। प्रवाह भी उसका तरल और अविरल है। प्राय इसके ६०० वर्ष बाद कालीकट के जमूरिन की सभा के रुद्रदास ने चंद्रलेखा नामक सट्टक लिखा जिसमें मानवेद और चंद्रलेखा के विवाह की कथा है। तंजौर के मध्य-अठारहवीं सदी के राजा तुलजाजी के राजकवि घनश्याम ने आनन्द-सुन्दरी नामक सट्टक लिखा।[4] इसी समय के कवि विश्वेश्वर द्वारा लिखी शृंगार-मंजरी सट्टक की भी जानकारी मिली है। नयचन्द्र पन्द्रहवीं सदी के लगभग हुआ और उसने अपने सट्टक 'रंभा-मंजरी' में काशी के राजा जैतसिंह और गुजरात के राजा मदनवर्मन की कन्या रंभा की प्रणयकथा प्राकृत और संस्कृत की परस्पर गुंफित शैली में लिखी।

इसके अतिरिक्त नाटकों में प्राकृत के आंशिक प्रयोग मिलते हैं जिस पर हम इसी अध्याय में अन्यत्र विस्तृत प्रकाश डाल चुके हैं। नाट्य शास्त्रियों ने रूपक-

---

१ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य पृष्ठ ९५ ९७
२ डा० भोलाशंकर व्यास हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, खंड पृ० १०१
३ गुलाबराय काव्य के रूप पृ० ९१
४ डा० रामसिंह तोमर, आलोचना—अंक ८ पृ० ५९
५ भगवतशरण उपाध्याय, विश्वसाहित्य की रूप रेखा पृ० ५

फुटकर पद्य

इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी समय में प्राकृत काव्य अति उन्नत और समृद्ध रहा होगा। गाथा सप्तशती के टीकाकार ने ११२ कवियों का नामोल्लेख किया है, जिनकी कृतियों में से हाल ने चुनाव करके इस अमर कृति का सम्पादन किया था। राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' हरिउड्ड, नन्दिउड्ड, पोट्टिस, पालित्त, चम्मम राज, मल्लसेहर आदि अनेक कवियों के नाम मिलते हैं। अनेक ऐसे भी रहे होंगे जिनका नाम तक मिट गया है। इन सबके काव्य क्या हुए, कहां गए, यह तो काल ही बता सकता है काव्य शास्त्रों में कुछ प्राकृत पद्य आदर्श उदाहरण के रूप में उद्धृत हैं। इससे जाना जा सकता है कि संस्कृत के पण्डितों तक में प्राकृत का महत्व स्वीकार किया गया था। 'नाट्य–शास्त्र ध्वन्यालोक लोचन' सरस्वती कण्ठाभरण काव्यानुशासन, 'दशरूपक' आदि ग्रन्थों में बीसियों पद्य बच गए हैं।

भरत के नाट्य–शास्त्र में दो प्रकार के प्राकृत–पद्य हैं। रूपकादि के उदाहरण में महाराष्ट्री के कुछ पद्य आये हैं। परन्तु भरत ने स्वयं महाराष्ट्री नाम की किसी प्राकृत का संकेत नहीं किया। ध्रुवागीत शौरसेनी प्राकृत में हैं। इनकी संख्या १०० से कुछ ऊपर है। इनमें सूर्य चन्द्र मेघ बिजली और शरद आदि ऋतुओं का वर्णन है। प्राकृत भाषा और साहित्य के लिए इनका ऐतिहासिक महत्व है। भरत साहित्य शास्त्र के प्रथमाचार्य माने जाते हैं। उन्होंने प्राकृत के जिन पद्यों को अपनी कृति में स्थान देकर गौरवान्वित किया है उनकी काव्य-गुण-सम्पन्नता निर्विवाद है। उनका समय ईसवी सन की पहली शती निर्धारित किया गया है। इससे यह भी अवगत होता है कि उस काल में भी प्राकृत-काव्य पण्डितजन—मान्य हो गया था।

आनन्दवर्धनकृत 'ध्वन्यालोक में ४५ पद्य प्राकृत के हैं। कुछ के आधार–ग्रन्थों के नाम भी दिये गये हैं पर वे ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। ये पद्य शृंगारात्मक हैं। इनकी कल्पना मधुर और सरस है। 'ध्वन्यालोक में पृष्ठ ७९ ११६ १८८' २७९ ३०३ ४७० आदि पर ये पद्य उद्धृत हैं।

ध्वन्यालोक के 'लोचन टीकाकार अभिनव गुप्त ने दो पद्य उद्धृत किये हैं जो अन्यत्र नहीं मिलते।

सबसे अधिक पद्य भोज–कृत 'सरस्वती–कण्ठाभरण' में उद्धृत हुए हैं। इनकी संख्या ३५० के लगभग है। कुछ पद्य 'गाथा सप्तशती 'सेतुबन्ध गोडवहो कर्पूरमंजरी' आदि कृतियों से लिए गए, पर ५० के आधार ग्रन्थों का कुछ पता नहीं है। अधिकांश का विषय शृंगार है। इनके अतिरिक्त नीति प्रकृति आदि विषयों पर पद्य हैं। भोजराज धारानगरी के सुप्रसिद्ध परमारवंशीय राजा थे। वे कवि साहित्यरसिक और अनेक भाषाविद विद्वान थे। इनका समय सन् १०५० ई० से पूर्व समाप्त होता है।

धनंजयकृत 'दशरूपकम' में २१ पद्य मिलते हैं जिनमें १० अज्ञात कवियों के हैं। ये १० पद्य और कहीं उपलब्ध नहीं होते। धनंजय का समय सन् १००० ई० के आस-पास अनुमानित किया जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' और उसकी वृत्तियों में ८० प्राकृतपद्य संगृहीत हैं। शृंगार सम्बन्धी पद्यों के अतिरिक्त इनमें अनेक विषयों पर सूक्तियां हैं।

इसके अतिरिक्त रुद्रट के 'काव्यालंकार' रुय्यक के 'अलंकार-सर्वस्व' जयरथ 'अलंकार-विमर्शिनी' सोमेश्वर के काव्यादर्श' जयन्त की काव्यप्रकाश-दीपिका की स्वयंभू के 'स्वयंभू छन्द' विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' पण्डितराज जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' आदि ग्रंथों में अनेक प्राकृत पद्य पड़े हैं जिनके रचयिताओं का कुछ भी पता नहीं है।[1]

प्राकृत नाटक

प्राकृत में अपना अलग से नाटक साहित्य नहीं मिलता। वैसे कर्पूरमंजरी सट्टक जैसी दो एक नाटकीय कृतियां शुद्ध प्राकृत में मिलती हैं।[2] सट्टक संज्ञक रचनायें उपरूपकों में गृहीत की जाती हैं।[3] जिनकी भाषा बहुधा आद्यन्त प्राकृत होती है। प्राचीनतम प्राप्त सट्टक राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' है।[4] इसका कथानक प्रणय-कलह है, जिसके अन्त में चण्डपाल और कर्पूरमंजरी का विवाह सम्पन्न होता है। राजशेखर साहित्यिक व्यंजना और छन्द-शैली का अनुपम पंडित है और उसके छन्दों में असाधारण सांगीतिक झंकृति है। प्रवाह भी उसका सरस और अविरल है। प्रायः इसके ९०० वर्ष बाद कालीकट के जमूरिन की सभा के रुद्रदास ने चंद्रलेखा नामक सट्टक लिखा जिसमें मानवेद और चंद्रलेखा के विवाह की कथा है। तंजौर के मध्य-अठारहवीं सदी के राजा तुलजाजी के राजकवि घनश्याम ने 'आनन्द-सुन्दरी नामक सट्टक लिखा।[5] इसी समय के कवि विश्वेश्वर द्वारा लिखी शृंगार-मंजरी सट्टक की भी जानकारी मिली है। नयचन्द्र पन्द्रहवीं सदी के लगभग हुआ और उसने अपने सट्टक 'रंभा-मंजरी' में काशी के राजा जैत्रसिंह और गुजरात के राजा मदवर्मन की कन्या रंभा की प्रणयकथा प्राकृत और संस्कृत की परस्पर गुंथित शैली में लिखी।

इसके अतिरिक्त नाटकों में प्राकृत के आंशिक प्रयोग मिलते हैं जिस पर हम इसी अध्याय में अन्यत्र विस्तृत प्रकाश डाल चुके हैं। नाट्य शास्त्रियों ने रूपक-

---

१ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य पृष्ठ ९५ ९७
२ डा० भोलाशंकर व्यास हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास खंड पृ० १०१
३ गुलाबराय, काव्य के रूप पृ० ११
४ डा० रामसिंह तोमर, आलोचना-अंक ८ पृ० ३६
५ भगवतशरण उपाध्याय, विश्वसाहित्य की रूप रेखा पृ० १ ०

रचना में स्वाभाविकता लाने के उद्देश्य से अनेक पात्रों के मुख से प्राकृत बुलवाने का विधान किया है, इसे हम पहले ही देख चुके हैं। यद्यपि उपलब्ध प्राकृत साहित्य में नाटक साहित्य का अभाव सा है तथापि अनुमान होता है कि प्राकृतकाल में जनता का अपना लोकमंच रहा होगा और उसीने अपभ्रंशकालीन 'रासक' परम्परा को जन्म दिया होगा।[1] परवर्ती राजस्थानी में उपलब्ध ख्याल-परम्परा भी संभवतः इसी की अन्तिम कड़ी है।

अन्य साहित्य—

महावीर और प्राचीन जैन गुरुओं की स्तुति में बीसियों छोटे-छोटे ग्रंथ प्राकृत में लिखे गये हैं। इनमें 'ऋषभपंचाशिका' 'अजियसन्तिथय' 'महावीरस्तव' 'पार्श्वजिनस्तव' 'शान्तिनाथ स्तवन' आदि प्रसिद्ध हैं।[2]

धनपाल द्वारा रचित ऋषभपंचाशिका में पचास पद्य हैं जिनकी शैली अलंकृत और साहित्यिक है। सुन्दर कल्पना और जहां तहां रूपकों का प्रयोग इसकी विशेषता है। इसमें जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की स्तुति है। इसी प्रकार दूसरे तीर्थंकर अजित और सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ के गुणगान के उद्देश्य से अनेक स्तवन लिखे गये जिनमें नन्दिषेण कृत अजियसन्तिथय (नवीं शती) और वीरगणि रचित 'अजियसन्तिथय (बारहवीं शती) साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। चौबीसवें तीर्थंकर महावीर को लेकर किसी अज्ञात कवि का लिखा महावीर स्तवन उल्लेखनीय रचना है। इसकी रचना अलंकृत प्राकृत में हुई है। इसमें एक-एक शब्द तीन-तीन बार प्रयुक्त हुआ है और तीन अलग अलग अर्थ देता है।[3] धर्मवर्धन कृत 'पार्श्वजिन-स्तवन' सन् १२०० ई० और जिन पद्म रचित 'शान्तिनाथ स्तवन' लगभग १३२५ ई० में छः भाषाओं का प्रयोग हुआ है। परवर्ती राजस्थानी कवियों ने प्रकारान्तरसे अपने काव्यों में छः भाषाओं का प्रयोग बहुधा किया किया है। पृथ्वीराजरासो में चन्दबरदायी षट भाषा प्रयोग की घोषणा करता है।[4] यही परम्परा महाकवि सूर्यमल्ल-डिंगल के अन्तिम महाकवि के वंशभास्कर में भी है।[5] यह भी एक अद्भुत साम्य है जिस पर आगे चलकर अन्यत्र विचार किया जायेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि प्राकृत का कथा और चरित-साहित्य संसार भर की भाषाओं के साहित्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। उसका गीत-काव्य भी किसी

---

१ भोलाशंकर व्यास : हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास १ पृ० ३१०
२ हरदेव बाहरी : प्राकृत और उसका साहित्य पृ० ४९
३ वही, पृ० ५०
४ कविराव मोहन सिंह : पृथ्वीराजरासो—पहला भाग पृ० १२
षट भाषा पुराणंच कुराणं कथितं मया।
५ (अ) सूर्यमल्ल मिश्रण : वीर सतसई—भूमिका पृ० ६९
(ब) मोतीलाल मेनारिया : डिंगल में वीररस—पृ० ८९

दृष्टि में औरों से कम नहीं है। भारतीय भाषाओं मे सतसई साहित्य का प्रारम्भ प्राकृत से ही होता है। संस्कृत के अलंकार-ग्रंथों में भी प्राकृत–सतसइयों और मुक्तकों से अनेक उदाहरण उद्धृत किए गए हैं। इससे जाना जा सकता है कि प्राकृत में कई ऐसे अलंकारों की उद्भावना हुई है जिनके उदाहरण संस्कृत साहित्य में नहीं मिलते। प्राकृत–साहित्य की सबसे बड़ी मौलिकता उपमाओं और रूपकों की नवीनता में है। इनके उदाहरण प्राय लोक से लिये गए हैं इसलिए कमल नीलोत्पल और पिटे पिटाये अन्य उपमानों का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है। प्राकृत के उपमानों में ताजगी है।

प्राकृत मे अनेक नये छन्दों का विकास भी किया और मात्रिक अथवा ताल–वृत्तों को लोक काव्य से उठाकर अपने-अपने काव्यों में समाविष्ट किया है। प्राकृत का प्रिय छन्द गाथा है। अपभ्रंश मता और हिन्दी में दोहा इसी के भेद के रूप में विकसित हुए हैं। चौपाई का प्रारम्भ यहीं से हो जाता है।

साहित्य में प्राकृत का प्रयोग ब्राह्मणधर्म से विद्रोह के रूप में हुआ। यही बात आरम्भ में बंगला मराठी, गुजराती हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं के प्रयोग के सम्बन्ध में सही है। जैनों मे प्राकृत और बौद्धों मे अपभ्रन्श का व्यवहार किया तो नाथों शैवों सन्तों वैष्णवों और भक्तों ने हिन्दी गुजराती बंगाली, मराठी और पंजाबी का। विद्रोह का जो स्वर एवं जनता के भावों का जो व्यापक प्रतिनिधित्व प्राकृत और अपभ्रन्श में मिलता है वही अधिक विस्तार से आधुनिक भाषाओं पाया जाता है।[1]

१ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य—पृ० १४४

२

अपभ्रन्श : भाषा और साहित्य

१ अपभ्रन्श शब्द का प्रयोग

मध्यभारतीय-आर्यभाषा के विकास के अन्तिम सोपान को अपभ्रन्श के नाम से अभिहीत किया जाता है। अपभ्रन्श मध्यभारतीय आर्यभाषाओं और आधुनिक आर्यभाषाओं यथा हिन्दी बंगला मराठी गुजराती आदि के बीच कड़ी है। प्रत्येक आधुनिक-आर्यभाषा को अपभ्रन्श की स्थिति पार करनी पड़ी है।[१] 'दूसरे शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है कि आधुनिक-भारतीय आर्यभाषाओं यथा गुजराती मराठी हिन्दी, पंजाबी, बंगाली सिन्धी असामी उड़िया आदि की जननी अपभ्रन्श ही है।'[२] किन्तु अपभ्रन्श शब्द का किसी भाषा विशेष के अर्थ में सदा प्रयोग नहीं होता रहा। हमें ईसा की दूसरी सदी पूर्व इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया हुआ मिलता है। हम आगे चलकर इस शब्द के इतिहास पर संक्षेप में विचार करेंगे क्योंकि इससे हमको अपभ्रंश भाषा के उद्भव और विकास का सम्यक् वैज्ञानिक अध्ययन करने में पर्याप्त सहायता मिलेगी।

अपभ्रंश शब्द का साधारण अर्थ होता है-भ्रष्ट, च्युत स्खलित विकृत अथवा अशुद्ध। भाषा के सामान्य मानदण्ड से जो शब्दरूप च्युत हों, वे अपभ्रन्श हैं[३] ऐसी धारणा से विकसित एक विशेष भाषा की संज्ञा के रूप में शब्द का व्यवहार अपने में बहुत सी संभावनाएं छिपाए है अतः इसी दृष्टिकोण से हम अपभ्रन्श शब्द के प्रयोग की विगत युग धाराओं को टटोलने की कोशिश कर रहे हैं।

अपभ्रन्श शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख हमें पतंजलि (ईस्वी पूर्व दूसरी शती) से कुछ शताब्दी पूर्व मिलता है।[४] 'वाक्य-पदीयम्' के रचयिता भर्तृहरि ने महाभाष्य

---

१ डा० उदयनारायण तिवारी हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास पृ०१२०

२ मुनि जिनविजय पउमसिरिचरिउ-र्कथित प्रस्ताविक, पृ० १

भारतवर्षनी आर्यवर्गनी देश्यभाषाओना विकासक्रमनी येमने जोवो पण परिचय अ तैले जाणे छे के अपभ्रन्श नामे ओळखाती जूनी भाषा आपणा महान् राष्ट्र मांनी वर्तमान गुजराती मराठी, हिन्दी पंजाबी सिन्धी बंगाली असामी उड़िया विगेरे, भारतनां पश्चिम उत्तर अने पूर्व भागोमां बोलाती प्रसिद्ध देश्य भाषाओनी सगी जननी छे।

३ नामवर सिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रन्श का योग, पृ० २

४ डा० हरिवंश कोछड़ अपभ्रन्श साहित्य पृ० १

कार के पूर्ववर्ती संग्रहकार व्याडि नामक आचार्य के मत का उल्लेख करते हुए अपभ्रंश शब्द का निर्देश किया है। यथा—

शब्द संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते ।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थ निवेशिनम् ॥

वार्तिक—शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति संग्रहकारो नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतंत्रः कश्चिद्विद्यते। सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः प्रसिद्धेस्तु रूढितामापाद्यमाना स्वातन्त्र्यमेव केचिदपभ्रंशा लभन्ते। तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्त्या प्रमादिभिर्वा गाव्यादयस्तत्प्रकृतयोऽपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते ।[1]

महाभाष्यकार पतंजलि द्वारा भी 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किया गया है। उनके अनुसार अपभ्रंश केवल संस्कृत के विकृत शब्द हैं। किसी एक शब्द के अनेक भ्रष्ट रूप हो सकते हैं यथा संस्कृत शब्द गौ के गावी गोणी गोता गोपोतलिका आदि विविध रूपान्तर।[2] ये सभी रूपान्तर शिष्टसम्मत संस्कृत भाषा से विकृत या भ्रष्ट हैं अतः ऐसे अपाणिनीय असाधु शब्दों के लिए अपभ्रंश संज्ञा का उपयोग किया गया।

यह विचारणीय है कि महाभाष्यकार की दृष्टि में अपभ्रंश केवल उन शब्दों को दी जाने वाली संज्ञा है जो संस्कृत शब्दों के साधु-रूपों के विकृत या भ्रष्ट स्वरूप हैं और जिन शब्दों का उन्होंने अपभ्रंश के उदाहरण में उपयोग किया है बाद के प्राकृत-वैयाकरणों ने उन्हीं को प्राकृत के अन्तर्गत लिया है,[1] यह विस्मय है।

ईसा की दूसरी अथवा तीसरी शती के लगभग भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में संस्कृत प्राकृत और देशभाषा के भेद को स्पष्ट किया है साथ ही उन्होंने प्राकृत के स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है।

एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् ।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥
त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः ।
समानं शब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च ॥
—नाट्यशास्त्र १७-२ १

---

१ भर्तृहरि वाक्यपदीयम्—प्रथम कांड, कारिका १४८

२ Ed. kielhorn vot. 1,Page 2

एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा । गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ।

१ (अ) चंड प्राकृतलक्षणम्—२–१६
'गोर्गाविः'

(ब) हेमचन्द्राचार्य प्राकृत व्याकरण—८–२–१७४
'गोणादयः' गौः गोणी गावी गाव गावीओ'

अर्थात् प्राकृत तीन प्रकार की होती है—१ जिसमें संस्कृत के समान शब्दों का ही प्रयोग हो। २ संस्कृत के विभ्रष्ट शब्दों का प्रयोग हो और ३ जिसमें देशभाषा के शब्दों का प्रयोग हो। दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाटय-रचना में तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है—तत्सम तद्भव अथवा विभ्रष्ट, और देश्य। यहां ऐसा लगता है कि पतंजलि की अपभ्रंश और भरत की विभ्रष्ट शायद एक ही हो।

आगे चलकर भरत ने तत्कालीन सात भाषाओं का निर्देश किया है—

मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता॥

—नाट्यशास्त्र १७-४९

मागधी अवन्ति प्राच्य शौरसेनी अर्धमागधी बाह्लीका और दक्षिणी ये सात भाषायें हैं और अनेक विभाषायें हैं—यथा

शकराभीर चाण्डाल शबर द्रमिलान्ध्रजा।
(शकराभीर चाण्डाल शबर द्रविडोद्रजा)
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृत॥

—नाट्यशास्त्र १७-५०

शबरों आभीरों चाण्डालों शकों द्रविडों ओड्रों और हीन जाति के वनचरों की बोलियां। भरत के इस उल्लेख में अपभ्रंश का स्पष्ट नाम कहीं नहीं आया है क्योंकि उसने केवल भाषाओं का उल्लेख किया है। इससे यह जान पड़ता है कि भरत के समय तक किसी भी भाषा को अपभ्रंश की संज्ञा नहीं दी गई थी अर्थात् अभी तक अपभ्रंश का विकास उस कोटि तक नहीं हो पाया था जिससे कि उसे भाषा कह कर पुकारा जा सके। विभाषाओं के उस समय कोई अलग नाम नहीं थे वे बोलने वाली जातियों अथवा समुदाय के नाम से ही पुकारी जाती थीं। जैसे—

अंगारकारव्याधानां काष्ठयन्त्रोपजीविनाम्।
योज्या शबरभाषा तु किंचिद्वानौकसी तथा॥
गवाश्वाजाविकोष्ट्रादिघोषस्थान निवासिनाम्।
आभीरोक्तिः शाबरी वा द्राविडी द्रविडादिषु॥

—नाट्यशास्त्र-१७-५४-५५

अर्थात् शबर और वनौकसी जंगली भाषा का प्रयोग अंगारकारों कोयला बनाने वाले शिकारियों और काष्ठ यन्त्रों द्वारा जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्तियों द्वारा तथा आभीरोक्ति और शाबरी का उपयोग गौ अश्व ऊट आदि पशुपालक और घोष निवासी ग्वालों के गांव में रहने वाले जनों द्वारा किया जाता है।

इससे यह ज्ञात होता है कि आभीरादि पशुपालक जातियों की भाषा आभीरोक्ति के नाम से जानी जाती रही है। जैसा कि हम अन्यत्र देखेंगे यही आभीरोक्ति

इतनी विकासमान हो गई कि इसने अपना स्थान प्राकृतादि अन्य साहित्यिक भाषाओं के समकक्ष जमा लिया।

सम्भवतः भरत के समय भाषा के रूप में अपभ्रंश को कोई महत्त्व प्राप्त नहीं था किन्तु जान पड़ता है कि आगे चलकर इसी आभीरोक्ति को ही अपभ्रंश की संज्ञा प्राप्त हो गई। भरत ने नाटककार के लिए विभिन्न प्रदेश के निवासी पात्रों द्वारा किस प्रकार की बोली प्रयुक्त की जाय इस विषय में खुलासा निर्देश दिए हैं। उन्होंने लिखा है कि गंगा और सागर के मध्य की भाषा एकार बहुला है। हिमालय सिन्धु और सौवीर के तटीय प्रदेश की भाषा उकार बहुला है। विन्ध्याचल और सागर के मध्य की भाषा नकार बहुला है सौराष्ट्र अवन्ति और वेत्रवती के उत्तरीय प्रदेश की भाषा चकार बहुला है और चर्मवती के उस पार तथा अर्बुद तटीय प्रदेश की भाषा टकार बहुला है।[1] भरत ने इसप्रकार की उकार बहुला भाषा के उदाहरण भी दिए हैं यथा 'मोरल्लउ नच्चन्तउ' इत्यादि। दण्डी के इस कथन से कि काव्य में आभीरादि की भाषा अपभ्रंश कही जाती है यह अनुमान लग जाता है कि भरत की उकार बहुला आभीरोक्ति अपभ्रंश रही होगी। भरत ने जो उदाहरण इस उकार बहुला आभीरोक्ति के दिये हैं उनमें 'छेड़ पिच्च' 'वोल्लुउ' आदिपद हैं भी ठेठ अपभ्रंश के। परन्तु भरत के इन उदाहरणों में प्राकृत प्रभाव इतना अधिक है कि इनको विशुद्ध अपभ्रंश का उदाहरण नहीं माना जा सकता।[2] हाँ अपभ्रंश को जन्म देने वाली प्रवृत्तियों के बीज यहाँ अवश्य देखे जा सकते हैं।[3]

लगभग छठी शताब्दी में पहले पहल हमें अपभ्रंश का एक भाषा विशेष के रूप में उल्लेख मिलता है। वल्लभी सौराष्ट्र के राजा धरसेन द्वितीय के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसका पिता गुहसेन 'संस्कृत प्राकृतापभ्रंश भाषात्रय प्रतिबद्ध

---

१ भरत नाटयशास्त्र

गंगासागरमध्ये तु ये देशाः संप्रकीर्तिताः।
एकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ॥५८॥
विन्ध्यसागरमध्ये तु ये देशा श्रुतिमागताः।
नकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ॥५९॥
सुराष्ट्रावन्तिदेशेषु वेत्रवत्युत्तरेषु च।
ये देशास्तेषु कुर्वीत चकारबहुलामिह ॥६०॥
हिमवत्सिंधुसौवीरान्ये च देशाः समाश्रिताः।
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥६१॥
चर्मण्वतीनदीपारे ये चार्बुदसमाश्रिताः।
तकारबहुलां नित्यं तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥६२॥

२ केशवलाल ह० ध्रुव पद्य रचनानी ऐतिहासिक आलोचना—पृ० २८१ २८६

३ उदयनारायण तिवारी हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास पृ० १२१

प्रबन्ध रचना-निपुणान्तःकरण ' था।[1] जिस गुहसेन का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसके शिलालेख ५५९ ई० से ५६९ ई० के प्राप्त हुए हैं।[2] बूलर प्रस्तुत शिलालेख को कुछ वर्ष बाद का मानते हैं।[3] फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ईसा की छठी शताब्दी में अपभ्रंश भाषा में काव्य रचना होने लग गयी थी यद्यपि प्रमाण स्वरूप उस युग की कोई रचना अभी तक हमें प्राप्त नहीं हो सकी है।

इसी शती के अन्तिम चरण में एक और प्रमाण मिलता है। आचार्य भामह ने अपभ्रंश को काव्योपयोगी भाषा और काव्य का एक विशेष रूप माना है। यथा—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥

—काव्यालंकार १–१६–२८

भामह का यह उल्लेख हमें केवल यही सूचित करता है कि अपभ्रंश भी तत्कालीन एक काव्य-भाषा थी। इस भाषा का प्रयोग कौन करते थे यह कहाँ बोली जाती थी आदि प्रश्नों का उत्तर हमें भामह से नहीं मिलता।

चंड ने अपने प्रसिद्ध व्याकरण प्राकृतलक्षणम् में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग 'न लोपोऽपभ्रंशेऽधोरेफस्य' सूत्र में विशेष-भाषावाचक रूप संज्ञा के रूप में किया है।[4]

दंडी ने अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में काव्य की भाषा के चार भेद बताये हैं— संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश और मिश्रित।

तदेतद् वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्॥

—काव्यादर्श १ ३२

आगे चलकर वह अपभ्रंश का व्याकरण सम्मत रूप और भाषा के रूप में होने वाले प्रयोगों पर प्रकाश डालता हुआ कहता है—

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्॥

—काव्यादर्श १ ३६

अर्थात् भाषा शास्त्र या व्याकरण में अपभ्रंश का अर्थ है संस्कृत के विकृत रूप। काव्य में आभीरादि बोलियाँ अपभ्रंश कहलाती हैं। संस्कृत से इतर भाषाओं को अपभ्रंश कहकर दंडी ने पतंजलि का समर्थन किया है और साथ ही उसने अपभ्रंश और आभीरों के सम्बन्ध का भी उल्लेख किया है। इससे ज्ञात पड़ता है कि दंडी के

---

१ इंडियन एन्टीक्वेरी भा० १० अक्तूबर १८८१ पृ २८४
२ बाम्बे गजेटियर भा १ भा १ पृ० १
३ इंडियन एन्टीक्वेरी (उपरोक्त) पृ २७७
४ चंड प्राकृतलक्षणम्—पृ० २४ सूत्र ३७

समय में अपभ्रंश साहित्यिक भाषा बन चली थी और इसका प्रयोग आभीरों के अतिरिक्त (आभीरादि) अन्य लोग भी करने लग गये थे। इस प्रकार भरत के समय में आभीरी नाम से प्रसिद्ध आभीरोक्ति छठी के समय में अपभ्रंश में परिणित होकर बोलचाल तथा साहित्य की भाषा बन गयी थी।

कुवलयमाला कथा' के रचयिता जैन लेखक उद्योतन सूरि ने (वि० नवीं सदी) अपभ्रंश का प्रयोग एक भाषा विशेष के अर्थ में किया है। वे अपभ्रंश काव्य के बड़े प्रशंसक हैं—वे उसे प्रांजल, प्रवाहमय और मनोहर मानते हैं।[1]

रुद्रट अपने 'काव्यालंकार' में काव्य को गद्य और पद्य में विभाजित करने के पश्चात भाषा के आधार पर उसका छह मार्गों में विभाजन करता है। संस्कृत प्राकृत मागधी, शौरसेनी पिशाच भाषा और अंतिम अपभ्रंश को स्थान भेदों से अनेक स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

भाषाभेद निमित्त षोढा भेदोऽस्य संभवति।

—काव्यालंकार २ ११

प्राकृत संस्कृत मागध पिशाच भाषाश्च शौरसेनीच।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देश विशेषादपभ्रंश ॥

—काव्यालंकार २ १२

इस प्रकार रुद्रट ने अन्य साहित्यिक प्राकृतों के समान ही अपभ्रंश को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और देश भेद के आधार पर विविधता की स्थापना की है।

पुष्पदन्त ने अपने महापुराण में बताया है कि तत्कालीन राजकुमारियों को संस्कृत और प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश का भी ज्ञान कराया जाता था।[2] इसका अर्थ यह हुआ कि लगभग दसवीं शताब्दी में 'अपभ्रंश भरत की 'विभ्रष्ट शब्दावली' से विकसित होकर शिष्ट समुदाय की भाषा बन चली थी।

राजशेखर ने अपने ग्रंथ 'काव्य मीमांसा' में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति ही अपभ्रंश का उल्लेख एक काव्य भाषा के रूप में अनेक बार किया है। काव्य पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है[3]—

शब्दार्थों ते शरीरं, संस्कृतं मुखं प्राकृतं बाहु जघनमपभ्रंश पद्यात्‍ं पादौ उरो मिश्रम्।

---

१ ला० म० गांधी अपभ्रंश काव्यत्रयी—भूमिका पृ० ६७ से उद्धत 'ता कि अवहंसं होहिइ ? हूँ। तं पि जो जेण तं सक्कयपाय—उभय—सुद्धासुद्धपयसमतरंगरंग तवग्गिरं णव-पाउस-जलयपवाहपूरपव्वालियगिरिणइसरिसं समविसम पणय कुवियपियपणइणीसमुल्लावसरिसं मणोहरं।

२ पुष्पदंत महापुराण-५ १८ ६
सक्कऊ पायउ पुण अवहंसउ वित्तउ उप्पाइउ सवंसउ।

३ राजशेखर काव्य मीमांसा

अर्थात् शब्द और अर्थ तेरे शरीर हैं । संस्कृत भाषा मुख है । प्राकृत भाषाएँ तेरी भुजाएँ हैं । अपभ्रंश भाषा जंघा है । पिशाच भाषा चरण है और मिश्र भाषायें वक्ष स्थल है ।

इसी प्रकार राजशेखर ने काव्य विशेषताओं के अनुसार दरबार में कवियों के बैठने के स्थान भी निश्चित किये हैं—

'उत्तर में संस्कृत कवि, पूर्व में प्राकृत कवि, पश्चिम में अपभ्रंश कवि व दक्षिण में पैशाच कवि आसन ग्रहण करें ।

आगे चलकर राजशेखर ने संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के क्षेत्र का निर्देश करते हुए सकल मरु भू, टक्क और भादानक को अपभ्रंश या अपभ्रंश मिश्रित भाषा का प्रयोग करने वाला क्षेत्र कहा है ।[2] एक दूसरे स्थान पर उन्होंने अवन्त और सुराष्ट्र को अपभ्रंश भाषा भाषी कहा है ।[3]

नमि साधु ने रुद्रट के 'काव्यालंकार' पर टीका करते हुए अपनी 'वृत्ति' में लिखा है—

'तथा प्राकृतमेवापभ्रंश स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यात्वभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति । कुतो देश विशेषात् । तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यग वसेयम् ।

वे अपभ्रंश को एक प्रकार से प्राकृत ही मानते हैं । अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट तीन प्रकार की अपभ्रंश—उपनागर आभीर और ग्राम्या—का निर्देश करते हुए स्वीकार करते हैं कि अपभ्रंश के इससे भी अधिक भेद हैं । अपभ्रंश को जानने का सर्वोत्तम साधन लोक ही है । इससे ज्ञात पड़ता है कि इस समय तक अपभ्रंश लोकभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी ।[4]

भोजराज ने अपने 'सरस्वती कंठाभरण' में इसे गुर्जर प्रदेश की प्रिय भाषा के रूप में ग्रहीत किया है ।[5]

---

१ राजशेखर काव्यमीमांसा पृ० ११९ ११
तस्य चोत्तरतः संस्कृता कवयो निविशेरन् । पूर्वेण प्राकृता कवयः ।
पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः । दक्षिणतो भूतभाषाकवयः ।

२ राजशेखर काव्यमीमांसा पृ० १२४
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च ।

३ राजशेखर काव्यमीमांसा पृ० ८३
सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम् ।
अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृत वचांस्यपि ।।

४ नमि साधु काव्यालंकारवृत्ति—२ १२

५ भोजराज सरस्वती कंठाभरण—२ १३
अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः ।

वाग्भट ने भी दंडी के अनुकरण में समस्त वाङ्मय को चार भागों में बांटा है। दंडी ने काव्य-भाषा के चार भेद माने हैं यथा संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश और मिश्रित। वाग्भट का विभाजन इससे थोड़ा भिन्न है। वह मिश्र भाषा के स्थान पर भूतभाषा का उल्लेख करता है अन्य भाषाएं वे ही हैं—संस्कृत प्राकृत व अपभ्रंश।

संस्कृतं प्राकृतं तस्य अपभ्रंशो भूतभाषितम्।
इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम्॥

—वाग्भटालंकार २ १

आगे चलकर उसने भी अपभ्रंश को देश्यभाषा के रूप में ही ग्रहण किया है।

अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्।

—वाग्भटालंकार २ ३

इसी प्रकार अन्य विद्वानों यथा मम्मट, पृथ्वीधर, मार्कण्डेय, रसार्णवकार, विष्णुधर्मोत्तरकर्ता, हेमचन्द्र नारायण अमरचंद लक्ष्मीधर, नाट्यदर्पणकार, पिशेल ग्रियर्सन सुनीति कुमार चटर्जी और मुनि जिन विजय आदि ने अपभ्रंश पर मौलिक और परम्परागत विचार व्यक्त किए हैं, आगे चलकर उन पर यथावसर विचार किया जायेगा। अभी उन पर विचार करना अनावश्यक और असंगत होगा क्योंकि इनके उल्लेख महत्वपूर्ण होते हुए भी बाद के हैं अतः इस स्थान पर उनका अध्ययन अनुपयोगी होगा।

अपभ्रंश विषयक इन भिन्न-भिन्न निर्देशों से निम्न परिणाम निकलते हैं।

१ आरम्भ में अपभ्रंश का प्रयोग शिष्टेतर अथवा अपाणिनीय शब्द रूपों के लिए होता था।

२ भरत ने इसी अर्थ में 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया है।

३ भरत के समय में अपभ्रंश का विकास इतना नहीं हुआ था कि वह भाषा कहला सकती। किन्तु उस समय में अपभ्रंश बीज रूप से वर्तमान थी और इसका प्रयोग एक बोली मात्र के रूप में शबर, आभीर आदि अशिक्षित बनजाती ही किया करते थे।

४ छठी शताब्दी में अपभ्रंश शब्द साहित्यिक भाषा का द्योतक बन गया था और तत्कालीन आलंकारिक और वैयाकरणों द्वारा मान्यता पा चुका था। अपभ्रंश में पर्याप्त साहित्य-सृजन होने लग गया था जो भामह और दंडी जैसे आचार्यों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर चुका था। इतना होने पर भी अभी तक अपभ्रंश का आभीरादि से निकट सम्बन्ध माना जाता था।

५ नवीं शताब्दी में अपभ्रंश को अपेक्षाकृत अधिक सम्मान से देखा जाने लगा था। अब वह केवल शबर, आभीरादिकी बोली नहीं थी अपितु जन-सामान्य की भाषा बन चली थी और उसका व्यवहार प्रायः समूचे उत्तर भारत में सौराष्ट्र से लेकर सुदूर पूर्व में मगध तक होने लगा था। स्थान—भेद से इसमें कुछ अन्तर होना स्वाभाविक ही था, किन्तु काव्योपयोग में आभीरी का ही प्रयोग होता था।

६ ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य तक आलंकारिकों, वैयाकरणों और साहित्यिकों ने मान लिया था कि इस साहित्यिक भाषा के स्थान-भेद से अनेक प्रकार हैं। अपभ्रंश का प्रयोग व्यापक रूप से होने लगा था और उसमें विपुल साहित्य-रचना होने लगी थी। सिद्धों के 'दोहाकोष' व जैनों के 'चरित' अपभ्रंश के ही दो भिन्न प्रकारों में रचे गये। इस प्रकार अपभ्रंश सौराष्ट्र से मगध तक फैल चली थी।

२ अपभ्रंश भाषा का विकास

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की उत्तरकालीन अवस्था को अपभ्रंश का नाम दिया गया है। अपभ्रंश का प्रचार और प्रसार कब से हुआ, इस सम्बन्ध में निश्चित तौर पर कुछ भी कहना कठिन है। ढोला-मारू रा दूहा के सम्पादकों के अनुसार अपभ्रंश का काल विक्रम की दूसरी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक माना जा सकता है।[1] श्यामसुन्दर दास मानते हैं कि अपभ्रंश के बीज ईसा की दूसरी शताब्दी में प्रचलित प्राकृत में अवश्य विद्यमान थे[2] और बारहवीं शताब्दी का मध्य-भाग अपभ्रंश के अस्त और आधुनिक भाषाओं के उदय का काल यथाकथंचित माना जा सकता है।[3] देवेन्द्र कुमार के अनुसार अपभ्रंश का प्रथम परिचय तीसरी सदी ईस्वी से मिलने लगता है, किन्तु वह साहित्यारूढ़ छठीं सदी में हो सकी। बारहवीं सदी तक उसका समृद्धि युग रहा।[4] महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के चतुर्थ अंक में अपभ्रंश के दोहे मिलते हैं। इनकी प्रामाणिकता के विषय में विद्वान एक मत नहीं हैं। एस० पी० पण्डित[5], ब्लूम ब्लाक[6] तथा हर्मन याकोबी आदि विद्वान इन्हें प्रक्षिप्त मानते हैं, परन्तु डा० ए० एन० उपाध्ये एवं डा० तगारे[8] इनको प्रामाणिक मानते हैं। सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इनके प्रक्षिप्त होने पर भी अपभ्रंश का काल ४०० ई० सं० से १००० ई० सं० तक मानते हैं।[9] इस विवाद से बचते हुए डा० धीरेन्द्र वर्मा[10] डा० उदयनारायण तिवारी[11] डा० हजारी प्रसाद[12] आदि विद्वान इसका प्रारम्भ पाँचवीं अथवा छठी सदी से मानते हैं।

---

१ ठाकुर पारीक स्वामी ढोला मारू रा दूहा–भूमिका, पृ० ११०
२ श्यामसुन्दर दास हिन्दी भाषा पृ० १४
३ वही, पृ० ११
४ देवेन्द्रकुमार अपभ्रंश प्रकाश पृ० ७
५ उदयनारायण तिवारी हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १२२से
६ डा० गुणे भविसयत्त कहा भूमिका पृ० १७ से उद्धृत
७ डा० याकोबी भविसयत्त कहा–भूमिका पृ० ५८
८ डा० तगारे हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश
९ डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, पृ० १७८
१ डा० धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास पृ० ४८
११ उदयनारायण तिवारी हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १२२
१२ हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० १२

गुलेरी प्रारम्भ के चक्कर में न पड़ विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता मानते हैं।[1] राहुलजी छठी शती को ही प्राकृत और अपभ्रंश की सीमा रेखा मानने के पक्ष में हैं।[2]

इन विभिन्न धारणाओं के आधार पर निम्न निष्कर्ष अनुमानित किये जा सकते हैं। अपभ्रन्श का आरम्भ अवश्य ईसा की चौथी शती में हो गया होगा पांचवी शती में उसका प्रयोग एक काव्य-भाषा के रूप में होना प्रारम्भ हो चुका होगा और छठवीं शती मे तो इसे शिष्ट समाज में आदर मिलने लगा होगा। वलभी के शासक धर सेन का शिलालेख इस सम्बन्ध में उचित प्रमाण प्रस्तुत करता है। छठवीं शती से ग्यारहवीं शती तक इस भाषा में पुष्कल परिमाण में साहित्य का सृजन होता रहा।[3] काव्य-रचना की यह धारा बारहवीं शती तक चलती रही और तेरहवीं शती में देशभाषाओं में परिणित हो गई।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि तेरहवीं शती के बाद अपभ्रन्श में कुछ भी रचनाएं नहीं हुईं। वास्तविकता तो यह है कि काफी समय तक संस्कृत प्राकृत और अपभ्रन्श का रचना प्रवाह साथ-साथ बहता रहा। संभवतः यही कारण होगा कि रुद्रट ने संस्कृत और प्राकृत के साथ ही अपभ्रन्श को भी साहित्यिक भाषा स्वीकार किया है।[5] भाषा शास्त्रियों ने म० भारतीय आर्य भाषाकाल की मध्यकालीन अवस्था की साहित्यिक प्राकृतों का समय पांच सौ ईस्वी तक और उसके उत्तरकालीन अवस्था की अपभ्रन्श का समय पांच सौ ई० से एक हजार ई० तक माना है।[6] किन्तु प्राकृत का साहित्य पांच सौ ईस्वी के बाद भी लिखा मिलता है। वाक्पतिराज के 'गौडवहो' का समय सातवीं आठवीं सदी माना जाता है। कौतूहल की'लीलावई कहा भी निर्सदेह उत्तरकालीन रचना है। प्राकृत व्याकरण के अध्ययन के फलस्वरूप दक्षिण भारत के अठारहवीं शती के एक कवि राम पाणिवाद ने 'कंसवहो' व 'उसाणिरुद्ध' नामक दो ग्रंथों का भागवत पुराण के आधार पर प्राकृत में प्रणयन किया। अर्थात प्रथम ईस्वी शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक सामान्यतः और अठारहवीं शती के आरम्भ तक विरलतः प्राकृत साहित्य लिखा जाता रहा है। इसी प्रकार संस्कृत भाषा में अद्यावधि काव्य सृजन होता ही है। अपभ्रन्श के सम्बन्ध में भी प्राकृत की बात दोहराई जा सकती है। डा० उपाध्ये ने योगीन्दु के 'परमप्पयासु' और 'योगसार'

---

१ चंद्रधर शर्मा गुलेरी पुरानी हिंदी पृ० ८
२ राहुल सांकृत्यायन दोहाकोष-भूमिका पृ० ६
३ नेमिचन्द्र जैन हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन-भाग १, पृ० २७
४ टेसीटरी पुरानी राजस्थानी पृ० ८
५ रुद्रट काव्यालंकार पृ० २१२
६ डा० हरिवंश कोछड़, अपभ्रन्श साहित्य पृ० १६
७ डा० हरदेव बाहरी, प्राकृत और उसका साहित्य, पृ० १४२

का समय छठी शताब्दी के लगभग माना है। तब से लेकर तेरहवीं शती तक विशेष रूप से और सत्रहवीं शती तक अपवाद रूप से अपभ्रंश में काव्य रचना होती रही है। भगवतीदास का 'मृगांक लेखा चरित' या 'मृगांकलेखा' विक्रम संवत् १७०० में लिखा गया है।[1] जिस प्रकार संस्कृत और प्राकृत में रचनायें कुछ काल तक समानान्तर रूप से लिखी जाती रहीं, उसी प्रकार अपभ्रंश का भी प्राकृत के साथ प्रचार रहा। इसी प्रकार अपभ्रंश का आधुनिक आर्य भाषाओं के पूर्व रूपों के साथ भी प्रचलन रहा। अपभ्रंश यद्यपि १२ वीं शती से बोलचाल की भाषा नहीं थी, केवल साहित्य की भाषा थी फिर भी वह १५ वीं शती तक स्वतन्त्र रूप से अथवा मध्यतर प्रादेशिक भाषाओं में घुलमिलकर प्रयोग में आती रही है। इस तथ्य का समर्थन हमें सिद्धसाहित्य से मिलता है।

सिद्धों की रचनाओं के दो रूप उपलब्ध हैं—१ दोहाकोष २ चर्यापद। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने दोहाकोषों और चर्यापदों में ही दो प्रकार की उपभाषाओं की ओर संकेत किया है। चर्यापदों की भाषा पूर्वी है, जिसे वे पुरानी बंगाली कहते हैं क्योंकि उसमें बहुत से क्रिया रूप, शब्द रूप तथा ऐसे मुहावरे हैं, जिसकी परम्परा पुरानी बंगाली में चली आई है। दोहाकोषों में एक ही भाषा है पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रंश।[2] 'डाकार्णव' के सम्पादक डा० नगेन्द्रनारायण चौधरी डाकार्णव की भाषा को शौरसेनी अपभ्रंश पर आधारित मानते हैं, किन्तु कहीं-कहीं पर उसमें पूर्वी बंगाल के शब्द रूपों उच्चारणों तथा मुहावरों का प्रभाव मानते हैं।[3] इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये डा० धर्मवीर भारती की मान्यता है—दोहे लिखते समय सिद्धों ने पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग किया, क्योंकि वह भाषा दोहों में मँज चुकी थी, किन्तु जब उन्होंने गेय पद लिखे तो स्थानीय बोली को आधार बनाया। किन्तु चूंकि वह बोली अभी काव्य में मँजी नहीं थी अत स्थान-स्थान पर उन्होंने अभिव्यक्ति और काव्य परिष्कार के लिये शौरसेनी का सहारा लिया।[4]

भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में उकार बहुला भाषा का प्रयोग हिमवत् सिन्धु सौवीर और इनके आश्रित देशों के लोगों के लिये करने का आदेश दिया है।[5] इससे ज्ञात होता है कि अपभ्रंश की विशेषतायें भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में प्रकट होने लग गई थी। इस उकार बहुला अपभ्रंश की प्रवृत्ति पर हाल में शंकायें उठाई गई हैं। डा० परशुराम ल० वैद्य ने विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित

---

१ डा० हरिवंश कोछड़—अपभ्रंश साहित्य पृ० १७
२ चटर्जी-आरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० ११२
३ डा० नगेन्द्रनारायण चौधरी डाकार्णव, पृ० १९
४ डा० धर्मवीर भारती सिद्ध-साहित्य, पृ० २८१
५ भरत, नाट्यशास्त्र पृ० १७-६२

हिमवत्सिन्धुसौवीरान् ये जनाः समुपाश्रिता।
उकार बहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥

किया है कि अपभ्रंश के अतिरिक्त 'प्राकृत धम्मपद' 'ललित विस्तर' और 'सद्धर्म पुण्डरीक' जैसे बौद्ध ग्रंथों में भी उकार की प्रवृत्ति पाई जाती है। अत उकार बहुला भाषा का अर्थ केवल अपभ्रंश ही बताना ठीक नहीं होगा। नामवर सिंह ने विस्तार पूर्वक बताया है कि 'प्राकृत धम्मपद' की रचना पेशावर के आसपास खेतान के निकट गोशृंग अथवा गोशीर्ष विहार में प्राप्त हुई थी।[1] यह भरत के निर्देशानुसार उकार बहुला भाषा का ही क्षेत्र था और इसलिये 'धम्मपद' की प्राकृत पर स्थानीय प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। इसी प्रकार 'ललित विस्तर' में क्षेपकों की भरमार है। इसका रूप लगभग चौथी शती में स्थिर हुआ था चूंकि चौथी शती मे अपभ्रंश का उद्भव हो चुका था, इसीलिए ललित विस्तर' में इस उकार बहुला भाषा का प्रभाव दीख पड़ता है। राजशेखर ने अपने ग्रंथ 'काव्य–मीमांसा' में अपभ्रंश का विस्तार क्षेत्र सकल मरुभूमि, टक्क और भादानक बताया है।[2] इससे प्रतीत होता है कि राजशेखर के समय तक अपभ्रंश का प्रसार राजस्थान, पंजाब, सौराष्ट्र, गुजरात तथा समस्त पश्चिमोत्तर भारत में हो गया था। धनै धनै इसका प्रसार बढ़ता गया और नवीं शती में इसका प्रचार हिमालय की तराई से गोदावरी और सिन्ध से ब्रह्मपुत्र तक था।[3] अपभ्रंश कविता पर विचार करते हुए राहुल जी ने लिखा है—जहां सरहपा और सबरपा बिहार–बंगाल के निवासी थे वहां अब्दुर्रहमान का जन्म मुल्तान में हुआ था। स्वयंभू और कनकामर यामर अवधी और बुंदेली क्षेत्रयुक्त प्रान्त के थे, तो हेमचन्द्र और सोमप्रभ गुजरात के और रसिक तथा आश्रयदाता होने के कारण मान्यखेट (मालखेड़-दक्षिण हैदराबाद) का भी इस साहित्य के सृजन में हाथ रहा है। इस प्रकार हिमालय से गोदावरी और सिन्ध से ब्रह्मपुत्र तक ने इस साहित्य के निर्माण में हाथ बंटाया है। इससे जान पड़ता है कि अपभ्रंश के नाम से पहिचानी जाती एक साहित्यिक भाषा होनी चाहिए जो इस विस्तृत भू भाग में कविता के लिये प्रयुक्त की जाती रही है। और जिससे कालान्तर में विभिन्न अर्वाचीन आर्य भाषाओं का विकास हुआ। लेकिन यह बिल्कुल संभव नहीं है कि एक ही प्राकृतोत्तर अपभ्रंश से आधुनिक विभिन्न आर्य भाषायें विकसित हुई हों। उदाहरणार्थ मागधी प्राकृत से जो अपभ्रंश भाषा विकसित हुई, वही आधुनिक बंगला उड़िया, आसामी, मागधी मैथिली और भोजपुरी के रूप में बदल गई हो, यह संभव नहीं जान पड़ता है। इन सबकी पूर्ववर्ती अपभ्रंश भाषायें निश्चय ही अलग-अलग रूपों

---

१ नामवरसिंह–हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का प्रयोग पृ० १८

२ राजशेखर–काव्यमीमांसा पृ० १२४

३ नेमिचन्द्र जैन–हिन्दी जैन साहित्य-परिशीलन, पृ० २०

४ राहुल सांस्कृत्यायन–हिन्दी काव्य धारा–भूमिका पृ० ११

में रही होंगी।[1] इसी मत को ग्रियर्सन[2], पिशेल[3], हर्नले[4] पंडित कामताप्रसाद गुरु[5], डा० धीरेन्द्र वर्मा प्रभृति[6], पंडित मानते हैं।

आजकल प्रत्येक प्राकृत के अपभ्रंश रूप की कल्पना की जाने लगी है, किन्तु व्याकरण के प्राचीन ग्रंथों में इस प्रकार का विभाजन नहीं दिखाई देता। रुद्रटने अवश्य अपने 'काव्यालंकार' में देश भेद से अपभ्रंश के अनेक भेदों का निर्देश किया है।[7] अपभ्रंश में अनेकता की स्थापना बहुत से उत्तरकालीन वैयाकरणों द्वारा भी की गई है। नमिसाधु[8] रामचन्द्र गुणचन्द्र[9], पुरुषोत्तम[10], रामतर्क वागीश[11], क्रमदीश्वर[12] शारदातनय[13], आदि ने अपभ्रंश में अपने अपने ढंग से अनेकता की स्थापना है किन्तु सभी का उल्लेख अपूर्ण और अपर्याप्त है। शेषकृष्ण की 'प्राकृत चंद्रिका' में अपभ्रंश के सत्ताईस भेद स्थापित[14] करने की चेष्टा की गई है। मार्कण्डेय ने अपने प्राकृत सर्वस्व में प्राकृत चंद्रिका से जो लक्षण और उदाहरण उद्धृत किए हैं इतने अपर्याप्त और अस्पष्ट हैं कि स्वयं मार्कण्डेयने इनको सूक्ष्म कहकर नगण्य बताया है और इनका पृथक-पृथक लक्षण निर्देश न कर इन सभी को नागर, व्राचड

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी–हिन्दी-साहित्य पृ० ९
२ इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका भाग, २२ पृ० २५१
३ पिशेल प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ० ४८–हिन्दी अनुवाद
४ हर्नले–ए कम्पेरेटिव ग्रेमर आफ गौडियन लेंग्वेजेज-भूमिका पृ० ११ १२
५ पं० कामताप्रसाद–हिन्दी व्याकरण पृ १७
६ डा धीरेन्द्र वर्मा–हिन्दी भाषा का इतिहास-भूमिका पृ ४९ ५
७ रुद्रट–काव्यालंकार, पृ० २ १२

षष्ठो च भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः

८ नमिसाधु-काव्यालंकार वृत्ति पृ० २ १२
९ रामचंद्र गुणचंद्र–नाट्य दर्पण पृ० २ ९
१० पुरुषोत्तम-प्राकृतानुशासन-प्राकृत विमर्श पृ० ७
११ रामतर्क वागीश–प्राकृत कल्पतरु–प्राकृत विमर्श पृ० ८
१२ क्रमदीश्वर-संक्षिप्त सार आठवां परिच्छेद
१३ शारदातनय–भावप्रकाशन पृ ११
१४ 'प्राकृत चंद्रिका' के भेद ये हैं—

व्राचडो लाटवैदर्भावुपनागरनागरो।
बार्बरावन्त्यपांचालटाक्कमालवकैकयाः।
गौडोड्रैवपाश्चात्यपाण्ड्यकौन्तलसैंहलाः।
कालिंग्यप्राच्यकार्णाटकांच्यद्राविडगौर्जराः।
आभीरो मध्यदेशीयः सूक्ष्मभेद व्यवस्थिताः।
सप्त विंशत्यपभ्रंशा वेतालादिप्रभेदतः।

और उप नागर इन तीन प्रधान भेदों में ही अन्तर्मुक्त माना है[1] 'कुवलय-माला' में अठारह देशी बोलियों के नाम गिनाये हैं। राहुल जी उनकी गणना अपभ्रंश के प्रकारों में करते हैं।[2]

अपभ्रंश का जो भी साहित्य मिलता है वह बहुत कम भाषागत भेदों को लिए है। यह समस्त साहित्य एक ही परिनिष्ठित भाषा का है यद्यपि उसमें स्थानीय प्रभाव अल्पमात्रा में मिल सकता है। ग्यारहवीं शती में नमिसाधु ने अपभ्रंश के तीन भेद उपनागर, आभीर और ग्राम्य गिनाये हैं। पुरुषोत्तम ने बारहवीं शती में अपभ्रंश के नागरक, व्राचड और उपनागरक भेद माने हैं। तेरहवीं शती में शारदातनय ने नागरक उपनागरक और ग्राम्य ये तीन प्रकार माने। सत्रहवीं शती में मार्कण्डेय ने नागर उपनागर और व्राचड ये तीन भेद माने उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। व्राचड अपेक्षा कृत अपरिष्कृत मानी गई है। परिष्कृत अपभ्रंश को नागर पुकारा गया है। जब यह प्राकृत से मिश्रित होती तो उसे उपनागर कहा जाता था।[3] यह विभाजन देशगत न होकर संस्कार की दृष्टि से किया गया है अतः आधुनिक आर्य भाषाओं की उत्पत्ति और विकास को समझने के लिए उपयुक्त नहीं है। इसी समस्या के निराकरण के लिए प्राकृतों के अनुरूप ही विभिन्न अपभ्रंशों की कल्पना की गई। देशगत भेदों को संस्कार के आधार पर किए गए भेदों में अन्तर्भुक्त मानना अनुचित है क्योंकि जब भाषाओं के उत्पत्ति-स्थान भिन्न भिन्न प्रदेश हैं और जिनकी प्रकृति भी भिन्न भिन्न प्रदेश की प्राकृत भाषाएं हैं तब ये अपभ्रंश भाषायें भी भिन्न-भिन्न ही हो सकती हैं और उन सबका समावेश एक दूसरे में नहीं किया जा सकता।[4] वास्तव में बात यह है कि अपभ्रंश के देशगत कई प्रकार थे किन्तु चूंकि वे साहित्य में गृहीत नहीं होते थे, अतः परवर्ती और उत्तरकालीन वैयाकरण उनके नमूने नहीं पा सके होंगे। उपयुक्त उदाहरणों के अभाव में इसके अतिरिक्त और हो भी क्या सकता था? डा. धीरेन्द्र वर्मा भी इसी धारणा को प्रकट करते दिखाई देते हैं।[5] अवश्य ही बोलचाल की अनेक जनपदीय भाषाओं का प्रचलन होता रहा होगा।

इसी धारणा की पुष्टि हमें 'रविकर' के कथन में मिलती है। रविकरने अपभ्रंश के दो रूप दिये हैं—एक का विकास साहित्यिक प्राकृत के आधार पर हुआ परन्तु विभक्ति समास शब्द-विन्यास आदि की दृष्टि से वह भिन्न है और दूसरा देशी भाषा का रूप है।[6] यह देशी स्वरूप साहित्य में अधिक व्यवहृत नहीं होने के

१ मार्कण्डेय प्राकृत सर्वस्व, पृ० ३ तथा १२२
२ राहुल सांकृत्यायन हिन्दी काव्यधारा—भूमिका पृ० ७
३ कीथ हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३५
४ हरगोविन्ददास सेठ पाइअ सद्द महण्णवो—भूमिका, पृ० ४२
५ डा० धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास—भूमिका पृ० ५०
६ डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल प्राकृत विमर्श पृ० ८

कारण आज अज्ञेय है किन्तु अपभ्रंश का एक स्वरूप जो साहित्यिक भाषा के रूप में मान्य था, उपलब्ध है। अपभ्रंश के किस रूप (या किन रूपों) का प्रयोग साहित्य में होता था, इसके विषय में कुछ मतभेद अवश्य है किन्तु पश्चिमी वर्ग के वैयाकरणों ने साहित्य में प्रयुक्त अपभ्रंश का आधार शौरसेनी ही माना है और यह अनुमान किया जा सकता है कि शौरसेनी अपभ्रंश ही काव्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी।[1] डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का भी यही मत है कि पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रंश ही समूचे आर्यभारत, गुजरात व पश्चिमी पंजाब से बंगाल तक प्रचलित 'लिंग्वा फ्रैंका' बन गई थी जो मधुर और काव्योपयुक्त भाषा मानी जाती थी।[2] फिर भी उस समय आधुनिक आर्यभाषाओं का स्वरूप गठित हो रहा था। कुछ समय तक तो पुरानी शौरसेनी अपभ्रंश ही काव्य की भाषा के रूप में प्रयुक्त होती रही और विभिन्न प्रदेशों की बोलियां कभी-कभी उस प्रदेश में रचे जाने वाले साहित्य को प्रभावित करती रहीं। बाद में ये बोलियां भी स्वतंत्र काव्य भाषाओं के रूप में प्रयुक्त होने लगीं।[3] बाद में अक्सर ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि एक ही कवि नई काव्य भाषा में भी रचना करता है और पुरानी अपभ्रंश में भी अपना काव्य चमत्कार दिखाने का प्रयास करता है जैसे विद्यापति। इस प्रकार की दोनों भाषाओं यथा अपभ्रंश और देशी का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि उस काल में ये दोनों भाषा रूप प्रचलित थे और शिक्षितों द्वारा समझे जाते थे।[4]

भारतीय आर्य भाषा के विकास की जिस अवस्था को आज हम अपभ्रंश के नाम से पुकारते हैं, उसके लिए सदा 'अपभ्रंश' संज्ञा का व्यवहार नहीं हुआ है। प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में उसका उल्लेख 'अपभ्रंश और 'अपभ्रष्ट' के रूप में किया गया गया है। अधिकांश संस्कृत विद्वानों ने 'अपभ्रंश' शब्द का ही प्रयोग किया है, 'अपभ्रष्ट' शब्द का उल्लेख बहुत कम मिलता है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण' जैसे दो एक ग्रंथों में ही 'अपभ्रष्ट' संज्ञा का व्यवहार किया है।[5] किन्तु प्राकृत–अपभ्रंश ग्रंथों में 'अवब्भंस' 'अवहंस' 'अवहत्थ' 'अवहट्ट' 'अवहठ, 'अवहट' आदि नाम भी मिलते हैं। परवर्ती कवियों द्वारा इन शब्दों का प्रयोग अधिकतर किया है। अवहट्ठ का यथावधि

---

१ डा० रामसिंह तोमर प्राकृत व अपभ्रंश साहित्य का इतिहास और हिन्दी पर उसका प्रभाव पृ० ६२-७२

२ चटर्जी ओरिजिन एंड डेवलपमेंट आफ बंगाली लेंग्वेज पृ० १११

३ वही, पृ० १११ ११४

४ डा० धर्मवीर भारती सिद्ध साहित्य पृ० २८८

५ डा भंडारकर रिपोर्ट आन दी सर्च फार एम एस एस १८८७-९४ पृ०७१

६ विष्णुधर्मोत्तरस्तो विष्णुधर्मोत्तर पुराण–खं० ३ अध्याय ३
अपभ्रष्टं तृतीयं च तदनन्तं नराधिप।
देशभाषा विशेषेण तस्यान्तो नेह विद्यते।

का सबसे पहला प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर के 'वर्णरत्नाकर'–१३२५ ई० में मिलता है।[1] वहाँ राज सभा में भाट द्वारा षड्भाषाओं की गणना की जाती है। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' की अपनी भाषा की प्रशंसा करते हुए उसे 'अवहट्ट' कह कर पुकारा है।[2] 'प्राकृत-पैंगलम्' के टीकाकार वंशीधर की राय में 'प्राकृत पैंगलम्' की भाषा अवहट्ट ही है।[3] 'संदेश रासक' के रचयिता अब्दुर्रहमान ने अपने काव्य की भाषा को अवहट्ट कहा है।[4] 'कुवलयमाला कहा' के रचयिता उद्योतनसूरी ने 'अवहंस' शब्द का प्रयोग किया है।[5] इसी शब्द का प्रयोग कहीं अवब्भंस के रूप में भी हुआ है।[6] पुष्पदन्त संस्कृत और प्राकृत के साथ 'अवहंस' की गणना करते हैं।[7] स्वयम्भू देव अपनी रामायण में इसे 'अवहत्थ' कहकर पुकारते हैं।[8]

अपभ्रंश को दी जाने वाली विभिन्न संज्ञाओं पर विचार करते हुए नामवर सिंह कहते हैं कि 'अवहत्थ, अवहट्ट, अवहंस, अवहट आदि रूप अपभ्रंश अथवा अपभ्रष्ट के तद्भव रूप हैं। प्राकृत अपभ्रंश के ग्रंथों में जहाँ संस्कृत के लिए सक्कय और प्राकृत के पाइय पाउंअ आदि रूप व्यवहृत हैं वहाँ अपभ्रंश का अवब्भंस और

१ ज्योतिरीश्वर ठाकुर वर्णरत्नाकर–२५ ख पृ० ४४
पुनु कइसन भाट संस्कृत पराकृत, अवहट्ट पैशाची शौरसेनी मागधी छहु भाषाक तत्वज्ञ।

२ विद्यापति कीर्तिलता, प्रथम पल्लव
सक्कय वाणी बुहअन भावइ।
पाउंअ रस को मम्म न पावइ ॥२०॥
देसिल बअना सब जन मिट्ठा।
तें तैसन जम्पओ अवहट्टा ॥२१॥

३ वंशीधर प्राकृत पैंगलम् टीका पृ० ३
पढम भास तरण्डो
णाओ सो पिंगलो जअइ। गाथा १।
टीका—प्रथमो भाषातरंड प्रथम आद्य भाषा अवहट्ट भाषा
यया भाषया अयं ग्रंथो रचित सा अवहट्ट भाषा।

४ अब्दुर्रहमान संदेश रासक—प्रथम प्रक्रम–छं–६
अवहट्टय सक्कय पाइयंमि पैसाइयंमि भासाए
लक्खणछन्दाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहिं।

५ एस० बी० पांडी अपभ्रंश काव्यत्रयी पृ० ६७–६८
६ अल्फ्रेड मास्टर बी० एस० ओ० ए० एस०, भाग १३ २
किं पि अवब्भंस कया ता।
७ पुष्पदन्त महापुराण–संधि ५–कडवक १८
८ स्वयंभू पउमचरिउ। रामायण १४। 'हिन्दी काव्यधारा' में उद्धृत

अवहंस हो जाना स्वाभाविक है।[1] उनकी दृष्टि में अपभ्रंश, अपभ्रष्ट, अवहंस, अवभ्रंश, अवहट्ट, अवहट्ठ आदि सभी शब्द समानार्थी हैं।[2] किन्तु शिवप्रसाद सिंह इसे नहीं मानते। उनके अनुसार हम इन शब्दों के प्रयोगों के कालक्रम पर विचार करें तो एक महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आता है। संस्कृत के अलंकारिकों ने अपभ्रंश भाषा के लिए सर्वत्र 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किया। या यह कि उनके द्वारा रखा गया यह नाम ही इस भाषा के लिए रूढ़ हो गया है। किन्तु प्राकृत के कवियों ने इसे अवहंस कहा। अपभ्रंश कवियों पुष्पदन्त आदि ने भी इसे अवहंस ही कहा। 'अवहट्ठ' कहा अद्दहमाण (अब्दुर्रहमान) ने 'प्राकृत पैंगलम्' के टीकाकार वंशीधर ने, विद्यापति और ज्योतिरीश्वर ने। इस आधार पर विचार करने से लगता है कि 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग केवल परवर्ती अपभ्रंश के कवियों ने किया। क्या इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि परवर्ती अपभ्रंश के इन लेखकों ने इस शब्द का प्रयोग जान बूझ कर किया। अपभ्रंश या अवहंस या बहुप्रचलित 'देशी' शब्द का प्रयोग भी कर सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इससे सहज अनुमान किया जा सकता है कि अवहट्ठ शब्द पीछे का है और इसका उपयोग परवर्ती अपभ्रंश के कवियों ने पूर्ववर्ती अपभ्रंश की तुलना में थोड़ी परिवर्तित भाषा के लिए किया। वंशीधर ने तो अपनी टीका (संस्कृत) में सर्वत्र अवहट्ठ ही लिखा जब कि (संस्कृत) में अपभ्रंश या अपभ्रष्ट का प्रयोग ही प्राय होता था।[3] अर्थात् इस शब्द के मूल में परिनिष्ठित अपभ्रंश के और भी अधिक विकसित होने की भावना थी। इन तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि अपभ्रंश के बाद की स्थिति अवहट्ठ है। अपभ्रंश के व्याकरणिक आधार पर—प्रान्तीय शब्दों और रूपों के मेल से जो भाषा विकसित हुई—वह अवहट्ट थी इसका काल तेरहवीं सदी से पन्द्रहवीं सदी तक माना जाता है।[5] डा० चाटुर्ज्या विद्यापति के अवहट्ट पर विचार करते हुए इसी मान्यता को स्वीकार करते हैं।[6] टिबेटिया इसे कनिष्ठ अपभ्रंश मानते हैं और इसे बारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक की विकसित भाषा स्वीकार करते हैं।

हम पहले बता चुके हैं कि परिनिष्ठित भाषा के रूप में शौरसेनी अपभ्रंश का समस्त उत्तर भारत में प्रचार था किन्तु स्थानीय बोलियां भी समानान्तर रूप से विकसित हो रही थीं। स्थानीय जनपदीय बोलियों का विकास कालान्तर में आधुनिक आर्य-भाषाओं में हुआ किन्तु परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश अपना स्वरूप बरकारी

१ नामवर सिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग पृ० १
२ वही पृ० २
३ शिवप्रसाद सिंह कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा पृ० ९
४ देवेन्द्रकुमार अपभ्रंश प्रकाश पृ० ७
५ वही पृ० २१
६ चटर्जी ओरिजिन एंड डवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० ११४
७ टिबेटिया गुजराती लैंग्वेज एंड लिटरेचर भाग १, पृ० ४०

कवियों के सहयोग से टिकाने का यत्न करने लगी। भाट—चारणादि कवियों द्वारा व्यवहृत अपभ्रंश भाषा में भी धीरे धीरे परिवर्तन लाना जरूरी हो गया ताकि उसे दरबारी तथा सामन्तगण समझ सकें। इस प्रकार साहित्यिक अपभ्रंश का यह विकृत स्वरूप अवहट्ट नाम से पहचाना जाने लगा।[1] डा० चाटुर्ज्या के अनुसार विद्यापति की अवहट्ट भी औपचारिक स्तुतिपरक दरबारी कविता की भाषा तक ही सीमित है।[2] इन सब तथ्यों के आधार पर निम्न बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

(१) अवहट्ट वस्तुतः अपभ्रंश ही है।

(२) अवहट्ट नाम से अपभ्रंश की विकसित अवस्था परवर्ती कनिष्ट अपभ्रंश का बोध होता है, जो अपभ्रंश के साहित्यिक आधार पर विकसित हुई।

(३) इसके विकास में दरबारी कविता की परम्परा का बड़ा भारी हाथ रहा है।

(४) अवहट्ट में स्थानीय प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है।

इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ में अपभ्रंश को व्यापक अर्थ में ग्रहीत किया गया है जिसमें अवहट्ट भी आ जाती है।

विद्यापति के पूर्वांकित उद्धरण 'देसिलबअना सब जन मिट्ठा' को लेकर कुछ विद्वानों ने अपभ्रंश को देसी या देशी माना है। इस दिशा में विभिन्न विद्वानों ने काफी काम किया है। पिशेल ने अपने प्राकृत भाषाओं के व्याकरण में 'देसी' पर विचार किया है।[3] ग्रियर्सन ने अपने एक विस्तृत निबन्ध 'आन दी मार्डर्न इण्डो आर्यन वर्नाक्यूलर्स' में भी इस सम्बन्ध में प्रकाश डाला है।[4] डा० उपाध्येने ब्रिटानिका एंसाइक्लोपीडिया आफ लिटरेचर में प्रकाशित अपने निबन्ध 'प्राकृत लिटरेचर' में इस प्रश्न को उठाया है और डा० तगारे ने तो अपनी पुस्तक 'हिस्टोरिकल ग्रेमर आफ अपभ्रंश' में 'देसी और अपभ्रंश' शीर्षक अलग विस्तृत अध्याय लिख डाला है। विद्यापति की उक्त पंक्तियों के आधार पर डा० बाबूराम सक्सेना देसी और अवहट्ट को एक ही मानते हैं।[5] डा० हीरा लाल जैन स्वयंभू, पुष्पदन्त पद्मदेव प्रभृति अपभ्रंश के कवियों के लम्बे उद्धरण देकर सिद्ध करते हैं कि उनकी भाषा देसी थी।[6] किन्तु प्रसिद्ध भाषाविद् चूलस्साक अपभ्रंश अर्थात् देसी इस धारणा को सही नहीं मानते। अतः देसी शब्द के प्रयोग का विकास-क्रम जानना ही ऐसी दशा में एक मात्र मार्ग हो सकता है, जिससे हम सच्चाई तक पहुँच सकें।

---

१ म० वि० मोदी अपभ्रंश पाठावली पृ० २०

२ चटर्जी आरिजिन एंड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज—भूमिका पृ० ११४

३ पिशेल प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (हिन्दी अनुवाद), पृ० १४ १५

४ ग्रियर्सन इंडियन एंटिक्वेरी, १९३१ ३३

५ बाबूराम सक्सेना कीर्तिलता—भूमिका, पृ० ७

६ डा हीरालाल जैन पाहुड दोहा—भूमिका भाग

७ वही—पृ० ३३

देशी शब्द का प्रयोग भरत ने अपने नाटयशास्त्रों में भी किया है, किन्तु वहां भाषा देशी नहीं है शब्द देशी है। उनकी राय में जो शब्द संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों से भिन्न हो, उन्हें देशी मानना चाहिए। भरत के देशी शब्द की यह परिभाषा प्राय बहुत पीछे तक आलंकारिकों और वैयाकरणों द्वारा मान्य रही है। बारहवीं शती के प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित देशीनाममाला' ऐसे ही शब्दों को लेकर चली है जिनकी व्युत्पत्ति प्रकृति प्रत्यय के आधार पर न सिद्ध हो सके। उन्होंने उन शब्दों को देशी माना है जो 'लक्षण' से सिद्ध नहीं होते हैं।[1] देशी शब्द के बारे में वैयाकरणों और आलंकारिकों की ऊपर कथित व्युत्पत्ति प्रणाली को ही लक्ष्य करके पिशेलने कहा था कि ये वैयाकरण प्राकृत और संस्कृत के प्रत्येक ऐसे शब्द को देशी कह सकते हैं जिसकी व्युत्पत्ति संस्कृत से न निकाली जा सके।[2] इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि 'देशी' का प्रयोग शब्द के लिए हुआ है और भरत व्यट हेमचन्द्राचार्य व पिशेल आदि वैयाकरण मानकर चलते हैं कि प्रत्यय प्रकृति-विचार के घेरे के बाहर के शब्द देशी हैं।

भाषा अथवा बोली के लिए भी 'देशी' विशेषण अथवा संज्ञा का उपयोग किया जाता रहा है। 'तरंगावई कहा' के प्रणेता पादलिप्त ने अपनी प्राकृत भाषा को 'देसी वयण' कहा है।[3] उद्योतन सूरी ने अपनी रचना 'कुवलयमाला' में महाराष्ट्री प्राकृत को देशी नाम दिया है और उसका प्राकृत—सम्भवत शौरसेनी से भेद स्थापित किया है। कौतूहल ने 'लीलावई कहा' में महाराष्ट्री प्राकृत को ही देशी भाषा कहा है।[4] इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि भाषा के रूप में देशी शब्द का यहां प्राकृत के लिए प्रयोग हुआ है किन्तु परवर्ती कवियों ने अपभ्रंश को भी देसी कह कर पुकारा है। स्वयंभू ने अपनी रामायण—पउम चरिउ—को ग्रामीण भाषा अथवा देसी भाषा में रचित बताया है।[6] अपभ्रंश के दूसरे एक महान कवि पुष्पदन्त ने भी 'महापुराण

---

१ हेमचन्द्राचार्य देशी नाम माला
२ पिशेल प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (हिन्दी अनुवाद) पृ० १४ १५
३ पादलिप्त तरंगावती कथा
पालित्तएण रइया वित्थरओ तस्स देसी वयणेहिं।
नामेण तरंगवई कहा विचित्ता विचित्ता विउलाय।
याकोबी द्वारा सनत्कुमार चरित—भूमिका पृ १७
४ कोउहल लीलावई कहा—सं० आ० ने० उपाध्ये द्वारा भूमिका में उद्धृत गाथा
भासा रइया मरहठ्ठ देसी वयण निबद्धा।
५ कोउहल लीलावई कहा—गाथा १३०
भणियं च पियय माए रइयं मरहठ्ठ देसी भासाए
अंगाई इमीअे कहाए सज्जण संग जोग गाई।
६ (क) स्वयंभू रामायण—हिंदी काव्यधारा—पृ० २६
पुण होंति सुहासिय—वयणाई। गामेल्लभास परिहरणाई।

में अपनी काव्य-भाषा को देसी के नाम से पुकारा है।[1] एक सहस्र ईसवी में कवि पद्मदेव ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ पासणाह चरिउ की भाषा को 'देसी सद्दत्थगाढ़' से युक्त बताया।[2] इन सब उल्लेखों से ज्ञात पड़ता है कि परवर्ती काल में अपभ्रंश देशी भाषा कहलाने लगी थी।

जब अपभ्रंश साहित्यिक सिंहासन पर आरूढ़ होकर रूढ़ि-ग्रस्त हो गई तो उसकी तुलना में अवहट्ठ को भी देसी कहा जाने लगा। इसी प्रकार जनपदीय बोलियां भी देसी नाम से पुकारी जाने लगीं। विद्यापति का [3] उल्लेख हमारे कथन का समर्थन करता है। महाराष्ट्र के सन्त कवि ज्ञानेश्वर ने भी देसी शब्द का प्रयोग पुरानी मराठी के लिए किया है। इन निर्देशों से ज्ञात पड़ता है कि देशी शब्द का प्रयोग प्राकृत अपभ्रंश अवहट्ठ और जनपदीय बोलियों के लिए समय समय पर होता रहा है। वस्तुतः देशी विशेषण एक सापेक्षित शब्द है। प्राकृत से भी पहले पालि के लिए इस संज्ञा का प्रयोग किया जाता था। भगवान बुद्ध ने अपना उपदेश देश भाषा मे ही किया था और उसी भाषा में उन्हें सुरक्षित रखने का आदेश भी दिया था।[4] तात्पर्य यह है कि प्रत्येक युग में साहित्यारूढ़ भाषा के समानान्तर कोई न कोई देशी भाषा रही है जो जनता के सामान्य समुदाय द्वारा प्रयुक्त होती रही है। उसे ही सदा देसी कहा जाता रहा है, अतः देसी का अर्थ केवल अपभ्रंश मानना अनुचित है।

डाक्टर कीथ ने अपने ग्रंथ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में पहले खण्ड में भाषाओं का विवेचन किया है। उन्होंने रुद्रट और दण्डी का आश्रय लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अपभ्रंश किसी रूप में कभी देश भाषा नहीं थी। वह आभीर गुर्जर आदि विदेशी आक्रमणकारियों की भाषा थी और उन्हीं के साथ-साथ उसका प्रसार व उसकी प्रतिष्ठा हुई अतएव उसे मध्यकालीन प्राकृतों और आधुनिक

(ख) वही–
देसी भासा उभय तडुज्जल (कवि दुक्कर–घण सद्–सिलायल)

१ पुष्पदन्त महापुराण—१/८/१०
ण वियाणमि देसी।

२ पद्मदेव पासणाह चरिउ
वायरणु देसि सद्दत्थगाढ़
छंदालंकार विसाल पोढ़।
जइ एयाइ बहुलक्खणेहि
इय विरइयं कव्व वियक्खणेहिं।

३ देसिल बयना सब जन मिट्ठा।

४ ज्ञानेश्वर ज्ञानेश्वरी अध्याय १८
आम्ही प्राकृतें देसी कारें बन्धें गीता।

५ डा० कोलते विक्रम स्मृति ग्रंथ पृ० ४७९

६ नामवर सिंह "हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग पृ० ८

आर्य भाषाओं के बीच की कड़ी मानना ठीक नहीं है।[1] यहां हम डा॰ कीथ की मान्यता पर विचार करेंगे। उनकी यह धारणा कि अपभ्रंश मध्यकालीन प्राकृतों और आधुनिक आर्य भाषाओं के बीच की कड़ी नहीं है आज कोई नहीं मानता। भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह मान्यता गलत है। रुद्रट का उल्लेख 'षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंश' और मार्कण्डेय का सत्ताइस प्रकार के विभाजन का आधार हमें अपभ्रंश को देश भाषा मानने को बाध्य करता है।[2] उनकी यह मान्यता कि अपभ्रंश आभीर गुर्जर आदि विदेशी आक्रमकों की भाषा थी पूरी ठीक नहीं लगती। हां, अपभ्रंश के विकास विस्तार और प्रतिष्ठा में अवश्य इस समुदाय का हाथ रहा है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

आरम्भ में अपभ्रंश को आभीरों की भाषा माना जाता था। 'आभीरोक्ति या 'आभीरादिगिरः' का यही अभिप्राय है कि अपभ्रंश वह भाषा है जिसका काव्य में उस समय आभीरादि निम्न वर्ग के लोग प्रयोग करते थे। इसका यह अभिप्राय नहीं कि अपभ्रंश आभीर लोगों की निजी भाषा थी या आभीरादिजन इस भाषा को अपने साथ कहीं से लाये। वास्तव में आभीर या उनके साथी जहां जहां गये उन्होंने वहीं की स्थानीय प्राकृत को अपनाया और उसमें निज स्वाभावानुकूल स्वर या उच्चारण सम्बन्धी परिवर्तन कर दिए। आभीर स्वभाव के कारण इसी परिवर्तित एवं विकृत अथवा[3] विकसित भाषा को ही अपभ्रंश का नाम दिया गया है। इस प्रकार हमने देखा कि अपभ्रंश के साथ आभीरों का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, अत अपभ्रंश के विकास और प्रसार को समझने के लिए इस जाति के इतिहास पर दृष्टिपात करना बहुत सहायक होगा।

आभीर जाति का उल्लेख सबसे पहले महाभारत में मिलता है। नकुल के प्रतीची-विजय प्रसंग में आभीरों को सिन्धु के किनारे रहने वाला कहा गया है।[4] शल्य-पर्व में बलदेव की तीर्थ यात्रा के संदर्भ में आता है कि राजा ने उस स्थान में प्रवेश किया जहां शूद्र आभीरों के कारण सरस्वती नष्ट हो गई।[5] जब अर्जुन यादव स्त्रियों को लेकर द्वारका से वापिस लौटते हैं तो दस्यु लोभी और पापकर्मी आभीर हमला करके महिलाओं को छीन ले जाते हैं। अर्जुन के साहसपूर्ण जीवन में यही एक ऐसा प्रसंग है जब कि उसके विश्वविजयी गांडीव की कुछ भी न चल सकी।[6] मध्यम

---

१ कीथ हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर पृ० ११

२ श्यामसुन्दर दास हिंदी भाषा पृ० १८

३ हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० २४ २५

४ महाभारत-पर्व २ अध्याय ३२ श्लोक १०

५ वही पर्व ९, अध्याय ३७ प्रथम श्लोक

६ वही, पर्व १६, अध्याय ७, श्लोक ४७-६०

उनको द्रोण के सुपर्णव्यूह में योद्धाओं की पंक्ति में रखा गया है।[1] इन्हें शूद्र माना गया है।

पाणिनी के समय में भी इन्हें 'महाशूद्र' कह कर पुकारा गया है।[2] मनुस्मृति में आभीरों को ब्राह्मण पिता और अम्बष्ठ माताओं से उत्पन्न माना है।[3] इसी से जयचंद्र विद्यालंकार इन्हें मारवाड़ व राजपूताने का मूल निवासी गिनते हैं। किन्तु अधिकांश विद्वान इन्हें भारत में बाहर से आने वाले वर्ग में सम्मिलित करते हैं। आचार्य केशवप्रसाद ने आभीरों के दो दलों की कल्पना की है। पहली बार जो आभीर आए वे आर्यों की वर्णाश्रम व्यवस्था के भीतर गृहीत होकर 'शूद्राभीर' कहलाने लगे।[4] दूसरा दल बाद में आया वह उद्धत और लुटेरा था। इसलिए वह भारतीय संस्कृति में अन्तर्मुक्त नहीं हुआ। आगे यवन आक्रमण काल में वे सब इस्लाम धर्म में दीक्षित हो गये।[5] इन्हीं आभीरों की बोली,स्थानीय भाषा का संबंध पाकर अपभ्रंश के रूप में विकसित हुई, ऐसा माना जा सकता है। इन तथ्यों पर गंभीरता से विचार करने पर एक प्रश्न उठता है, कि अशास्त्रु शब्दों के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला 'अपभ्रंश' विशेषण संस्कृत वैय्याकरणों तथा अन्य पंडितों, द्वारा आभीरी को 'महाशूद्रों' की भाषा मानकर तिरस्कार व घृणा से 'अपभ्रष्ट' अथवा 'अपभ्रंश' संज्ञा के रूप में कहीं थोप तो नहीं दिया गया है, जो कि फिर प्रचलित ही गया। जैसे हिन्दी की स्वच्छंदवादी और रोमांटिक कविता के लिए दिया गया 'छायावाद' नाम।

कुछ विदेशी इतिहासकारों ने, और उनके आधार पर अनेक भारतीय विद्वानों ने वैदिकधर्म और बौद्धधर्म अथवा ब्राह्मण और क्षत्रिय के संघर्ष की पृष्ठभूमि पर इन आभीर गुर्जर, हूण आदि नवीन आने वाली दुर्दम्य और साहसी जातियों को क्षत्रियों के रूप में सम्मान प्राप्त करने का उल्लेख किया है।[6] ब्राह्मण धर्म ने अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए हूण, आभीर, गुर्जर आदि नवागन्तुकों को अपनी छाया में ले लिया था। उनको क्षत्रिय स्वीकार कर लिया और इस अर्थ कुछ यज्ञानुष्ठानों के विधान किये। माउंट आबू के अग्निकुलीय क्षत्रियों का आविर्भाव इसी नये विधान का परिणाम था।[7] कारण कुछ भी रहे हों इस में कोई संदेह नहीं कि इस जाति का प्रसार समस्त उत्तरापथ और मध्य भारत में हो गया और इनके साथ ही अपभ्रंश भाषा को फैलने व विकास पाने का अवसर मिला।

ईसा की दूसरी शताब्दी में आभीरों का प्रसार काठियावाड़ तक था, ऐसा अनुमान रुद्रदमन के एक अभिलेख से लगाया जा सकता है। काठियावाड़ में 'गुन्द'

---

१ महाभारत-पर्व ७, अध्याय २० श्लोक, ६
२ वासुदेव शरण अग्रवाल- इंडिया एज नोवन टू पाणिनी—पृ० ८०
३ मनुस्मृति अध्याय १० श्लोक १५
४ देवेन्द्र कुमार अपभ्रंश प्रकाश पृ० १७
५ डा० गुणे भविसत्तकहा भूमिका, पृ० ५१
६ देवेन्द्र कुमार. अपभ्रंश प्रकाश, पृ० १०
७-८ डा० भगवत शरण उपाध्याय भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण पृ० १०१ तथा पृ० १२१

नामक स्थान पर रुद्रसिंह का एक अभिलेख मिला है जिसमें उसके एक आभीर सेनापति 'रुद्रभूति' के दान का उल्लेख है। विद्वान इस अभिलेख को १८१ ई० का मानते हैं।[1] एन्थोवेन ने ईसा की तीसरी शताब्दी के अन्त में काठियावाड़ में आभीरों के आधिपत्य की ओर संकेत करते हुए नासिक अभिलेख (३०० ई०) में निर्दिष्ट आभीर राजा ईश्वर सेन की ओर ध्यान आकर्षित किया है।[2] समुद्र गुप्त के प्रयाग-स्तंभ लेख में (३६० ई०) आभीरों का आधिपत्य गुप्त साम्राज्य की सीमा पर मालवा गुजरात राजपूताना आदि में बताया गया है।[3] पुराणों के अनुसार आन्ध्र भृत्यों के बाद शासन आभीर जाति के ही हाथ आया और दसवीं शती के बाद हाथ से निकल गया। उस समय झांसी से लेकर देवगढ़ तक का प्रदेश इन्हीं के नाम पर विख्यात था। आठवीं शती में जब काठी जाति ने सौराष्ट्र में प्रवेश किया तब भी वहां आभीरों का अधिकार था।[4] पन्द्रहवीं शती में नासिक तक ये लोग फैले हुए थे। आशा अहीर द्वारा आसीरगढ़ के किले की स्थापना का उल्लेख फरिश्ते ने किया है।[5] कुछ लोग मध्य देश के मिर्जापुर जिले के अहिरौरा स्थान का सम्बन्ध आभीरों से मानते हैं।[6]

दण्डी के 'आभीरादि गीर' में आदि के द्वारा किन जातियों की ओर संकेत है? यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा उठती है। भोज ने 'सरस्वती कंठाभरण' में लिखा है कि गुर्जर अपनी अपभ्रंश से ही तुष्ट होते हैं। इस आधार पर आभीरों के साथ गुर्जरों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। यद्यपि गुर्जरों की बोली 'गोज्जरी' का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में पाया जाता है फिर भी उनके द्वारा अपभ्रंश को संरक्षण और मान्यता मिली, इसे निश्चित तौर पर कहा जा सकता है। भंडारकर और कैम्पबेल की खोजों से पता चलता है कि छठी शताब्दी ईसवी में गुर्जरों ने गुजरात और भड़ौंच को जीता। उनकी मुख्य शाखा की राजधानी भीनमाल थी और दसवीं शताब्दी के मध्य तक उन्हें चालुक्यों के कारण भीनमाल छोड़ने को बाध्य होना पड़ा। परिणाम-स्वरूप ९५८ ई० में १८००० गुर्जरों ने सामूहिक रूप से एक साथ भीनमाल छोड़कर देशान्तर किया।[7] इन गुर्जरों के अतिरिक्त अन्य पशुपालक एवं यायावर जातियों के द्वारा भी अपभ्रंश को प्रचार-सुविधाएं मिली होंगी। कुछ भी हो अपभ्रंश अपनी प्रारम्भिक अवस्था में चाहे इनकी बोली रही हो पर बाद में वह धीरे धीरे सारे भारत की भाषा हो उठी। यह भाषा मूलतः जनता की बन चली थी और विदेशी नहीं थी।

---

१ डा० भण्डारकर इंडियन एंटिक्वेरी १९११ पृ० १६
२ एंथोवेन ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ बोम्बे भाग १, पृ० २१
३ विंसेंट स्मिथ अरली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० २८६
४ एंथोवेन ट्राइब्स एंड कास्ट्स आफ बोम्बे-भाग १, पृ० २४
५ वही पृ० २४
६ हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २४
७ (क) भंडारकर "आन गुर्जर" जे० बी० बी० आर० ए० एस० २१—पृ० ४१२

३- अपभ्रंश साहित्य का विकास

यद्यपि हमने अपभ्रंश के काल को ४०० ई० से माना है किन्तु इस समय का कोई साहित्य आजावधि उपलब्ध नहीं हुआ है। आठवीं शती से अपभ्रंश का साहित्य विकसित अवस्था में दिखाई देता है और तब से १५ शती तक छुटपुट तौर पर इसमें रचनाएं होती रही हैं। समस्त भारतीय साहित्य की भांति ही अपभ्रंश के साहित्य को भी धार्मिक भावनाओं से प्रेरणा मिली है। अपभ्रंश साहित्य के विकास को ठीक तरह समझने के लिए इन मूल प्रेरणाओं को जानना होगा और ऐसा करने के लिये तत्कालीन परिस्थितियों से परिचित होना अनिवार्य है। अपभ्रंश कालीन युग और उसकी परिस्थितियों का विवरण हमारे अध्ययन में उपयोगी होगा।

राजनीतिक अवस्था

गुप्त साम्राज्य के ह्रास काल में-(ईसा की छठी शती में) राजनतिक दृष्टि से पटना कन्नौज और भीमाल महत्व के स्थान थे। समस्त उत्तरापथ में फैला हुआ गुप्त सम्राज्य सिकुड़कर पटने के आस पास के प्रदेश में रह गया था। मध्य देश में मौखरियों का आधिपत्य स्थापित हो चला था। उनकी राजधानी कन्नौज को अब वही महत्ता प्राप्त हो चली थी, जो कि गुप्त काल में (छठी शती तक) पाटलिपुत्र (पटना) को थी। मौखरियों के श्रीहत होने पर कन्नौज पर राष्ट्रकूटों का आधिपत्य हुआ किन्तु इससे कन्नौज की महत्ता में रंच मात्र भी फर्क न पड़ा। कन्नौज एक विशाल केन्द्र था और उसका प्रमुत्व भारत में १२ • ई० तक बना रहा।[1], पंजाब में गुजरात और गुजरातवाला प्रान्त, मारवाड़ में भीमाल (भिन्नमाल-भीनमाल) और गुर्जरत्रा में (मरूथ में) गुर्जर जाति का बोलबाला था।

सातवी शताब्दी में मौखरियों के वंश में हर्ष जैसा पराक्रमी राजा हुआ जिसने उत्तरी भारत की राजनैतिक स्थिति को संभाले रखा। इसके समय में भारत का अन्य पड़ोसी देशों से संपर्क बना रहा। दक्षिण भारत में पुलिकेशी द्वितीय एक शक्तिशाली राजा था। इस काल में भारत में अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता रही यद्यपि थोड़ी बहुत गड़बड़ी कहीं न कहीं चलती रहती थी किन्तु वह तत्कालीन अवस्थाओं को देखते हुए नगण्य थी।

आठवीं शताब्दी में भारत का एक नई शक्ति से पाला पड़ा। ७१२-७१३ ई० तक सिन्ध और मुलतान हिन्दुओं के हाथ से अरबों की अधीनता में चले गये थे।[2] यद्यपि अरबों की यह सिंध विजय प्रयत्न करने पर भी अधिक क्षेत्र में बढ़ नहीं

(क) जैक्सन, बोम्बे गजेटियर भाग-१-अंक-१ पृ० ४६२ ६६
विवेटिया' गुजराती लैंग्वेज एंड लिटरेचर, पृ० १५

१ डा० रमेश राघव प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड पृ० १२२

२ राहुल सांकृत्यायन हिन्दी काव्य-धारा-भूमिका पृ० १०

तभी किन्तु श्रीमाल और गुजरात पर इन लोगों के हमले इस समय होते रहे। इधर छोटे छोटे राज्य भी शक्ति संग्रह करने लगे थे।

नवीं शताब्दी में हर्ष का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है अनेक छोटे छोटे राज्य शक्तिशाली बन गये थे। इनमें से बंगाल और बिहार के पाल, पश्चिम में गुजरात मालवा के प्रतिहार और दक्षिण में मान्य खेट के राष्ट्रकूट मुख्य थे। ये तीनों कन्नौज को हस्तगत करना चाहते थे। कन्नौज नगरी एक ऐसी स्वयंवर कन्या थी, जिसे राष्ट्रकूट प्रतिहार और पाल तीनों ब्याहना चाहते थे लेकिन यह स्वयंवर कन्या क्वाँरी बनकर नहीं रहना चाहती थी। अब तीनों उम्मीदवारों को फैसला करना था—कौन अपना देश छोड़ कान्यकुब्ज जाने के लिए तैयार है। प्रतिहार नागभट्ट ने फैसला किया वह कन्नौज का स्वामी बन गया, बाकी दोनों मुंह ताकते रह गये।[1]

दसवीं सदी में अनेक छोटे-बड़े शासक प्रबल बन चले थे। आपस में छोटी बातों को लेकर झगड़े होते रहते थे। षड्यन्त्र और विदेशी सहायता के बल पर भी शत्रु-दल को पराजित करना उचित समझा जाता था। स्थानीय प्रदेशों को अधिक महत्ता दी जाने लगी थी। देश भक्ति का संकीर्ण स्वरूप 'स्वराज्य भक्ति' मात्र बन चला था। इतने राजनैतिक उथल-पुथल के होने पर भी जनता के जीवन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया था।

ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद गजनवी के आक्रमण हुए। इस काल में प्रतिहारों की शक्ति क्षीण हो चली थी और फलस्वरूप उनके अधीन रहनेवाले चन्देल कल चुरि तथा चौहान स्वतन्त्र होने लगे थे। इन सभी स्वतन्त्र राज्यों में परस्पर सद्भाव सहयोग और सहिष्णुताका अभाव था। वे आन्तरिक असंतोष व कलह से जर्जर हो चले थे। इनमें से कोई भी राज्य इतना शक्तिशाली नहीं था कि वह विदेशी आक्रान्ताओं को दीर्घकाल तक पराजित कर सकता।

बारहवीं शताब्दी में कुछ नये राज्य सिर उठाने लगे। उत्तरभारत में पालों गहड़वालों, चालुक्यों, चन्देलों और चौहानों के अतिरिक्त गुर्जर-सोलंकी और मालवा के परमार भी पर्याप्त प्रभावशाली हो गये थे। चक्रवर्ती सम्राट कहलाने की लालसा से प्राय इन सब में संघर्ष और मनोमालिन्य चलता रहता था। अजमेर के चौहानों में से पृथ्वीराज और वीसल देव तुर्कों से टक्कर लेने में सफल रहे। वीसल देव स्वयं अच्छा कवि था।[2] दिल्ली के लौह स्तम्भ पर उसने गर्वपूर्वक घोषणा की थी[3] कि

---

१ राहुल सांकृत्यायन हिन्दी काव्य धारा—भूमिका, पृ० १०

२ हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आदि काल—पृ० ११

३ वही—पृ० १४ से उद्धृत
आविन्ध्यादा हिमाद्रेर्विरचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसंगाद्
उद्ग्रीवेषु प्रहर्ता नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रसन्नः ।
आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान् म्लेच्छ-विच्छेद—

मैंने विन्ध्याचल से हिमालय तक की सभी भूमि को म्लेच्छ-विहीन करके यथार्थ आर्या वर्त बना दिया है। अपने वंशजों को पुकार कर वह कहता है कि मैंने तो हिमालय और विन्ध्याचल के मध्यवर्ती देश को करद कर लिया है, परन्तु बाकी पृथ्वी के जीतने में तुम लोगों का मन उद्योग-शून्य न हो इस बात का ध्यान रहे।

तेरहवीं शताब्दी हिन्दू-राज्य सत्ता के पतन का युग था। सामाजिक संकीर्णता, आपसी कलह, क्षुद्र स्वार्थ और आलस्य के कारण नवागन्तुक इस्लाम के जोश का ठीक से मुकाबला नहीं हो सका।

धार्मिक अवस्था

अपभ्रंशकालीन राजनैतिक उथल-पुथल की संक्षिप्त जानकारी पा लेने के बाद हमें अवगत हो जाता है कि इस युग में बौद्ध, जैन ब्राह्मण और इस्लाम इन चारों धर्मों का प्रचार हो चला था। हमारे आलोच्य-युग के कवि-जनों में बौद्ध जैन, हिन्दू और मुसलमान चारों प्रकार के लोग हैं। अधिकांश साहित्य धार्मिक परम्पराओं से अनुप्राणित रहा है। ऐसी दशा में हमें आलोच्य-युग की स्थिति पर भी विचार कर लेना चाहिए। हमारी भारतीय वर्ण-व्यवस्था ने ब्राह्मण को आध्यात्मिक क्षेत्र में सदा से अगुवा मान रखा है। जब ईसा के पहले की दो तीन सदियों में यवन शक, आभीर गुर्जर आदि जातियां बाहर से आ रही थीं उस समय ब्राह्मणधर्म और बौद्धों में संघर्ष चल रहा था। बौद्धों ने ऐसे विदेशी तत्वों को प्रोत्साहन दिया जिससे कि ब्राह्मण धर्म समाप्त हो जाये किन्तु ब्राह्मण धर्म वैदिक काल से इस धरती पर फैला हुआ था। उसे नष्ट न किया जा सका क्योंकि उसकी जड़ें गहरी थीं। साथ में उसने इन्हें क्षत्रिय के वर्ग में स्वीकार कर अपने में अन्तर्भुक्त कर लिया। अशोक के समय बौद्ध धर्म ने एक बार पुन हिन्दू धर्म पर छा जाना चाहा। प्रतिक्रिया स्वरूप सातवीं शताब्दी के अन्त में कुमारिल भट्ट ने वैदिक धर्म की पुन प्रतिष्ठा स्थापित करने का बीड़ा उठाया। आठवीं शती में शंकराचार्य के हाथों बौद्धों और जैनों के नास्तिकवाद को बहुत हानि सहनी पड़ी।

वैदिक ज्ञान के मन्द हो जाने पर पुराणों का प्रचार हुआ। नवीन संस्कारों का प्रचलन हुआ। यज्ञ कम हुआ किन्तु कर्मकाण्ड श्राद्ध, तर्पणादि में पर्याप्त वृद्धि हुई। मन्दिरों व मठों का निर्माण होने लगा। एलोरा के कैलाश-मन्दिर के समान अनेक कलामय मन्दिर बने। व्रतों तथा प्रायश्चित्तों का विधान स्मृतियों में स्थान पाने लगा। भगवान के भिन्न नामों को देवता मानकर उनकी पृथक-पृथक उपासना

आविन्ध्य शाकम्भरीन्द्रो जयति विजयते वीसल क्षोणिपाल ।
ब्रूते सम्प्रति चाहमानतिलकः शाकम्भरी-भूपति
श्री मद्विग्रहराज एष विजयी सन्तानजानात्मजान् ।
अस्माभिः करदं व्यधायि हिमवद् विन्ध्यान्तरालं भुव
शेष—स्वीकरणाय मास्तु भवतामुद्योग शून्यं मन ॥
—इंडियन एंटिक्वेरी—खण्ड १९, पृ० २१८

आरम्भ हो गई थी। ईश्वर की भिन्न भिन्न शक्तियों और देवताओं की पत्नियों की भी पूजा होने लगी। ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही नारसिंही और एन्द्री-इन सात शक्तियों को मातृका नाम दिया गया है। काली, कराली, चामुण्डा व चण्डी नामक भयंकर और रुद्र शक्तियों की भी कल्पना की गई। आनन्द-भैरवी त्रिपुर सुन्दरी और ललिता आदि विषय-विलास-परक शक्तियों की भी कल्पना की गयी।[1]

भारतीय इतिहास में ब्राह्मण और क्षत्रियों का जब एक ओर मिलन हुआ है तो वह राजस्थान में फला-फूला है। क्योंकि क्षत्रियकुल वर्ण-व्यवस्था में व और ब्राह्मण को सर्वोपरि नहीं मानते थे। वे ही बौद्ध और जैन बनकर समृद्ध हुए। यद्यपि गण-व्यवस्था उनके सामन्तवाद के सामने छिन्न-भिन्न हो गई और कालान्तर में बौद्ध और जैनों को भी सामन्तीय व्यवस्था के अनुरूप आने को बदलना पड़ा। परन्तु उन्होंने एक काम किया। वे क्षत्रिय ही पुरोहित बन गये अर्थात् बौद्ध और जैन क्षत्रिय जो वेद को नहीं मानते थे, उनके सामन्तकाल के विकास काल में क्योंकि ब्राह्मणों से पौरोहित्य नहीं छीन सके थे उन्होंने संगठित होकर अपने भीतर ही अपनी परम्परा मानकर एक नये पुरोहित वर्ग को बना लिया।[2] कहने का अर्थ यही है कि ब्राह्मण, जैन, और बौद्ध सभी धर्म एक दूसरे से कुछ तत्व और विशेषताएं ग्रहण कर रहे थे।

कालान्तर में ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्म की अनेक अवान्तर शाखाएं हो गयीं। यद्यपि अनेक बार इन धर्मों में छोटा बड़ा मतभेद या झगड़ा खड़ा हो जाता था किन्तु अधिकांश जन धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु ही थे। ब्राह्मण धर्म की विभिन्न शाखाओं में परस्पर विभिन्नता होते हुए भी उनमें एकता थी। पंचायतन पूजा इसी एकता का परिणाम थी। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार किसी भी देवता की पूजा कर सकता था। सभी देवता ईश्वर की विभिन्न शक्तियों के प्रतिनिधि थे। कन्नौज के प्रतिहार राजाओं में यदि एक वैष्णव था तो दूसरा परम शैव, तीसरा भगवती का उपासक, चौथा परम आदित्य-भक्त।[3] हर्ष के समय में बुद्ध और हिन्दू देवताओं की साथ-साथ पूजा होती थी, गुप्त काल में भी एक ही मन्दिर में नृसिंह, गंगा, यमुना, वसुन्धरा-चण्डी, शेषशायी विष्णु ब्रह्मा जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा बुद्ध मूर्ति मिल जाती थी।[4] यही कारण है कि हमें तत्कालीन साहित्य में प्रायः सम्प्रदाय विशेष के अतिरिक्त अन्य धर्मों अथवा सम्प्रदायों के संकेत भी मिल जाते हैं।

आठवीं शती के आरम्भ से ही अरबों का भारत से सम्बन्ध बनने लगा था। बगदाद के खलीफाओं ने भारत से अनेक विद्वानों को ससम्मान बुलाया था जिन्होंने भारतीय दर्शन वैद्यक, गणित और ज्योतिष के बहुत से ग्रंथों के अरबी अनुवाद करने में सहायता की थी। दसवीं शती तक मुलतान और सिंध तक अरब फैल चुके

---

१ गौरी शंकर हीराचन्द ओझा भारतीय संस्कृति पृ० २७
२ रांगेय राघव प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड पृ० १९१
३ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १७
४ व्योहार राजेन्द्र सिंह त्रिपुरी का इतिहास, पृ० ७२

थे और बारहवीं शती तक मुसलमानी शासन कन्नौज तक फैल गया था। इस समय तक भारतीय समाज में सकीर्णता घर कर चुकी थी। हमारे रूढ़िबद्ध समाज में अंशमात्र भी नमनीयता नहीं बची थी। धर्म केवल बाह्याचारों और कर्मकाण्ड के जन्जाल मात्र में उलझ कर रह गया था। इसकी प्रतिक्रिया में भागवत धर्म से अनुप्राणित हो देश में भक्ति की लहर चल पड़ी। भक्तों सन्तों और सूफी–साधकों ने बाह्य कर्मकांड के स्थान पर आन्तरिक भाव प्रवणता को महत्व दिया। विक्रम की प्रायः दूसरी शताब्दी से लेकर उसकी चौदहवीं शताब्दी तक के इस लम्बे युग में भक्ति ने अनेक रूप यथा प्रेममयी भक्ति उपचारमयी भक्ति, ज्ञानमूलक भक्ति, रागात्मिका भक्ति आदि ग्रहण किये।[1] अनेक मुसलमान और हिन्दू सन्तों ने जात-पांत कर्मकाण्ड, बाह्यानुष्ठान आदि भेद मूलक बातों का विरोध किया और समाज में भाईचारा स्थापित करना चाहा। सूफी–सन्तों ने अपने ढंग से भारतीय आख्यानों को कहा। इस युग के मुसलमान कवि भारतीयता में ओत प्रोत थे। 'संदेश रासक' के रचयिता मुसलमान कवि अब्दुल रहमान की कविता में जो भारतीय आत्मा बोल रही है यह बनावटी बात नहीं थी। अब्दुल रहमान ने देवता का मगलाचरण करते वक्त अपने को मुसलमान भक्त साबित किया है।[2] इस्लाम की भारत में प्रतिष्ठा हो जाने पर भी अनेक हिन्दू और मुस्लिम संत परलोकवाद और मानव की सहज सहृदयता के बल पर सामाजिक रचना का उपदेश दे रहे थे।

सामाजिक अवस्था

मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था का विश्लेषण करने में एक विशेष कठिनाई इसलिए उपस्थित होती है कि मध्यकाल में और विशेषतया हर्ष के बाद आने वाले, प्रस्तुत विषय के विवेचन काल में किसी एक केन्द्रीय सत्ता के न होने के कारण सभी प्रान्तों और प्रदेशों में विभिन्न रूप में सामाजिक तथा आर्थिक विकास हो रहा था[3] अतः हमारे अध्ययन में यह अधिक वैज्ञानिक होगा कि हम मध्यकालीन भारतीय समाज-व्यवस्था पर समग्रता से विचार कर सकें। इसी कारण से प्रस्तुत विवेचन सामान्य अवस्था को लेकर चल रहा है।

आर्थिक दृष्टि से ग्राम भारतीय समाज-व्यवस्था की धुरी रहा है। खेती हमारा प्रमुख उद्योग था और है। सामन्तों में परस्पर संघर्ष होते रहते थे। किन्तु उनसे किसान को अधिक हानि नहीं उठानी पड़ती थी। मेगस्थनीज कहता है कि युद्ध काल में भी कृषि कार्य चलता रहता था। वह लिखता है कि दोनों पक्ष एक दूसरे के संहार में लीन रहते हैं परन्तु किसानों को कोई हानि नहीं पहुंचाता। हर्ष

---

१ परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की परम्परा, पृ० ९१

२ राहुल सांकृत्यायन हिन्दी काव्यधारा पृ० ४२

३ धर्मवीर भारती सिद्ध साहित्य, पृ० ८६

४ अल्तेकर प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० २१९

के काल में भी किसान परेशानी से मुक्त था।[1] तत्कालीन सरकारें किसान व खेती के विकास के लिये सिंचाई साधनों का निर्माण और मरम्मत किया करती थीं।[2] किसान के साथ गांव स्वशासन में स्वतन्त्र थे। ये ग्राम देश के सारे प्रबन्ध, राजनीति, व्यवसाय और संस्कृति की इकाइयों से पृथक थे। ग्राम जनतन्त्र अपने में सर्वथा स्वतंत्र सत्ता होते थे, जिस पर राजशक्ति का कुछ वश नहीं चल पाता था।[3]

आलोच्य युग में भारतीय समाज-व्यवस्था का आधार वर्ण-व्यवस्था बिगड़ चली थी। प्रत्येक वर्ण जातियों और उपजातियों में विभक्त हो चला था। छोटे छोटे कारणों से यह भेद भाव बढ़ता ही जा रहा था। विभिन्न वर्णों में जीविकाओं का विपर्यय प्रचलित हो गया था। मनुस्मृति में कहा गया है[4] कि श्राद्ध में ऐसे ब्राह्मणों को न बुलाये जो क्लिब मांस विक्रयी पशुपाल और वैतिक हो। इसी प्रकार कुसीद जीवी पशुपालक सोम विक्रेता तैलकार, धनुष-बाण निर्माता, पक्षी-पालन से जीवन निर्वाह करने वाला ब्राह्मण भी श्राद्ध भोजन में निषिद्ध ठहराया गया है। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणों का बहुत बड़ा भाग शुद्ध कर्मकांड और स्मृति प्रतिपादित पौरोहित्य छोड़कर कृषि व अन्य व्यवसाय अपना चुका था। कृषि-कर्म आरम्भ में वैश्यों का ही कार्य था किन्तु बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव के कारण अनेक वैश्यों ने उसे अपावन समझ त्याग दिया और अनेक शूद्रों ने उसे गृहीत कर लिया। ब्राह्मणों व क्षत्रियों के लिये भी कृषि का विधान किया जाने लगा।[5] इसी प्रकार क्षत्रिय भी शस्त्र के साथ शास्त्र का भी अभ्यास करने लगा। अनेक शासक भोज गोविन्दचन्द्र बल्लालसेन लक्ष्मणसेन विग्रहराज (चतुर्थ) राजेन्द्र चोल आदि अपने पांडित्य के लिए प्रख्यात हैं।

जातियों की सापेक्ष स्थिति की दृष्टि से अगर हम देखें तो स्थूल तौर पर अपभ्रंश काल में हमारे समाज-गठन में बहुत सी नई जातियों का समावेश हुआ है बहुत सी जातियों के स्तर बदले हैं और बहुत सी पुरानी जातियों का परिवर्तित समावेश हुआ है।[6] आचार्य क्षितिमोहन सेन का मत है कि उस समय जाति व्यवस्था इतनी जड़ नहीं थी। बहुत सी जातियों का पद उठता गिरता रहता था। बहुत सी नीची जातियां ब्राह्मण बन गई थीं। इन जातियों में बहुत से कृषक भी थे। बहुत सी

---

१ अल्तेकर प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति पृ० २१९

२ सरकार पोलिटिकल इंस्टीट्यूशन्स एण्ड थ्योरीज आफ हिंदूज पृ० १०१४

३ मार्क्स एण्ड एंगेल्स आन इंडिया पृ० ७५-७६

४ मनुस्मृति अध्याय ३ १ श्लोक १५१ ५२

५ वैद्य हिस्ट्री आफ मेडिवल हिन्दू इंडिया भा० २ पृ० १८१

६ धर्मवीर भारती सिद्ध साहित्य पृ० ८९ ९०

७ क्षितिमोहन सेन भारत में जाति भेद पृ० ४१

जातियां अपने को ब्राह्मण मानती थीं, पर अन्य ब्राह्मण अपने से उन्हें हेय समझते रहे। इसी प्रकार अनेक शूद्र जातियां अपने को क्षत्रिय और क्षत्रिय जातियां अपनेको वैश्य बनाने के लिए यत्न करती रहीं।[1] ऐसे ही ब्राह्मण और अन्य जातियां शायद आपमें बसकर तान्त्रिक और अवैदिक भावनाओं तथा अनुष्ठानों को प्रोत्साहन और संरक्षण देती रही होंगी।

समाज में बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रचलित थी। वातावरण सामन्ती था। खान-पान में छूआछूत धर्म के क्षेत्र में कर्मकांड और ऊपरी आडम्बर बढ़ चला था। सामाजिकता बहिर्मुखी थी।

अपभ्रंश साहित्य की रूपरेखा

हम पहले देख चुके हैं कि छठीं शताब्दी में अपभ्रंश-काव्य संस्कृत व प्राकृत काव्य की बराबरी में आ बैठा था।[2] यद्यपि अभीतक हमें इस कालकी कोई रचना उपलब्ध नहीं हो पाई है। हमें आठवीं शती की अनेक रचनाएँ अपभ्रंश में मिली हैं जिनकी काव्यगत और भाषागत प्रौढ़ता विस्मय है। अपभ्रंश में साहित्य निर्माण सोलहवीं शताब्दी तक होता रहा, किन्तु इसका उत्कर्षकाल आठवीं से तेरहवीं शती तक ही माना जाता है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के उदय के साथ अपभ्रंश मुख्यरूप से जैन धर्म की भाषा होकर रह गई और उसमें साहित्यरचना उत्तरोत्तर कम होने लगी।[3] श्वेताम्बर संप्रदाय के जैन ११वीं १४वीं शताब्दी के पश्चात् अपभ्रंश में रचना करना छोड़कर तत्कालीन लोकभाषाओं में रचना करने लगे दिगम्बर सम्प्रदाय के जैन विद्वानों ने १६वीं शताब्दी तक भी अपभ्रंश भाषा को अपनाये रखा। रइधू आदि जैन कवियों के काव्य ग्रंथ इसके प्रमाण हैं।

अध्ययनकी सुविधा के लिये अपभ्रंश साहित्य को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। विभिन्न प्रदेशों में उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य के आधार पर इसका प्रादेशिक-विभाजन किया जा सकता है—यथा

१ पश्चिमी प्रदेश का अपभ्रंश साहित्य

इसमें स्वयंभू, जोइन्दु, धनपाल हेमचन्द्र अब्दुलरहमान, रामसिंह आदि कवियों की कृतियों को गिना जा सकता है।

२ महाराष्ट्र प्रदेश का अपभ्रंश साहित्य

---

१ क्षितिमोहन सेन संस्कृति-संगम पृष्ठ ११ ६१

२ डा० हीरालाल जैन 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य'—नागरी प्र० पत्रिका वर्ष ५०, अंक ३ ४, पृ० १०६

३ डा० शंभूनाथसिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूपविकास—पृ० १७२

४ अगरचंद नाहटा—और भाषाकालका जैन भाषा साहित्य—ना० प्र० प० वर्ष५, अंक १—२ पृ० १०

इसमें पुष्पदन्त, मुनिकनकामर आदि कवियों की रचनायें गृहीत की जा सकती हैं।

३ पूर्वी प्रान्तों का अपभ्रंश साहित्य

इसमें सिद्धों की कविता और विद्यापति की कीर्तिलता को लिया जा सकता है।

४ उत्तरी प्रदेश का अपभ्रंश साहित्य

इसमें नाथपंथियों के अपभ्रंश पदों की परिगणना की जा सकती है।

धर्म व सम्प्रदाय की दृष्टि से भी अपभ्रंश साहित्य का विभाजन व वर्गीकरण किया जा सकता है। अपभ्रंश साहित्य के निर्माण व संरक्षण में जैन धर्म का बड़ा भारी हाथ रहा है, यह ऊपर दिखाया जा चुका है। इसी तथ्य को निगाह में रखते हुए अपभ्रंश साहित्य के दो विभाग किये जा सकते हैं।

क—जैन अपभ्रंश साहित्य

ख—जैनेतर अपभ्रंश साहित्य

जैन अपभ्रंश साहित्य

जैन अपभ्रंश साहित्य को लगभग तीन उपविभागों में बांटा जा सकता है। १—सिद्धान्त साहित्य २—पुराण-चरितादि साहित्य ३—कथा साहित्य।

१ सिद्धान्त साहित्य के अन्तर्गत उस समस्त साहित्य को ग्रहण किया जा सकता है जो धार्मिक सिद्धान्त सम्प्रदाय विशेष की मान्यतायें कर्मकाण्ड और श्रावकों के लिये आदर्श उपासना पद्धति आदि बातों को लेकर चलता हो। योगीन्दु का 'परम प्पयासु (परमात्म प्रकाश) व 'योगसार' रामसिंह का 'पाहुडदोहा' देवसेन कृत 'साव यधम्मदोहा' जैसे ग्रंथ भी इस विभाग में स्वीकृत किये जा सकते हैं।

२ पुराण—चरितादि साहित्य के अंतर्गत तीर्थंकरों चक्रवर्तियों, बलदेवों वासुदेवों, प्रतिवासुदेवों आदि तिरसठ शलाका पुरुषों के जन्म जन्मान्तर की जीवन गाथाओं को उपजीव्य बनाकर रचा गया समस्त साहित्य आ जाता है। भारतीय साहित्य में एक युग ऐसा भी आन पड़ता है कि जब कि प्रत्येक धर्म के आचार्यों ने बहुत बड़े पैमाने पर पुराण साहित्य की रचना की है। विद्वानों का अनुमान है कि सामान्य जन समूह तक शास्त्र और आगमों की विचारधारा को लोकप्रिय तथा बोध गम्य ढंग से पहुंचाने के लिए पुराण साहित्य का आविर्भाव हुआ। कहीं कहीं हम ब्राह्मण बौद्ध और जैन पुराणों में एक ही तथा एक से ही महापुरुषों की जीवन गाथायें मिलती हैं फिर भी उनके अपने-अपने धार्मिक आग्रहों ने उन गाथाओं में थोड़ा बहुत परिवर्तन कर डाला है।[1] इन्हीं धार्मिक ग्रंथों के फलस्वरूप रामकथा और कृष्णकथा के कई रूपान्तर प्रचलित हो गये। अस्तु। जैनों के पुराण साहित्य में पुष्पदन्त प्रणीत 'महापुराण' (तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालंकार) स्वयंभू कृत 'पउम-चरिउ' 'रिट्ठणेमिचरिउ' तथा 'कनकामर कृत करकंडुचरिउ' का अन्तर्भाव होगा।

१ नामवरसिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—पृ० १८४

३ कथा काव्य के अन्तर्गत हमें वह सारा साहित्य मानना होगा जो चाहे धार्मिक अथवा लौकिक प्रेरणा के फलस्वरूप रचा गया हो और काल्पनिक कथाओं अथवा लोकप्रचलित कथानकों को लेकर लिखा गया है। धनपाल रचित भविसयत्त कहा' एक ऐसी ही रचना है। श्रीचन्द्र कवि रचित 'कथाकोष' ऐसा दूसरा उदाहरण है।

जैनेतर अपभ्रंश साहित्य

जैनेतर अपभ्रंश साहित्य के भी दो विभाग किये जा सकते हैं—लौकिक और धार्मिक। जैनेतर लौकिक साहित्य में अर्जन लेखकों द्वारा रचित समस्त कथा साहित्य, मुक्तक और फुटकर साहित्य ग्रहीत किया जा सकता है। प्रेम शृंगार, वीर भावादि संबंधी फुटकर पद्य व दोहे अब्दुलरहमान कृत 'संदेसरासक', विद्यापति रचित कीर्ति लता' आदि रचनायें ऐसी ही कृतियां हैं। इसी प्रकार जैनेतर धार्मिक साहित्य में ब्राह्मण सिद्ध नाथ सभी पंथियों द्वारा रचित साहित्य माना जायेगा। नाथों व सिद्धों के चर्यापद और दोहे इसमें गिने जा सकते हैं।

तीसरा वर्गीकरण ऐतिहासिक विकासकी दृष्टि से किया जा सकता है। प्रत्येक शती के साहित्य का अलग-अलग अध्ययन किया जा सकता है।

हमारे विषय की दृष्टि से ये तीनों प्रकार के वर्गीकरण अनुपयोगी हैं। प्रदेश की दृष्टि से किया गया विभाजन वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। उसके दो कारण हैं। यदि एक प्रान्त का निवासी लेखक दूसरे प्रदेश में जाकर रचना करता है तो उसकी रचनाओं में पहले प्रान्त की विशेषताएँ आवश्यक रूप से होंगी यद्यपि प्रस्तुत वर्गीकरण में उसे हम दूसरे प्रदेशका कवि ही मानेंगे। दूसरी कठिनाई पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री के अभाव में अनेक रचयिताओं के प्रदेश के संबंधमें विद्वानों में मतभेद का होनाहै। उक्त दोनों कारणों से प्रस्तुत प्रबंध में यह वर्गीकरण स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

दूसरे विभाजन का आधार धार्मिक है। इससे विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायों के सिद्धान्तों मान्यताओं और विश्वासों के अध्ययन में सुभीता हो सकता है परन्तु काव्य-रूपों के तुलनात्मक अध्ययन के लिये इसकी अनुपयोगिता निर्विवाद है

तीसरा विभाजन ऐतिहासिक है। आजतक प्रकाश में आये साहित्य को लेकर अपभ्रंश साहित्य के विकास का ऐतिहासिक ढांचा खड़ा तो किया ही जा सकता है, किन्तु प्रामाणिक तिथिनिर्देशों के अभाव में उसे सर्वमान्य स्वरूप नहीं दिया जा सकता। दूसरा इस प्रकार के अध्ययन व वर्गीकरण से हमें अपने अनुशीलन में कोई सहायता नहीं मिल सकती। हमें विगत कविता के स्वरूप विकास का अध्ययन करना है तो उसके लिए अपभ्रंश साहित्य का मनन भी काव्यरूपों के आधार पर ही करना होगा। साहित्य की तुलनात्मक समीक्षा करने वाले के लिए समूचे अपभ्रंश काव्य के प्रबन्ध व मुक्तक स्वरूपों का अध्ययन ही अधिक संगत, व्यवहारी व उपयोगी होगा इसलिये इसी चौथे प्रकार के वर्गीकरण के आधार पर आगामी पृष्ठों में अपभ्रंश

साहित्य के अध्ययन का प्रयत्न किया गया है। डिंगल काव्य-रूपों के विकास को ठीक प्रकार से समझने के लिए यह पृष्ठ भूमि बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी। इस सदी के आरम्भ में अपभ्रंश साहित्य के सम्बन्ध में हमारी जानकारी सीमित थी। गुणे, राहुल दलाल, मुनि जिनविजय डा० हीरालाल जैन पी० एल० वैद्य नेमिनाथ उपाध्ये भायाणी नाथूराम प्रेमी, कोछड़ बागची प्रभृति भारतीय विद्वानों व जेकोबी जैसे विदेशी संशोधकों के प्रयत्नों से अपभ्रंश साहित्य सम्बन्धी हमारी जानकारी बहुत कुछ बढ़ी है फिर भी उसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। अपभ्रंश का विपुल साहित्य अभी तक अज्ञात और अप्रकाशित है अत अपभ्रंश साहित्य को लेकर जो भी विवेचना की जायेगी वह अन्तिम नहीं हो सकती। अत यहां केवल प्रकाशित और ज्ञात किन्तु अप्रकाशित महत्वपूर्ण ग्रंथों को आधार बनाकर प्रस्तुत विवरण दिया जा रहा है। साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास के अध्ययन की दृष्टि से इतना काफी होगा।

अपभ्रंश महाकाव्य

दण्डी भामह आदि आचार्यों ने महाकाव्य के जिन लक्षणों व स्वरूप की व्याख्या की है उन्हीं मान्यताओं के आधार पर अपभ्रंश के महाकाव्यों को नहीं परखा जा सकता। संस्कृत में पुराण चरित व कथा के काव्य-रूपों में आसानी से विभेद स्थापित किया जा सकता है ऐसा अपभ्रंश में सम्भव नहीं है। अपभ्रंश में चरित नाम से अनेक पुराण रचे गये हैं और पुराण नाम से अनेक काव्यग्रंथ। वस्तुत: पौराणिक काव्य और चरितकाव्यों में नगण्य सा अन्तर है। स्वरूप की दृष्टि से अपभ्रंश के पौराणिक काव्यों और चरितकाव्यों में बहुत अंतर नहीं है। पौराणिक काव्यों में विषयका विस्तार बहुत अधिक होने से संधियों की संख्या पचास से सवा सौ तक होती है जब कि चरितकाव्यों में विषय विस्तार मर्यादित होता है जिससे संधि संख्या अधिक नहीं होती। शेष बातों-जैसे संधि तक, कड़वक पंक्तियुक्त आदि दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है।[1] अपभ्रंश के पौराणिक काव्य ही चरित काव्य हैं और चरित काव्य ही पौराणिक काव्य हैं। दोनों की क्षेत्रीय सीमारेखा बहुत फीकी है। उदाहरणार्थ स्वयंभूके 'रिट्ठणेमि चरिउ' को 'हरिवंश पुराण' भी कहा जाता है। वास्तविकता यह है कि अपभ्रंश के अधिकांश पौराणिक ग्रंथ काव्य कृतियां ही हैं। अधिक से अधिक उन्हें पौराणिक शैली के प्रबन्धकाव्य अथवा महाकाव्य माना जा सकता है।

'कथा' कहलाने वाले अपभ्रंश ग्रंथ भी ऐसे ही हैं। धनपाल कृत 'भविसयत्त कहा' जैसे ग्रन्थ कथा से अधिक काव्यकृति हैं। चरित कथा और पुराण की तरह ही रासक चर्चरी फागु तथा वेलि रसायन, प्रकाश कौमुदी संक्षिप्त विलास विजय रूपक आदि नाम देकर भी इस काल में प्रशस्ति-मूलक प्रबन्ध काव्य लिखने की प्रथा प्रचलित हो गई थी जैसे अपभ्रंश में 'भरत बाहुबलिरास' 'स्थूलिभद्ररास' 'संदेश

---

१ भायाणी पउमसिरिचरिउ-भूमिका पृ० १२

रासक' 'कीर्तिलता, आदि । अतः केवल नाम के आधार पर ही काव्य रूप का निर्णय करना युक्तिकर होगा।

जैसा कि हम अन्यत्र बता चुके हैं, अपभ्रंश में प्रबन्ध काव्यों की बहुलता है। इस अपभ्रंश प्रबंधात्मक काव्यों का बहुत बड़ा भाग महाकाव्यों के रूप में है। महाकाव्यों के अन्तर्गत प्राय समस्त पुराण काव्यों और विभाल चरित काव्यों की परिगणना की जा सकती है। आकार और लघु विदुवस्यास की दृष्टि से अनेक प्रबन्धात्मक काव्य खण्ड काव्य माने जा सकते हैं। ये खण्ड काव्य भी तीन प्रकार के दीख पड़ते हैं (१) कल्पना प्रधान संदेश रासक' आदि (२) ऐतिहासिक जैसे 'कीर्ति लता' (३) व्रतादि की पद्यबद्ध कथाएं जैसे सुतिपंचमी रास । अपभ्रंश के उपलब्ध महाकाव्यों में प्राचीनतम स्वयंभू के 'पउम चरिउ और 'हरिवंश पुराण' हैं। उसके बाद से १७ वीं शताब्दी तक के ऐसे प्रमुख प्रबन्ध काव्यों की जिन्हें परम्परागत परिभाषा के अनुसार महाकाव्य माना जा सकता है, सूची नीचे दी जा रही है।[१]

१	पउम चरिउ– (रामायण)	स्वयंभू	९० संधियां	८ १ शताब्दी
२	रिट्ठणेमि चरिउ– (हरिवंश पुराण)		११२	८-९
३	महापुराण— (त्रिषष्ठिपुरिसगुणालंकार)	पुष्पदन्त	११२ ,	१०
४	भविसयत्त कहा–	धनपाल	२२ ,	१०
५	सुदंसण चरिउ—	नयनन्दि	१२	१०
६	हरिवंशपुराण–	धवल	१२२	१०
७	जम्बूसामि चरिउ–	वीर कवि	११	११
८	पाण्डुपुराणु—	पद्मकीर्ति	१८	११ ,
९	पासचरिउ—	विबुध श्रीधर	१२ ,,	१२
१०	णेमिणाहचरिउ—	हरिभद्र सूरी		१२
११	विलासवईकहा—	सिद्धसेन	११	१२
१२	करकंडु चरिउ—	कनकामर	११	१२
१३	पज्जुणकहा—	सिद्ध व सिंह	१५ ,,	१२ ,,
१४	जिनदत्त चरिउ—	कवि लक्ष्मण	९ ,,	१३
१५	पांडवपुराण–	यशःकीर्ति	११ ,,	१५ ,
१६	चन्दप्पहचरिउ—	यशःकीर्ति	११ ,	१५ ,,
१७	बाहुबलिचरिउ—	धनपाल	१८ ,,	१५ ,
१८	सान्तिणाहचरिउ—	शुभकीर्ति	१९ ,,	१५ ,

१ डा० शंभुनाथ सिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० १७५

२ डा० शंभुनाथ सिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० १७६

१९	मेहेसरचरिउ—	रइधू	१४ „ १५
२०	पद्मपुराण—	रइधू	१४ „ १५
२१	सिरिपालकहा—	रइधू	१० „ १५
२२	धम्मपरिक्खाचरिउ—	तेजपाल	१०, १५,
२३	णायकुमारचरिउ—	माणिकराज	९ „ १६ „
२४	सन्तिणाहचरिउ—	महीन्दु	१३ „ १६,
२५	वड्ढमाण कव्व—	जयमित्रहल्ल	११ „ १६ „

डा० शम्भूनाथ सिंह द्वारा दी गई प्रस्तुत सूची से मतभेद हो सकता है। डा० हरवंशलाल ने 'करकंडुचरिउ' तथा 'जम्बूसामि चरिउ' को महाकाव्य न मानकर खण्ड काव्य माना है। हम इस समूची सूची को इसी रूप में ग्रहण करने के पक्ष में नहीं है। इसलिए हम प्रस्तुत सूची में से केवल मुख्य और प्रतिनिधि रचनाओं पर ही विचार करेंगे। अपभ्रंश महाकाव्य निम्न कोटि के मिलते हैं।

(अ) पौराणिक शैली के महाकाव्य-यथा-'पउम चरिउ', 'रिट्ठणेमि चरिउ 'महापुराण' 'हरिवंश पुराण' आदि।

(ब) रोमांचक शैली के महाकाव्य-यथा-'भविसयत्त कहा' 'सुदंसण चरिउ 'विलासवईकहा' आदि।

यहाँ हम इन दोनों कोटि के महाकाव्यों पर विचार करेंगे। 'पउम चरिउ' आजावधि उपलब्ध अपभ्रंश महाकाव्यों में सबसे अधिक पुराना और एक महत्व का महाकाव्य है। यह राम कथा का जैन संस्करण है। राम कथा भारतवर्ष की सबसे अधिक लोकप्रिय कथा है और इस पर विपुल साहित्य का निर्माण हुआ है। हिन्दू, बौद्ध और जैन इन तीनों में ही यह कथा अपने अपने ढंग से लिखी गई है और तीनों ही धर्म राम को अपना अपना महापुरुष मानते हैं।[1] अभी तक अधिकांश विद्वानों का मत यह है कि इस कथा को सबसे पहले वाल्मीकि मुनि ने लिखा था और संस्कृत का सबसे पहला महाकाव्य वाल्मीकि रामायण है। उसके बाद यह कथा महाभारत ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण अग्निपुराण वायुपुराण आदि सभी पुराणों में थोड़े थोड़े हेरफेर के साथ संक्षेप में लिपिबद्ध की गई है। इसके सिवाय अध्यात्म रामायण, आनन्द रामायण अद्भुत रामायण आदि रामकथा को लेकर अनेक रामायण लिखे गये। जैन और बौद्ध आचार्यों ने अपने धार्मिक विचारों के अनुरूप इसी कथा को परिवर्तित अथवा परिवर्धित एवं सम्पादित किया। बृहत्तर सांस्कृतिक भारत के जावा, सुमात्रा आदि देशों के साहित्य में भी इसका अनेक रूपान्तरों के साथ विस्तार हुआ।[2] अपभ्रंश के आदि महाकाव्य 'पउमचरिउ' को भी रामकथा होने का श्रेय जाता है। 'पउमचरिउ' के रचयिता अपभ्रंश के प्रथम महाकवि हैं। राहुल जी भी

---

१ नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास पृ० ९१

२ विशेष विवरण के लिए — डा० कामिलबुल्के रामकथा

दृष्टि में तो वह भारत के एक दर्जन अमर कवियों में से एक था।[1] स्वयंभू कृत 'पउम चरिउ' अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण रचना है। यह ग्रंथ बारह हजार श्लोक प्रमाण में है और इसमें सब मिलकर ९० संधियां हैं—विद्याधर काण्ड में २०, अयोध्याकाण्ड में २२ सुन्दरकाण्ड में १४ युद्धकाण्ड में २१ और उत्तरकाण्ड में १३।[2] इनमें ८३ संधियां स्वयंभू की और शेष ७ उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू की हैं। ८३वीं संधि के अन्त की पुष्पिका में भी यद्यपि त्रिभुवन स्वयंभू का नाम है इसलिए स्वयंभू देव की रची हुई ८२ ही संधियां होनी चाहिए, परन्तु ग्रंथान्त में त्रिभुवन ने अपनी रामकथा – कन्या को सप्तमहासर्गांगी या सात सर्गों वाली कहा है इसलिए ८४ से ९० तक सात सन्धियां ही उनकी बनाई जान पड़ती हैं। सम्भव है ८३वीं सन्धि का अपनी आगे की ८४वीं संधि से ठीक संबंध बिठाने के लिए उसमें भी उन्हें कुछ कड़वक जोड़ने पड़े हों और इसलिये उसकी पुष्पिका में भी अपना नाम दे दिया हो।[3]

इस प्रकार से 'पउम चरिउ' को त्रिभुवन स्वयंभू द्वारा पूरा किया गया। नाथूराम प्रेमी का निश्चित मत है कि स्वयंभू का 'पउम चरिउ' उनकी रुचि और समझ के अनुसार सम्पूर्ण ही था। अधूरा नहीं था। पीछे उनके पुत्र त्रिभुवन ने अधूरे को पूरा नहीं किया है बल्कि उसमें इजाफा किया है। त्रिभुवन ने जो अंश बढ़ाये हैं वे 'पउम चरिउ' की प्रधान कथा के लिये अनिवार्य और प्रासंगिक नहीं हैं।[4] डा० भायाणी प्रेमी जी के मत से असहमत जान पड़ते हैं।[5] हम प्रेमी जी की मान्यता का समर्थन करते हैं। उन्होंने सप्रमाण इस प्रश्न को सुलझा दिया है।[6]

काव्य-शैली की दृष्टि से स्वयंभू का प्रस्तुत महाकाव्य विशेष महत्व रखता है। परवर्ती हिन्दी महाकाव्यों में हमें जो विशेषताएं दीख पड़ती हैं उनकी परम्परा को पूर्णरूप समझने के लिए प्रस्तुत रचना का महत्व असंदिग्ध है। हिन्दी के प्रबंध काव्यों में जो काव्य-रूढ़ियां और शैलीगत मोड़ आये हैं उनमें से कुछ तो संस्कृत प्राकृत से ग्रहण किये गये हैं किन्तु अधिकांश अपभ्रंश परम्परा के द्वारा होकर आये हैं। काव्यारम्भ में देवता की स्तुति विषयवस्तु का निर्देश, अपनी असमर्थता और दीनता का निवेदन पूर्व-कवि प्रशंसा सज्जन-स्तुति और दुर्जन-निन्दा, प्रयुक्त छन्दों का

---

१ राहुल सांकृत्यायन हिन्दी काव्यधारा भूमिका पृ० ५०

२ 'पउम चरिउ' अंतिम प्रशस्ति।
विरि-विज्जाहर-कंडे संधीओ हुंति वीस परिमाण।
उज्झा कंडम्मि तहा बावीस मुणेह गणणाए।
चउदह सुन्दरकंडे एक्काहिय वीस जुज्झकंडे य।
उत्तरकंडे तेरह संधीओ णवइ सव्वाउ॥

३ नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास पृ० २००

४ वही पृ० २०४

५ डा० भायाणी पउमचरिउ भूमिका, पृ० ४३-४४

६ नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास पृ० २०४

उपसेन, देशवर्णन नगर-वर्णन के साथ ही साथ राजनीति, धर्मनीति युद्धनीति आदि का विशद वर्णन और कहीं कहीं विभिन्न वस्तुओं की नामावली और परिगणना, कथा कहने का प्रश्नोत्तरी तरीका आदि बातें ऐसी हैं जो प्रायः संस्कृत के कुछ परवर्ती काव्यों तथा अपभ्रंश और प्राकृत के प्रायः अधिकांश काव्यों में समान रूप से पाई जाती हैं और डिंगल के प्रबन्ध काव्यों में भी ये रूढ़ियाँ इसी तरह अपना ली गई हैं। आगे चलकर इनके सम्बन्ध में यथा स्थान विचार किया जायेगा।

अपने महाकाव्य का आरम्भ स्वयंभू ने बड़ी ही उदात्त भूमिका के साथ किया है। प्रारम्भ में गुरु-वन्दना है। इसके बाद कवि का आत्म-निवेदन है। परम्परागत तरीके से कवि ने पंडितों से निवेदन किया है कि मेरे समान कुकवि दूसरा न होगा न तो मैं व्याकरण जानता हूँ और न वृत्ति-सूत्र की व्याख्या ही कर सकता हूँ न मैंने पाँचों महाकाव्यों को सुना है और न पिंगल-प्रस्तार आदि छन्द लक्षण ही जानता हूँ। भामह दंडी के अलंकार-शास्त्र से भी अपरिचित हूँ फिर भी मैं काव्य-रचना का व्यवसाय छोड़ने में असमर्थ हूँ।[1] फिर उत्तम दुर्लभ स्मरण की परिपाटी का पालन किया गया है। जैन-राम-कथा की परम्परा का निर्वाह करते हुए कवि ने अपनी कृति रची है। फिर भी रसात्मकता और सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए कवि ने विभिन्न मर्मस्पर्शी भावों के चित्रण प्राकृतिक दृश्यों और घटनाओं के वर्णन तथा वस्तु व्यापार के संश्लिष्ट और प्रासंगिक निरूपण में पर्याप्त मौलिकता और मार्मिक रूढ़ियों से ऊपर उठकर स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति का परिचय दिया है।[2] स्वयंभू के युद्ध वर्णन पढ़कर परवर्ती डिंगल कवियों की याद आ जाती है। कवि का भाषा पर अपरिमित अधिकार जान पड़ता है और फलस्वरूप वह परुष अथवा कोमल जैसा अथवा गतिशील नादसौन्दर्य उत्पन्न करने में सफल हो जाता है। यहाँ यह नाद-सौन्दर्य प्रभावाभिव्यंजिका एक सबल अंग बनकर आता है, क्लिष्टता का कारण नहीं बनता। पावसराज ने ग्रीष्मराज पर हमला करना तय किया। मेघरूप काला मतवाला विशालकाय हाथी सजाया गया। पावसराज उस पर सवार हुए, हाथ में इन्द्रधनुष धारण किया। लड़ाई शुरू हो गई। पावसराज ने धनुष का आस्फालन किया तड़ित् रूप में टंकार ध्वनि प्रकट हुई मेघ-गज-घटा को प्रेरित किया और जलधारा के रूप में सहसा बाण-वर्षा कर दी। युद्ध का भयंकर दृश्य ध्वनि और अर्थ दोनों में साकार हो उठा है।

धग-धग-धग-धगंतु उद्धाइउ हस-हस-हस-हसंतु संपाइउ।
जल-जल जल-जलंतु पज्जलंतउ जालावलि फुलिंग मेल्लंतउ।
धूमावलि धय दंड उब्भेप्पिणु वरवाउलिखग्गु कड्ढेप्पिणु।
झड झड-झड-झडंतु पहरंतउ तरुवर रिउ भड भज्जंतउ।
मेह-महा-गयघड विहडंतउ जं उण्हालउ दिट्ठु भिडंतउ।

---

१ देवेन्द्रकुमार पउमचरिउ—पृ० ८–९
२ डा० भायाणी पउमचरिउ-भूमिका—पृ० ४८–४९

घत्ता—धणु मप्फालिउ पाउसेण तडि टंकार फार दरिसंते ।
चोइवि जलहर हत्थि हड, नीर सरासणि मुक्क तुरंते ।
[पउम चरिउ २८–२]

एक ही प्रकार के शब्दों की पुनरावृत्ति—शब्दों का अनुरणनात्मक प्रयोग चारण काव्यों की विशेषता रही है। 'पृथ्वीराजरासो' से लेकर 'वंशभास्कर' जैसे मिश्रित काव्यों तथा डिंगल गीतों में यह प्रवृत्ति बहुतायत से मिलती है। पुनरावृत्ति तो डिंगल गीतों की आधार शिला बन गई है। स्वयंभू का युद्ध वर्णन पढ़ते ही हमें चन्दबरदायी, सूर्यमल्ल मिश्रण तथा अन्य राजस्थानी कवियों के युद्ध वर्णन याद आ जाते हैं। युद्ध में धनुष की टंकार, खड्गों की खनखनाहट, योद्धाओं की हुंकार शत्रुओं को देखकर वीर की ललकार, सभी कविता में शब्दों की ध्वनि में सुनी जा सकती है।

हणहण-हणंकार महारउद्दु । छणछण-छणंतु गुणपिपरिक्खुद्दु ।
करकरकरंतु कोवंड पवरु । थरथरथरंतु णाराय-णियरु ।
जलजलजलंतु तिक्खग्ग वाणु । हिलिहिलिहिलंतु हय चंचलागु ।
गुलुगुलुगुलंतु गयवर विसालु । 'हण हण' भणंतु णरवर विसालु ।
[पउम चरिउ ६१–१]

कवि ने उपमा उत्प्रेक्षा श्लेष, अनुप्रास यमक तद्गुण अनन्वय अपह्नुति आदि अनेकों अलंकारों का सहजस्वाभाविक रूप से प्रयोग किया है। इसी प्रकार छंदों की दृष्टि से कवि ने पञ्झटिकचतुरा द्विपदी हेला द्विपदी मंजरी आरणालिका आरणाल वसैटिका पद्धडिका वदनक पारणक मदनावतार विलासिनी, प्रमाणिका समानिका भुजंग प्रयात आदि अनेक छंदों का प्रयोग किया है।[1]

स्वयंभू का दूसरा महाकाव्य 'हरिवंश पुराण' या 'रिट्ठणेमिचरिउ' महाभारत के हरिवंश का जैन रूपान्तर है। अपभ्रंश में इस विषय पर बहुत से काव्य लिखे गये हैं। दसवीं शताब्दी के कवि धवलका 'हरिवंश पुराण', पुष्पदन्त के महापुराण के भीतर हरिवंश की कथा और पन्द्रहवीं सोलहवीं सदी के कवि पंडित रइधू कृत 'हरिवंश पुराण' या रिट्ठणेमचरिउ उसके उदाहरण हैं। किन्तु 'महाभारत और हरिवंश सम्बन्धी जैन काव्य ग्रन्थों में स्वयंभू का 'हरिवंशपुराण' ही सर्वोत्कृष्ट है।'[2] यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट में 'हरिवंश पुराण' की भी प्रति सुरक्षित है उसमें कुल ११२ संधियां हैं। अध्ययन करने से पता चलता है कि स्वयंभू ने केवल ९२ संधियों की ही रचना की थी जिसमें ११ संधियों का यादवकांड ११ संधियों का कुरुकांड और ६० संधियों का युद्धकांड है। इसके बाद उनके त्रिभुवन ने १७ संधियां और जोड़ीं। शेष ६ संधियां

1 डा० भायाणी पउमचरिउ, भूमिका पृ० ७८
2 शम्भूनाथसिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ० १८१

यश कीर्ति की रचना मालूम होती है, जो पज्झडी पाठावली के साथ प्राप्त हुए हैं।[1] इस ग्रन्थ का प्रारम्भ 'पउमचरिउ' के ढंग से ही देवस्तुति, पूर्व कवि प्रशंसा, विनम्रता प्रदर्शन, विषय की महत्ता और अपनी अल्पज्ञता निवेदन आदि के बाद श्रेणिक और गणधर के प्रश्नोत्तर रूप में हुआ है। यह प्रश्नोत्तर तरीका चंदबरदायी के पृथ्वीराज रासो में भी है जहां कविपत्नी कवि से पृथ्वीराज की कीर्ति को लेकर प्रश्न कर बैठती है। अगले अध्याय में इसपर गहराई से विचार किया जायेगा।

कवि ने कथा का आधार महाभारत और हरिवंश पुराण को ही रखा है किन्तु कहीं-कहीं समयानुकूल परिवर्तन भी कर दिए हैं। उदाहरण के लिये द्रौपदी स्वयंवर में मत्स्यवेधकी प्रतिज्ञा के स्थान पर केवल धनुष चढ़ाने का कवि ने उल्लेख किया है। इस परिवर्तन में जैन धर्म की अहिंसा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।[2]

कथा को देखते हुए यदि ग्रन्थ में विवरण की अधिकता हो तो स्वाभाविक ही होगा किन्तु कवि ने अपनी कृति को सरस बनाये रखा है जहीं पाठक का मन ऊबता नहीं। युद्ध वर्णन का तरीका परवर्ती हिन्दी काव्यों के तरीके से अद्भुत साम्य रखता है। वही ध्वनि प्रभाव वैसी ही गत्यात्मक छंद योजना और योद्धाओं की मुठभेड़ का वैसा ही सजीव चित्र देखिये—

भज्जंत रहमाउह । जुज्झंत सुहडाईं ।
णिग्गंत अंताइं । भिज्जंत गत्ताईं ।
लोटंत चिंधाईं । तुट्टंत छत्ताईं ।

—हरिवंशपुराण ७–६।

रथ टूट रहे हैं योद्धा युद्ध करते जा रहे हैं प्रहार से आंतें बाहर निकल पड़ती हैं गात्र रुधिर से भीग रहे हैं ध्वजायें भग्न हो पृथ्वी पर लोट रही हैं और छत्र टूटते जा रहे हैं। वैसे कवि पर संस्कृत का विशेषतः बाण का प्रभाव स्पष्ट है। उसने स्वयं स्वीकार किया है कि बाण से उसने बड़े-बड़े समासों या शब्दाडंबर वाली भाषा ली।[3]

महापुराण या तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार पुष्पदन्त द्वारा रचा हुआ महाकाव्य है। पुष्पदन्त मान्यखेट के भरत और उनके पुत्र नन्नके आश्रित कवि थे और इन्हें अपने कवित्व का बड़ा अभिमान था। इन्होंने अपने को काव्य-पिसल्ल अभिमान-मेरु कविकुलतिलक काव्यरत्नाकर सरस्वती-निलय आदि उपाधियों से

---

१ हेमचन्द्र मोदी अपभ्रंश पाठावली टिप्पणी पृ० ११–२१

२ डा० रामसिंह तोमर प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव। डा० कोछड़ द्वारा पृ० १८ पर उद्धृत

३ हरिवंश पुराण, १–२
बाणेण समप्पिउ घणघणउं तं अक्खर-डंबरु अप्पणउं

४ श्री पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित माणिकचन्द्र जैन ग्रंथमाला के तीन खण्डों में सं० १९३७, ४१ और ४७ में प्रकाशित

विभूषित किया है[2]। विद्वानों द्वारा इनका समय ईसा की दसवीं सदी माना गया है।[1] उनका व्यक्तित्व तेजस्वी और प्रगल्भ था। वे स्पष्टवक्ता थे और जिनसे के परवर्ती चित्तरकाव्य रचयिताओं की निडरता की याद दिलाते हैं। इस महाकाव्य के दो खंड हैं— आदि पुराण और उत्तरपुराण। आदिपुराण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ का चरित्र है और उत्तर-पुराण में अवशेष तेईस तीर्थंकरों की जीवन-गाथाएं हैं, जिनका एक दूसरे से कोई विशेष संबंध नहीं।[3] साथ ही में चक्रवर्तियों, वासुदेवों प्रतिवासुदेवों व बलदेवों कुल ६३ महापुरुषों की कथाएं दी गई हैं। यह विशालकाय ग्रंथ अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। राम और कृष्ण कथाओं का जैनस्वरूप भी हमें यहाँ मिल जाता है। पुष्पदन्त के वीर योद्धा और वीर नारी के चित्र उत्तरकालीन राजपूत योद्धा और वीर भावकि जान पड़ते हैं वही रंग वही चटक वही तेज वही प्राणवत्ता। इस महाकाव्य में अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग उसी अर्थ और संदर्भ में डिंगल में भी हुआ है। इस दृष्टि से प्रस्तुत रचना का महत्व बढ़ जाता है स्वयंभू में जहाँ सारल्य है वहाँ पुष्पदन्त में अलंकार मोह। उदाहरण देखिये—

वहु कावि भि वेइ ण वहिय तिलउ अहिलसइ वइरिवहिरेण तिलउ।
वहु कावि भिवइ ण मलयाउ जलयइ करि मोत्तिय चच्चायाउ।

हरिवंश-पुराण—५२ १३ । ४ ५

अर्थात् किसी युद्धाग्मुख योद्धा की वधू उसे दधि तिलक नहीं लगाती वह उसे वैरी के रुधिर से तिलक लगाना चाहती है। किसी की वधू अपने पति को अक्षत का टीका नहीं लगाती वह शत्रु के आहत हाथियों के गज-मुक्ताओं से अपने पति का टीका करती है।

इसी प्रकार सामने-सामने एक दूसरे से भिड़ने को तत्पर सेनाओं का चित्रण करते हुए कवि कहता है—

चल चरण चार चालिय धराइं ओत्थल्लिय गिरि विवरंतराइं।
रसहल्लिय घुमिय विर विसहराइं भयतसिर रसिय घण वणयराइं।
झलझलिय चलिय सायर जलाइं जल ललिय काम कोवाणलाइं।
पय हय रय छइय महंतराइं जलजलिय हिमयर दिणयराइं।
करि वाहणाइं उप्पाहणाइं हरि हरि वीवाहिय साहणाइं।
वासइं सम्मण्णइ सम्मुहाइं अभिवाडाजइ णं बंध मुहाइं।

—हरिवंशपुराण-५२-१४।८-११।

---

१ डा० हरिवंश कोछड़ अपभ्रंश साहित्य—पृ० ७१
२ नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास—पृ० ३२५
३ नेमिचन्द्र शास्त्री हिन्दी जैन-साहित्य परिशीलन भाग १ —पृ० ४८

अन्यत्र हम इस दृष्टि से विशद तुलना करेंगे। वैसे कवि अपनी रचना में महाभारत से प्रभावित जान पड़ता है। जिस तरह महाभारत अपने बारे में कहता है कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्'–अर्थात् जो यहां है, वही अन्यत्र भी है जो यहां नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं मिलेगा। पुष्पदन्त एक कदम आगे बढ़कर कहते हैं—

अत्र प्राकृत लक्षणानि सकला नीतिः स्थितिश्छन्दसामर्थालंकृतयो रसाश्च विविधास्तत्त्वार्थनिर्णीतयः।
किं चान्यद्यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते द्वावेतौ भरतेशपुष्पदशनौ सिद्धं ययोरीदृशम्॥

—महापुराण–२९ वीं संधि–प्रारंभिक प्रशस्ति

अर्थात् इस रचना में प्राकृत के लक्षण समस्त नीति छंद अलंकार रस, तत्त्वार्थ-निर्णय सब कुछ आ गया है। यहां तक कि इस जैन चरित में जो कुछ है, वह अन्यत्र नहीं मिलेगा।

इसी प्रकार पृथ्वीराजरासो में घोषणा की गई है—

उक्ति धर्म विशालस्य राजनीति नवं रसं।
षट्भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया।

—पृथ्वीराजरासो–१–८१

इस परम्परा का विकास अद्भुत है।

धनपाल रचित भविसयत्त कहा श्रुत-पंचमी का माहात्म्य प्रदर्शित करने के उद्देश्य से लिखा गया काव्य है। इसकी कथा लौकिक आधारों पर खड़ी है। हमारी धार्मिक कथाओं में लौकिक और अलौकिक का अद्भुत मिश्रण देखा पड़ता है वही इसमें भी है। अनेक अतिप्राकृत प्रसंगों की अवतारणा प्रस्तुत काव्य में हुई है जो इस रचना को लोकधर्मी बना देती है। संक्षेप में कथानक यों है—

गजपुर में धनपति नामक एक नगरसेठ रहता था। उसने उसी नगर के एक दूसरे वणिक हरिबल की कन्या कमलश्री से विवाह किया जिससे कुछ दिनों बाद भविष्यदत्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। न जाने पूर्वजन्म के किस कर्म के कारण धनपति का प्रेम कमलश्री से हट गया और उसने कमलश्री को पीहर भेजकर सरूपा नामक एक दूसरी लड़की से शादी कर ली। कुछ समय बाद सरूपा से बंधुदत्त नामक पुत्र हुआ। बंधुदत्त के सयाने होने पर उसके पिता ने उसे व्यापार के लिए देशान्तर जाने की आज्ञा दी। बंधुदत्त ने अनेक अन्य वणिक-पुत्रों के साथ कंचन द्वीप की यात्रा की। भाई को व्यापार के लिये जाते देखकर भविष्यदत्त ने भी साथ हो लेना चाहा। कमलश्री ने अपने पुत्र को बहुत मना किया कि बंधुदत्त के साथ मत जाओ, लेकिन भविष्यदत्त ने बंधुदत्त पर विश्वास करके यात्रा आरंभ कर दी। यात्रा पर जाने से पहिले बंधुदत्त की माता ने अपने बेटे से कहा कि अवसर पाकर तुम

भविष्यदत्त को समुद्र में उठाकर फेंक देना, दूसरी ओर कमलश्री ने अपने पुत्र भविष्यदत्त को नीति और सदाचार की बातें बताई व उनके पालन का उपदेश दिया। यात्रा आरम्भ होने के कुछ अरसे बाद अचानक तूफान आ गया और इस सार्थकी नौकाएं तिलक द्वीप से जा लगीं। वहाँ उतरने पर जब भविष्यदत्त उपासना के हेतु पुष्पादि लाने कहीं चला गया तो बंधुदत्त उसे उस द्वीप में अकेला छोड़कर चल पड़ा।

अकेला भविष्यदत्त इधर-उधर भटकते हुए एक ऐसी वैभवशाली नगरी में पहुंचा जो जन-शून्य थी। वहाँ उसे एक सुन्दरी मिली और वहीं एक राक्षस भी आ टपका। उसने उन दोनों का विवाह करा दिया। बारह वर्ष तक इस नगरी में सुख पूर्वक जीवन बिताने के बाद भविष्यदत्त अन्त में अपार धनराशि लेकर अपनी पत्नी के साथ घर चलने को प्रस्तुत हुआ। ज्यों ही वह समुद्र तट पर पहुँचा उसने अपने सौतेले भाई बंधुदत्त को देखा, जो अपने घर वापिस लौट रहा था। बंधुदत्त ने अपने किए पर पश्चाताप प्रगट किया। चलने से पहले भविष्यदत्त ज्योंही जिन-मन्दिर में प्रणाम करने गया, बंधुदत्त उसकी पत्नी सहित सारी धनराशि लेकर निकल गया। घर आकर बंधुदत्त ने भविष्यदत्त की पत्नी को अपनी भावी पत्नी बतलाया और विवाह इत्यादि की तिथि निश्चित कर ली। इधर भविष्यदत्त की माँ श्रुत-पंचमी का व्रत रखती है और भविष्यदत्त जिन-पूजा करता है। फलस्वरूप उसकी सहायता के लिए एक देव उपस्थित होता है। उस देव ने भविष्यदत्त को अपार धनराशि दी और सकुशल उसके घर पहुंचा दिया। भविष्यदत्त ने घर पहुँचकर अपने भाई बंधुदत्त की पोल खोल दी और राजा से न्याय की फरियाद की। राजा ने बंधुदत्त को दंड देकर भविष्यदत्त को उसकी पत्नी वापिस दिला दी। यहाँ प्रथम खण्ड समाप्त होता है।

दूसरे खंड में क्रमशः दो प्रकार की कहानियाँ हैं। पहली तो यह कि कुरुराज और तक्षशिला-नरेश में लड़ाई हुई जिसमें भविष्यदत्त का काम महत्वपूर्ण रहा और उसीके पराक्रम से कुरुराज को विजय मिली। पुरस्कार स्वरूप राजाने आधा राज्य और अपनी पुत्री भविष्यदत्त को दी। कहानी का अन्तिम मोड़ यह है कि उसमें भविष्यदत्त के विविध पूर्वजन्मों की अद्भुत कहानियाँ कही गई हैं और जिनके सुनने-पर वह अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य दे कर तपस्या को निकल पड़ा। कहानी के पहले खंड में लोक कथा का जो सहज रस है वह अंतिम खंड के सोद्देश्य मोड़ से नष्ट हो जाता है। संभवतः इसीलिए धनपाल ने स्वयं ही इस कथाके दो खंड कर दिये हैं।[1]

जैसाकि अभी हमने देखा 'भविसयत्त कहा' एक लोककथा की सरसता लेकर चली। प्रसंगानुकूल काव्यमयता भी इसमें है। देखिये युद्धमें घुड़सवार योद्धाओं का हाल—

तो हरि खर खुरग्ग सर्वाड्ढ साहउ रज्जु अतोरणे।
गं भ्रमणच्छुरिमि धंधुक्कम भुम बर्मंधमारणे॥

—भविसयत्त कहा—पृ० १०२-१॥

[1] नामवर सिंह हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग-पृ० २१०-११

अर्थात् घोड़ों के तीक्ष्ण खुरों के संघर्षण से उद्भूत रज से तोरण सहित युद्ध भूमि आच्छन्न हो गई। वह रज मानों योद्धाओं की क्रोधाग्नि से उत्पन्न धुंआ हो।

इस ग्रंथ की भाषा में बहुत से शब्द इस प्रकार के प्रयुक्त हुए हैं जो प्राचीन हिन्दी कविता में यत्र-तत्र दिखाई दे जाते हैं।[1] इसी प्रकार से कथा में चित्रित पोयण पुर के राजा का चरित्र भारतीय सामन्तवादी चरित्रों का ही प्रतीक है।

धवल कवि द्वारा १२२ संधियों एवं १८ सहस्र श्लोक परिमाण में रचित हरिवंशपुराण अभी तक अप्रकाशित है। इसकी एक प्रति मुझे कारंजा के ज्ञानभंडार में देखने को मिली उसमें से मैंने कुछ स्थलोंका विवरण उतार लिया है। उसी के आधारपर प्रस्तुत जानकारी दी जा रही है। वैसे प्रस्तुत ग्रंथ में कोई विशेष बात नहीं है। जैनों के हरिवंश पुराण कथाओं की परम्परा में ही इसे लिया जा सकता है। कथा का स्वरूप वही है जो स्वयंभू तथा इतर जैन कवियों में उपलब्ध है। हां युद्ध वर्णन बड़े सजीव हैं। ये परवर्ती हिन्दी-डिंगल वीर काव्यों की परम्परा की पूर्व कड़ी हैं, इसे आसानी से कहा जा सकता है। उदाहरण देखिए—

रहवर रहहु धयहु धयवर धाविउ, आयुधवहु आयुधवर परायउ।
तुरउ तुरंगम कुखाय विहुरयउ, अविरलवाणु भग्गु भय चत्तउ।
गज्जहि महियर तूर हय हिंसहिं गुलु गुलत मयगर बहु दीसहि।
हणुहणु मार मार पभणंतिहि।
धसिय वरत्ति रेणु जहि भायउ अह पिसुपुरउ सुरउ आयउ।
फिक्कारउ करंति सिवराखणु घुम्मइ सुहड भमति सहिराखणु।
भमहल सेल गुंडसर भिण्णा गय वर हय करवालहि छिण्णा।
धर धर धाह परिम वो खंचिय धर उच्छलि पक्खं कहि मछिया॥

विज्जहि छत्तायत्ता मुच्छिहि भत्ता भत्ता।
कुच धाय धारिया अग्गहि विमारिया।
धीय मास मेलिमया कायरा विचल्लिया।
सग्ग हुत्त चुक्कहो वीहुमाइ मुक्कहि। ८९-१०

अर्थात् रथी रथकी ओर गज गज की ओर दौड़ा। आयुध आयुध की ओर आया। घोड़ा घोड़े से निरन्तर निरन्तर से और अति निर्भय हो कवच से जा भिड़ी। बाद्य जोर जोर से बज रहे हैं, घोड़े हिनहिना रहे हैं और हाथी चिंघाड़ते हुए दिखाई दे रहे हैं।

—मारो मारो सैनिक चिल्ला रहे हैं? धूलिभूत भूमि आकाश में छैल रही है। शीघ्र रक्त लोलुप शिवाएं गिर जाते हैं। शृगाल भयंकर शब्द कर रहे हैं। रक्तरंजित योद्धा इतस्तत घूम रहे हैं पक्ष भिन्न हो रहे हैं हाथी और घोड़े तलवारों से छिन्न हो रहे हैं राजा छिन्न भिन्नपद हो गिर रहे हैं।[2]

---

1. डा० हरिवंश कोछड़ अपभ्रंश साहित्य—पृ० १०२
2. वही—पृ० १०६—१०७

योद्धा विद्ध हो रहे हैं, भट मूर्छित हो रहे हैं कोई भालों के प्रहार से विदीर्ण हो रहे हैं, कोई खड्ग से छिन्न भिन्न हो रहे हैं, जीवन की आशा को छोड़ कायर भाग रहे हैं।

इस प्रकार हमने कुछ प्रमुख अपभ्रंश के महाकाव्यों का अपने विषय की अनुरूपता के सन्धान में अध्ययन किया। यहाँ जान बूझकर इन महाकाव्यों का शास्त्रीय अध्ययन नहीं किया गया है, क्योंकि ऐसा करना हमारे अध्ययन के लिए अनावश्यक ही नहीं अनुचित भी होता। अतः डिंगल काव्योंकी भूमिका की दृष्टि से इन काव्यों के वीररसात्मक अंशों को ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

अपभ्रंश खंडकाव्य

अपभ्रंश खंडकाव्यों का निम्न प्रकार से विभाजन किया जा सकता है।

१—शुद्ध धार्मिक दृष्टि से लिखे गये काव्य, जिनमें किसी धार्मिक या पौराणिक महा पुरुष के चरित्र का अंकन किया गया है।

२—धार्मिक दृष्टिकोण से रहित ऐहिक भावना से युक्त काव्य, जिनमें किसी लौकिक घटना का वर्णन है।

३—साम्प्रदायिक भावना विहीन ऐसे काव्य जिनमें किसी राजा के चरित का वर्णन है।

प्रथम प्रकार के इन काव्य ग्रंथों का विवेचन ही यहाँ अभीष्ट है, जिनसे डिंगल काव्यग्रन्थों को समझने में सहायता मिले। इस दृष्टि से सबसे पहले पुष्पदन्त विरचित णायकुमार चरिउ पर विचार किया जाय। यह कवि पुष्पदन्त द्वारा रचा हुआ ९ संधियों का एक खंडकाव्य है जिसका उद्देश्य श्रुतपंचमी व्रत का महात्म्य प्रदर्शित करना है। अनेक कथानक रूढ़ियाँ अलौकिक घटनाओं तथा इन्द्रजालादि के चमत्कारों से भरे इस कथाकाव्य में ईर्ष्या कलह, शौर्य स्नेह आदि दशाओं के सुन्दर चित्र हैं। कथा के नायक नागकुमार को कवि ने वीर रसका आश्रय दिखाया है। यह वीररस शृंगार से परिपुष्ट है।[1] नागकुमार के सौंदर्य और शौर्य को देखकर मोहित हुई स्त्रियों की उद्विग्नता का कवि ने सुन्दर वर्णन किया है।—नागकुमार के शौर्यसे उद्भूत नारी हृदय के प्रेम की व्यंजना कवि ने स्थान-स्थान पर की है। ऐसे स्थलोंपर शृंगार रस वीररस को समृद्ध करता है। प्रस्तुत कृतिको देखकर वीर और शृंगार की उस संयुक्त धारा की परम्परा का परिचय मिलता है, जो परवर्ती डिंगल रचनाओं व हिन्दी के अन्य वीर काव्यों में प्रवाहित होती रही। नागकुमार मगध देशीय कनकपुर के राजा जयंधर की दूसरी रानी पृथ्वीदेवी के पुत्र थे। जयंधर की पहली रानी विशालनेत्रा थी और उससे उन्हें श्रीधर नाम का एक पुत्र भी हुआ था। राजा ने दूसरी शादी यों की कि उनके यहाँ एक दिन एक अद्भुत व्यापारी आया और उसने राजा को गिरिनगर की राजकुमारी पृथ्वीदेवी का चित्र दिया। चित्र राजा को इतना

१—हरिवंश कोछड़ अपभ्रंश साहित्य—पृ० २११

पसंद आया कि उन्होंने उस राजकुमारी से शादी कर ली । बाद में मालूम हुआ कि व्यापारी के वेश में स्वयं यादव ही आए थे ।

पृथ्वीदेवी रानी होकर आई तो लेकिन पहली रानी विशालनेत्रा के वैभव से उन्हें ईर्ष्या होने लगी । एक दिन जब विशालनेत्रा राजा के साथ उद्यान में क्रीड़ा के लिए गई तो पृथ्वीदेवी जिन मंदिर चली आई । वहाँ मुनि पिहितास्रवने उन्हें धर्मोपदेश दिया और साथ ही पुत्रवती होने का आशीर्वाद भी । नागकुमार उस पुत्र का नाम इसलिए पड़ा कि पुत्र उत्पन्न होने के बाद राजा और रानी पुत्रको लेकर फिर मुनि के दर्शन के लिए गए । इधर राजा रानी मुनिसे बात करते थे उधर पुत्र कुएँमें गिर पड़ा । कुएँ में एक नाग ने उस राजकुमार की रक्षा की और वहाँ से वह राजकुमार को नाग-लोक ले गया । वहीं उसका नाम नागकुमार हुआ और उसने एक नागकन्या से शादी भी की । कुछ दिन नागलोक में रहने के बाद नागकुमार पृथ्वीपर आया । यहाँ उसने अपनी माँ की दुर्दशा देखी । राजा ने उसे दण्ड देकर उसके सभी आभूषण छीन लिए थे । नागकुमार अपनी माँ को आभूषण पहनाने के लिए जुआ खेलने गया और जीतकर बहुत से आभूषण ले भी आया । जब राजा ने यह सुना तो स्वयं भी उसे जुआ खेलने के लिए बुलाया और अपने पुत्र से जुये में सारा राज-पाट हार बैठा । नागकुमार ने केवल अपनी माँ के गहने लेकर बाकी सब कुछ पिता को लौटा दिया ।

नागकुमार के ऐसे ही प्रतापी कार्यों से सौतेले भाई श्रीधर को ईर्ष्या हुई । उसने नागकुमार की हत्या करने का प्रयत्न किया लेकिन सफल न हो सका । इसके विपरीत नागकुमार ने विषमैल हाथी का टीक करने जैसे वीरता के कार्यों से लेकर वंशीवादन जैसे कलापूर्ण कार्यों में भी उसके ऊपर विजय प्राप्त की । इस सिलसिले में नागकुमार ने अनेक शादियाँ की लेकिन सभी रानियों में उसे लक्ष्मीमती ही प्रिय थी । एक दिन उसने मुनि पिहितास्रव से इसका कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि पूर्वजन्म में दोनो ने 'श्रुतपञ्चमी' व्रत किया था । इसपर मुनि 'श्रुत-पञ्चमी व्रत' का विधान बताते हैं । नागकुमार बहुत दिनों तक सुखपूर्वक जीवन बिताने के बाद अंत में तपस्या करने चले जाते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं ।[1]

'जसहर चरिउ' कवि पुष्पदन्त द्वारा चार संधि में लिखा गया काव्य है । जसहर या यशोधर की कथा जैन साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है । यह कथानक जैन सम्प्रदाय में इतना प्रिय रहा है कि सोमदेव वादिराज वासवसेन सोमकीर्ति हरिभद्र क्षमाकल्याण आदि अनेक दिगम्बर लेखकोंने इसे अपने अपने ढंग से प्राकृत और संस्कृत में लिखा है । कथा संक्षेप में निम्न है ।

यौधेय-देशीय राजपुर नगर में एक दिन कापालिकाचार्य भैरवानंद पधारे । उनकी महिमा सुनकर राजा ने उन्हें पास बुलाया और आकाशमें उड़ने की सिद्धि माँगी । भैरवानन्दने इस सिद्धि की प्राप्ति के लिये देवी की विधिवत् पूजा का विधान बताया । पूजा-विधिका मुख्य अंग था नरयुगलकी बलि । राजपुरुषों को तत्काल आज्ञा

१—नामवर सिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—पृ० २२२–२१

हुई और वे नगर में घूमते हुये दो बालक और बालिका क्षुल्लकों को पकड़ लाये। ये क्षुल्लक सुदत्त नामक तपस्वी के शिष्य थे। राजा के सामने जब ये क्षुल्लक लाये गये तो उनके मुखपर कुछ ऐसे सामुद्रिक चिन्ह दिखाई पड़े कि राजाने उनके बध की आज्ञा देने की जगह उनका परिचय पूछा। क्षुल्लकों ने अपने गुरु से जैसा सुना था, उसीके अनुसार उन्हें अपने पूर्व जन्म की सारी कहानी सुना दी। कथा प्रसंग में भेद खुला कि इनमें एक पूर्व जन्म का यशोधर है और दूसरी बालिका उसकी माँ है। विविध कर्मों के अनुसार ये कभी पशु योनि में पैदा हुए और कभी नर योनि में, कभी पति पत्नी के रूप में कभी भाई-बहिन के रूप में और कभी माँ-बेटे के रूप में। वर्तमान राजा और रानी भी उनके साथ पूर्व जन्मों में अभिन्न रूप से जुड़े हुए थे।

यह सब सुनकर राजा को बड़ा पश्चाताप हुआ और अंतमें वैराग्यभावके साथ राजा-रानी क्षुल्लकोंके गुरु सुदत्त के पास जाकर जैनधर्म में दीक्षित हो गए।[1]

इसकी पूरी कथा बड़ी ही पेचीदी है—केला के पात-पात में पात की तरह इसमें कहानी के भीतर कहानी है, नाना जन्मांतरों की ऐसी पेचीदी कहानी अपभ्रंश में कोई नहीं है।[2]

'णायकुमार चरिउ' तथा 'जसहर चरिउ' में भारतीय कथा साहित्यकी विविध विशेषताऐं दीख पड़ती है। अनेक स्थलों पर लोकविश्वास उभर उठे हैं। परवर्ती राजस्थानी बात साहित्य में इन्हीं के समान अलौकिक तत्वों की भरमार है जो भारतीय कथा साहित्यकी अविच्छिन्न धाराकी द्योतक है।

नयनंदी द्वारा रचित 'सुदंसण चरिउ' अपभ्रंश की एक महत्वपूर्ण रचना है जो बारह संधियों में लिखी गई है। चंपापुरी में ऋषभदास नामक एक श्रेष्ठीका एक गोपाल मित्र था। पञ्चनमस्कार के फलस्वरूप वह मरने पर वह गोपाल अपने मित्र श्रेष्ठी के यहाँ जन्मा। उसका नाम सुदर्शन रखा गया। सुदर्शन का विवाह वहीं के एक अन्य श्रेष्ठी सागरदत्त की पुत्री मनोरमा के साथ हुआ। विवाह के अवसरपर दी जानेवाली दावत और भोजन का वर्णन कवि ने जमकर किया है। परवर्ती हिन्दी-राजस्थानी रचनाओं में इस प्रकार खाद्य पदार्थों की परिगणना करने और जमकर वर्णन करने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। धाड़ीवाहन राजाकी रानी अभया सुदर्शन पर मुग्ध हो अपनी एक पंडिता दासी के द्वारा उसे बुलवा मंगाती है। पर सुदर्शन अपने आदर्शसे नहीं डिगता। फलस्वरूप रानी झूठ मूठ शोर मचाकर सुदर्शन को गिरफ्तार करवा देती है। एक व्यंतिमावन-देव आकर सुदर्शन की रक्षा करता है। राजा पराजित होता है। कवि फिर धार्मिक उद्देश्य से पंचनमस्कार का महात्म्य प्रतिपादित करता है और इस प्रकार काव्य का अन्त होता है।

नयनंदी की भाषा और वर्णन शैली को देखने में 'सुदंसण चरिउ' निस्सन्देह

१—नामवरसिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग-पृ० २२१

२—नामवर सिंह. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग-पृ २२१

अपभ्रंश का एक उत्कृष्ट काव्य सिद्ध होता है। कवि ने तो इसे पूर्णरूप से दोष रहित घोषित किया है।[1]

मुनि कनकामर द्वारा रचित 'करकंड चरिउ' १० संधियों में रचा हुआ एक रोचक खंडकाव्य है। तीन चौपाई मात्र में करकंडुकी मुख्य कथा है और शेष में नौ आख्यान्तर कथाएँ हैं, जिन्हें राजा को नीति की शिक्षा देने के बहाने कहा गया है। चम्पा के शासक धाड़ीवाहन एक बार दोहद इच्छा पूरी करने अपनी पत्नी पद्मावती के साथ हाथीपर घूमने निकला। हाथी बिगड़ उठा। रानी ने राजा को अपने प्राण बचाने को राजी किया और स्वयं हाथी पर ही बैठी रही। हाथी के जलाशय में प्रवेश करने के बाद वह सकुशल उतर आती है। उसे पास के श्मशान में एक पुत्र होता है, जिसे एक विद्याधर ले जाता है। बच्चे के हाथपर कंडू अर्थात् खुजली होने के कारण वह करकंड कहलाया। यही पुत्र विद्याधर द्वारा पोषित होकर दन्तिपुरका कालान्तर में राजा बना। चम्पानरेश ने करकंडु को अपनी अधीनता स्वीकार करने को कहा। फलस्वरूप करकंडु और उसके पिता चम्पानरेश में युद्ध हुआ। रानी पद्मावती ने दोनों का परस्पर संबंध बताकर शान्ति स्थापित कर दी। पिता पुत्र को राज्य दे वन में तपस्या के लिए चले गये।

इसके बाद दिग्विजय की कामना से करकंड चेर चोल पांड्यनरेशों पर आक्रमण करता है और सफलता पाता है। फिर अनेक अलौकिक घटनाओं के वात्याचक्रमें उलझा संकट उठाता किन्तु अन्त में सिद्धि पाता वह अपनी राजधानी आ पहुँचता है। नगर में एक बार शीलगुप्त नामक मुनि आते हैं। वे राजा को प्रबोध देते हैं फलस्वरूप करकंडु अपना राज्य अपने पुत्र को देकर संन्यासी हो जाता है। प्रस्तुत कृति के युद्धवर्णन अनुरणनात्मक शब्दों के संचयन से अत्यधिक प्रभाव-मय हो गये हैं।

चाहिल कवि विरचित 'पउमसिरी चरिउ' चार संधियों का खंड काव्य है। यह काव्य धार्मिक आवरण से आवृत एक सुन्दर प्रेम कथा है। पद्मश्री कथा की नायिका है। वह न तो ऐतिहासिक पात्र है और न पौराणिक ही। कवि ने पूर्व जन्म की कथाओं का वर्णन कर बताना चाहा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी करनी के अनुसार फल पाता है और प्रयत्न करने पर अपने सद्कार्यों और पुण्यमय जीवन से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। कविकी सहृदयता ने काव्य को सरस बना दिया है। पद्मश्री का वियोग वर्णन राजस्थानी लोकगीतों की विरहिणी नारीकी याद दिला देता है। वही सरलता है सादगी है और जीवन है। हिन्दी के लिए प्रस्तुत कृतिका विशेष महत्व नहीं। बारहवीं शती में ही रास या रासक नामक काव्य विधाका भी उदय दिखाई देता है। इसका प्रथमस्वरूप हमें शालिभद्रसूरि (वि० १२४१) के भरत बाहुबलिरास में मिलता है। रास काव्यों में अगले अध्याय में विस्तार से विचार किया जायेगा। भरतबाहुबलि रास वीर रसका काव्य है जिसमें भरत तथा बाहुबलि के परस्पर युद्ध का वर्णन है।

इस काव्य में हमें उस रूढ़ युद्ध-वर्णन-शैली का रूप मिलता है जो बाद के वीरगाथा काव्यों की विशेषता बन गई है ।[1]

चल चमाल करिमाल कु ल कडूतल कोरह ।उ।
झलकई सावल सबल-सेलहल मसल चमक ।उ।
सिंजिणि गुण टंकार सहित बाणावलि तारइ
परभु उमालई करि वरइ पाता उलाई ॥

इसकी भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे की स्थिति की जान पड़ती है क्योंकि इसमें नव्यभाषाओं का स्वरूप जगह जगह झाँक उठा है ।

अपभ्रंश के दूसरी कोटि के खंडकाव्यों में 'सन्देशरासक' एक मात्र उल्लेखनीय रचना है । अद्दहमाण का 'संदेशरासक' अनेक दृष्टियों से महत्व का स्थान रखता है । इस काव्य का रचयिता जाति से मुसलमान होते हुए भी संस्कृत तथा प्राकृत काव्य परंपराका पूरा जानकार दिखाई पड़ता है । परम्परागत काव्यरूढ़ियों का जो प्रयोग संदेशरासक में मिलता है, वह इसका प्रमाण है । संदेशरासक की भाषा यद्यपि पूर्णत परिनिष्ठित अपभ्रंश नहीं कही जा सकती, तथा यह उस काल की रचना है, जब नव्य भाषाओं का उदय होने लगा था ।[2] तथापि संदेशरासक की भाषा में नव्यभाषाओं का आदि रूप इतना स्पष्ट नहीं हुआ है । संदेशरासक की भाषा उस स्थिति का संकेत करती है जब उसमें आगे बढ़ने की लालसा तो है पर रह रह कर पुरातन का प्रम उसे पीछे खींचे लिए जा रहा है ।[3]

संदेशरासक एक संदेशकाव्य है । कथासूत्र इतना ही है कि विजयनगर की एक प्रोषितपतिका अपने प्रिय के वियोग में रोती हुई एक दिन राजमार्ग से जाते हुए बटोही को देखती है और दौड़कर उसे रोकती है । पथिक को रोककर उससे पूछती है कि कहाँ से आ रहे हो और कहाँ जाओगे ? पथिक बतलाता है कि मैं सामोर से आ रहा हूँ और स्तंभतीर्थ को जा रहा हूँ । स्तंभतीर्थ का नाम सुनते ही नायिका भाव-विह्वल हो उठती है और पथिक से कहती है कि मेरा प्रिय अर्थ प्राप्ति के लिए खंभात गया है कृपाकरके मेरा संदेस उसे दे देना । इस तरह वह थम-थम कर धीरे धीरे अपनी विरह-व्यथा कहती जाती है । पथिक जाने की जल्दी मचाता है फिर भी नायिका के रुदन से प्रभावित हो रुक जाता है । वह पूछता है—तुम्हारा पति किस ऋतु में तुमसे अलग हुआ ? यह प्रश्न नायिका में अतीत स्मृति जगा देता है । उसे याद आता है कि तब ग्रीष्म था जब उसका पति उसे छोड़कर गया था । सालभर पूरा हो गया । इसके संदर्भ में छहों ऋतुओं में विरहिणी की क्या अवस्था रही, इसका ब्योरा दिया

१—भोलाशंकर व्यास हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास खंड १–पृ० ३४१

२—मुनिजिनविजय संदेशरासक—भूमिका—पृ ११

३ भोलाशंकर व्यास हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास खंड १, पृ० ३२१

है। काव्य का तीसरा प्रक्रम इसी षड्ऋतु वर्णन के हेतु रचा गया है ऐसा जान पड़ता है। पथिक को संदेश देकर नायिका ज्यों ही विदा करती है कि दक्षिण दिशा में उसका प्रिय उसे आते दीख जाता है।

'रासक' अथवा 'रास' नाम से लिये हुए काव्यग्रंथ अपभ्रंश में तथा उसके बाद पुरानी राजस्थानी और हिन्दी में भी मिलते हैं लेकिन विषय को देखते 'संदेश रासक' उन सबसे भिन्न है। उससे मिलता जुलता केवल एक रास काव्य राजस्थानी में है—'बीसलदेरास'[1]। अन्यथा अन्य रासकाव्य एक तरह से चरितकाव्य हैं जिनमें किसी राजा के युद्ध और विवाह की कहानी वर्णित दिखाई पड़ती है।

संदेश रासक के अनेक स्थल भावसौंदर्य, चिन्ताधारा अभिव्यंजना की तीव्रता और तन्मयी की दृष्टि से विरल हैं। इसकी जैसी ही उक्तियाँ और भावनाएँ हमें डिंगल व पिंगल की अनेक परवर्ती रचनाओं में व्यक्त दीख पड़ती हैं।

तीसरे प्रकार की रचनाओं में विद्यापति रचित कीर्तिलता महत्वपूर्ण रचना है। यह एक ऐतिहासिक चरित काव्य है जिसमें कवि ने अपने प्रथम आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह के यशका गान किया है। अपभ्रंश में इस प्रकार की यही एकमात्र उपलब्ध रचना है। इस प्रकार के अनेक काव्य भी रचे गये होंगे किन्तु वे या तो संरक्षण के अभाव में लुप्त हो गये होंगे अथवा अभी भी अज्ञात होंगे। चरित काव्य होते हुए भी कीर्तिलता एक दृष्टि से तथाकथित अन्य ऐतिहासिक काव्यों से भिन्न है। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों या घटनाओं को विकृत नहीं किया गया है। इसलिए चरितकाव्य होते हुए भी कीर्तिलता में वे कथानक रूढ़ियाँ बहुत कम पाई जाती हैं जो तत्कालीन और बाद के चरितकाव्यों में भरी पड़ी हैं। 'कीर्तिलता' चार पल्लवों में विभाजित है। रासो में कवि और कवि की पत्नी के संवाद से कथा का आरम्भ होता है और बीच बीच में शुक और शुकी पूछते रहते हैं। कीर्तिलतामें भृंग और भृंगी के प्रश्नो त्तरके रूप में कथा चलती है। इस साम्य की ओर हजारीप्रसादजी ने हमारा ध्यान खींचा है।[2] कीर्तिलता की वस्तु बड़ी संक्षिप्त है। मलिक असलान नामक मुसलमान सामन्त ने काव्य के नायक के पिता का वध कर तिरहुतपर अधिकार जमा लिया। कीर्तिसिंह तथा वीरसिंह असलान को दंड देनेके लिए जौनपुर के बादशाह इब्राहिमशाह के पास गये। द्वितीय पल्लव में जौनपुर की समृद्धि बाजार लोगों के रहन सहन का चित्रण है। तृतीय पल्लव में दोनों भाई बादशाह के पास पहुँचते हैं। बादशाह प्रसन्न होकर असलान को दंड देने के लिए एक सेना दोनों भाइयों के साथ कर देते हैं। चतुर्थ पल्लवमें सेना प्रयाणका वर्णन है। बादशाह की फ़ौज की सहायता से युद्ध में कीर्तिसिंह विजय पाता है और असलानको मार पिता के वध का बदला चुका लेता है।

कीर्तिलता की भाषा में अनेक विदेशी शब्द हैं—जिनका कवि ने अपने तरीके से प्रयोग किया है। उत्तरकालीन डिंगल रचनाओं में भी यह प्रवृत्ति काफी दीख पड़ती

१—नामवरसिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—पृ २२१

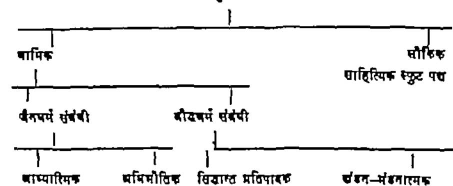
२—हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृ० ६१-६२

है। इस प्रवृत्ति से झुंझलाकर मोतीलाल मेनारिया तो कह उठे हैं—एक बात जो डिंगल के सभी कवियों में समान रूप से पाई जाती है वह है शब्दोंकी मनमाने ढंग से तोड़-मरोड़।[1] यही शिकायत डा० कोछड़ को भी विद्यापति से है। कैसी विडम्बना है।[2]

अपभ्रंश मुक्तक काव्य

अपभ्रंश का मुक्तक काव्य दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—। १। धार्मिक काव्य। २। लौकिक काव्य। धार्मिक काव्य के प्रेरणा स्रोत बौद्ध और जैन धर्म रहे हैं और लौकिक काव्य के उदाहरण विभिन्न व्याकरण ग्रंथों लक्षणग्रंथों तथा इतर रचनाओं में उद्धृत मिल जाते हैं। इनमें वीरता प्रेम, शृंगार आदि की भाव भावों को तीव्र अभिव्यञ्जना मिली है। अपभ्रंश की मुक्तक रचनाओं को निम्न प्रकार से विभाजित किया गया है।[3]

अपभ्रंश मुक्तक रचनायें



परवर्ती डिंगल काव्य पर अपभ्रंश के धार्मिक काव्य का प्रभाव नगण्य सा है। हाँ उसने हिन्दी राजस्थानी के संतसाहित्य को प्रचुर प्रभावित किया है। किन्तु चूंकि यह प्रस्तुत प्रबंधके क्षेत्र के अंतर्गत नहीं आता अत हमने अपभ्रंश के धार्मिक मुक्तक काव्य का विशद विवेचन अप्रासंगिक समझ यहाँ नहीं किया है। मात्र सामान्य परिचय से ही हमने संतोष कर लिया है।

जैनों के धार्मिक मुक्तक काव्यों में योगीन्दु का 'परमप्पयास' (परमात्म प्रकाश) व योगसार [4] मुनि रामसिंह कृत 'पाहुड दोहा' [5] देवसेन रचित, 'सावयधम्म दोहा'[6] जिनदत्तसूरिका उपदेश रसायन रास आदि प्रमुख व उल्लेखनीय रचनायें हैं। बौद्ध

१—मोतीलाल मेनारिया डिंगल में वीररस—पृ० २१

२—हरिवंश कोछड़ अपभ्रंश साहित्य—पृ० २६४

३—डा० हरिवंश कोछड़ अपभ्रंश साहित्य—पृ० २६७

४—डा० आ० ने० उपाध्ये द्वारा संपादित व १९३७ ई० में प्रकाशित

५—डा० हीरालाल जैन द्वारा संपादित—कारंजा सीरिज—सं० १९९० में प्रकाशित

६—वही— " " " " " १९८९ "

सिद्धों की कविता के मुख्य विषय थे,—रहस्यमयी भाषा में सिद्धान्त-प्रतिपादन, सहजमार्ग, गुरु की महत्ता कायारूपी पुण्य-तीर्थ बाह्याडम्बर का विरोध आदि।

सिद्धों के काल के संबंध में पर्याप्त मतभेद है। श्री विनयतोष भट्टाचार्य ने सरहपा सिद्धका समय वि० सं० ६९० माना है। श्री राहुल सांकृत्यायन इनका काल सन् ७६० ई० मानते हैं। इस प्रकार राहुलजी सिद्धों का काल ८०० ई० से १२०० ई० तक मानते हैं। डा० चाटुर्ज्या सिद्धों की भाषा को इसकाल के बादकी समझते हैं और भाषा के आधारपर सिद्धों का काल १००० ई० से० १२०० ई० के लगभग मानते हैं।[1]

सिद्धों की संख्या चौरासी मानी गई है। राहुलजी ने चौरासी सिद्धोंकी नामावली भी दी है।[2] सिद्ध वास्तव में चौरासी ही थे या इस संख्या का कोई विशेष महत्व था, यह कहना कठिन है। इन चौरासी सिद्धोंकी परम्परा में अनेक सिद्ध समसामयिक हैं। अनेक सहज यानी सिद्धों के नाम नाथसिद्धों की सूची में समानरूप से मिलते हैं।[3] सिद्धोंके नाम के पीछे पाद शब्द सम्मान का द्योतक है। इसका विकृतरूप पा है। इनकी सभी रचनाओं में प्रायः मिलती जुलती बातें व्यक्त की गई हैं। अविद्या से मुक्त होकर अपने ही अंतर्गत रहनेवाले सहजानन्द की प्राप्ति इनका परम लक्ष्य है।

सिद्धों के छंदोंमें विविधता नहीं है। 'चर्यागीत' में गेय पद हैं। दोहाकोष' में प्रधान छंद दोहा है। कुछ सोरठे तथा अन्य छंद भी हैं, परन्तु उनकी संख्या कम है। सिद्धों की भाषा को लेकर बड़ा भ्रम फैला है। विनयतोष भट्टाचार्य इनकी भाषा उड़िया हरप्रसाद शास्त्री बँगला [5] राहुलजी मगही [6] मानते हैं। किन्तु डा० बागची[7] और चटर्जी [8] सिद्धों की भाषाको निश्चित तौर पर अपभ्रंश ही मानते हैं। वस्तुतः सिद्धों की भाषा के दो रूप हैं। एक तो पूर्वी अपभ्रंश जिसमें पश्चिमी अपभ्रंश के रूप भी मिल जाते हैं और दूसरा शौरसेनी अपभ्रंश।

तंत्रशास्त्र से संबंधित महत्वपूर्ण अपभ्रंश कृति 'डाकार्णव तंत्र' है। इसमें वज्रयान के सिद्धांतोंका विवेचन है। भाषा शौरसेनी अपभ्रंश पर आधारित पूर्वीप्रभावयुक्त अपभ्रंश है। इसमें चौपाई आदि प्रमुख छंद हैं। इसका रचनाकाल ग्यारहवीं शतीके लगभग है।

१—चटर्जी आरिजिन ऐण्ड डेवलपमेण्ट आफ बँगाली लैंग्वेज पार्ट १–पृ० १२१

२—राहुल सांकृत्यायन पुरातत्व निबंधावली में इसीपर लेख—

३—हजारी प्रसाद: नाथ संप्रदाय–पृ० २७–३२

४—विनयतोष भट्टाचार्य: साधनमाला–गायकवाड़ सिरीज–पृ० ४१

५—हरप्रसाद शास्त्री: बौद्ध गान ओ दोहा–पृ० २४

६—राहुल सांकृत्यायन गंगापुरातत्वांक–पृ० २२४

७—प्रबोधचंद्र बागची ओरियंटल जर्नल–भा० १–१९३३–३४–पृ० २५२

८—चटर्जी ओरिजिन एंड डेवलपमेण्ट आफ बँगाली लैंग्वेज–पा १–पृ ११२

काश्मीरी शैव-सम्प्रदाय की भी कुछ रचनाएं अंशतः अपभ्रंश में मिलती हैं। अभिनव गुप्त के 'तंत्रसार' का इसमें प्रमुख स्थान है। इसमें शैवमत की व्याख्या है जिसके अनुसार व्यक्ति ही परम शिव है, किन्तु अशुद्धि के कारण वह अपने आपको नहीं देख पाता। यों तो यह ग्रंथ संस्कृत में है, किन्तु प्रत्येक अध्याय के अन्त में प्राकृत-अपभ्रंश में पूरे अध्याय का सार दिया गया है। इसका रचनाकाल १०१४ई० के आसपास माना गया है। दूसरी महत्वपूर्ण कृति शितिकंठाचार्य कृत 'महानय प्रकाश' है जिसमें ९४ अपभ्रंश पद्य हैं। इसका रचनाकाल १५ वीं सदी ई० का उत्तरार्द्ध है। शैव-सम्प्रदाय की इन रचनाओं में साहित्यिकता का अभाव है और अलावा नाथसम्प्रदाय के कुछ प्रभाव के जो जोधपुर नरेश महाराजा मानसिंह के समय अत्यधिक बढ़ गया था, हिन्दी साहित्य पर इनका प्रभाव नगण्य सा है। यही कारण है कि हमने बौद्धों, सिद्धों, शैवों तथा जैनों के शुद्ध धार्मिक साहित्य पर विस्तृत विचार नहीं किया है। ऐसा करना हमारे लिए अनावश्यक होता।

अपभ्रंश लौकिक अथवा ऐहिकतापरक मुक्तक काव्यपरंपरा का जहाँ तक प्रश्न है उसमें अत्यधिक साहित्यिक सौंदर्य है। ये मुक्तक पद्य संस्कृत प्राकृत के ग्रंथों में इतस्ततः विकीर्ण मिलते हैं, जिन्हें अलंकार व्याकरण और छन्दों के ग्रंथों में नियमों और उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

ये साहित्यिक सुभाषित रूप में प्राप्त मुक्तक पद्य हमें मुख्य रूप से निम्न लिखित ग्रंथों में मिलते हैं —

१—कालिदास के विक्रमोर्वशीय नामक नाटक का चतुर्थ अंक

२—हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण का ८ वां अध्याय छन्दानुशासन और प्राकृत द्वयाश्रय काव्य।

३—सोमप्रभाचार्य कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध'।

४—मेरुतुंगाचार्य कृत प्रबंधचिन्तामणि।

५—राजशेखर सूरि कृत प्रबन्ध कोश।

६—प्राकृत पिंगल।

७—पुरातन प्रबंध संग्रह।

इनके अतिरिक्त आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक रुद्रट के काव्यालंकार भोज के सरस्वती कण्ठाभरण, धनंजय के दशरूपक आदि अलंकार ग्रन्थों में भी कतिपय अपभ्रंश पद्य मिलते हैं।

इन पद्यों के विषय में यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि विविध ग्रन्थों में प्राप्त इन अपभ्रंश पद्यों के काल के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। जिन ग्रन्थों में ये पद्य उद्धृत किये गये मिलते हैं वे पद्य ग्रन्थकार के अपने भी हो सकते हैं और यह भी संभव है कि उनको ग्रन्थकार ने अपने से पूर्वकालीन किसी कवि के ग्रन्थ से उदाहरण रूप में उद्धृत किया हो। कौन सा पद्य स्वयं ग्रन्थकार का बनाया हुआ है और कौन सा उसने किसी दूसरे कवि का उदाहरण रूप से उद्धृत किया है, इसका ज्ञान सरल नहीं।

ऐसी परिस्थिति में इन पद्यों के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि ये पद्य जिस भी ग्रन्थकार ने उद्धृत किये हैं उन पद्यों की उस काल में या उस काल से पूर्व रचना हो गई थी।

इन पद्यों में शृंगार, वीर, वैराग्य नीति सुभाषित प्रकृति-चित्रण अन्योक्ति राजा या किसी ऐतिहासिक पात्र का उल्लेख, आदि विषय अंकित हुए हैं। इन पद्यों में कवित्व है रस है, चमत्कार है और हृदय को स्पर्श करने की शक्ति है। ये पद्य साहित्यिक सुभाषित और सूक्ति रूप काव्य के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ये पद्य गाथा सप्तशती आर्या सप्तशती सुभाषित रत्नावली आदि ग्रंथों की तरह यद्यपि संगृहीत रूप में नहीं मिले तथापि इनका कोई संग्रह ग्रन्थ होगा जिसमें से अनेक कवियों ने उदाहरण के लिए अपनी रुचि के अनुकूल अनेक पद्य चुने ऐसी कल्पना उचित जान पड़ती है। एक ही पद्य का अनेक ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में उल्लेख इसी विचार की ओर संकेत करता है। उदाहरण के लिए निम्न लिखित पद्य हमें कुमार पाल प्रतिबोध में और प्रबन्ध चिन्तामणि' दोनों में मिलता है —

'रावणु जायउ जहिं दियहि दह-मुहु एक्क-सरीरु।
चिंताविय तइयहिं जणणि कवणु पियावउं खीरु॥

कु० पा० प्र० पृष्ठ-११०

'जइयहु रावणु जाइयउ दह मुहु इक्कु सरीरु।
जणणी वियम्भी चिन्तवइ कवणु पियावउं खीरु॥

प्र० चि० पृष्ठ २८

इसी प्रकार हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण और प्रबन्ध चिन्तामणि के अनेक पद्य समान रूप हैं। हेमचन्द्र के और सोमप्रभ के अनेक पद्यों में एकरूपता है। इससे कल्पना कर सकते हैं कि इन ग्रन्थकारों ने इस प्रकार के पद्यों को किसी संग्रह ग्रन्थ से लिया होगा।[1]

हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण और छंदानुशासन में संगृहीत अपभ्रंश मुक्तक अपनी अनोखी छटा के लिए दृष्टव्य हैं। कहा नहीं जा सकता कि हेमचन्द्र ने यह मधुर मुक्तक भिन्न-भिन्न काव्य-ग्रंथों से तैयार किया है। इनके रचयिता कवियों के नाम अज्ञात हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण में जो नीति अन्योक्ति अथवा धर्म संबंधी रचनाएँ हैं उनमें से कुछ का आदिस्रोत तो जैन काव्यग्रन्थों में मिल गया है। लेकिन शौर्य और शृंगार के ऐसे बहुत से दोहे हैं, जिनका आदिस्रोत अभी तक अज्ञात है। चाहे इनके रचयिता जैन कवि हों अथवा जैनेतर लोक कवि इतना निश्चित है कि संपूर्ण अपभ्रंश साहित्य में इनका सौंदर्य सबसे अलग है। यहाँ पुरुष का पौरुष ही नहीं उनके पार्श्व में वीर रमणी का दर्प भरा प्रोत्साहन भी मिलेगा   यदि एक ओर जिसका

1—हरिवंश कोछड़ अपभ्रंश साहित्य—पृ० ११९-२०

ताण्डव है तो दूसरी ओर उसके पार्श्व में भक्ति का लास्य भी है।[1] जरा बानगी देखिये।[2] —

संयोग शृंगार—'जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सर खर पत्थरि तिक्खेइ॥

हे० प्रा० व्या० ८–४–३४४

अर्थात् ज्यों ज्यों वह श्यामा लोचनों की वक्रता— कटाक्ष पात सीखती है त्यों त्यों कामदेव अपने बाणों को कठोर पत्थर पर तेज करता है।

'पिय संगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्व।
मइँ बिन्नि वि विन्नासिआ निद्द न एम्व न तेम्व॥'

हे० प्रा० व्या० ८–४–४१८

अर्थात् नायिका कहती है—न तो प्रिय संगम में निद्रा है और न प्रिय के परोक्ष होने पर। मेरी दोनों प्रकार की निद्रा विनष्ट हो गई न इस प्रकार से नींद है न उस प्रकार से।

वियोग—'जे महु दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसन्तेण।
ताण गणन्तिए अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण॥'

हे० प्रा० व्या० ८ ४ ३३३।

अर्थात् प्रिय ने प्रवासार्थ जाते हुए जितने दिन बताये थे उन्हें गिनते गिनते नख से मेरी अंगुलियाँ जीर्ण हो गईं।

कौए के शब्द को सुनकर निराश हो कौए को उड़ाती हुई विरहिणी के नैराश्य भाव और प्रिय दर्शन से उत्पन्न आनन्दोल्लास का सुन्दर चित्रण निम्नलिखित पद्य में मिलता है—

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति।

हे० प्रा० व्या० ८-४ ३५२।

प्रवासी नायक गरजते मेघ को संबोधन करते कहता है—

'जइ ससणेही तो मुइअ अह जीवइ निन्नेह।
बिहिं वि पयारेहिं गइअ धण किं गज्जहि खल मेह॥

वही ८ ४ ३६७।

१—नामवरसिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—पृ० २५२

२—सूत्रों का निर्देश डा० पी० एल० वैद्य द्वारा संपादित हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अनुसार है।

अर्थात् वह मुझसे प्यार करती है तो मर गई होगी, यदि जीवित है तो निःस्नेह होगी। अरे खल मेघ ! दोनों ही तरह से वह सुन्दरी मैंने खो दी, व्यर्थ क्यों गरजते हो ?

वीरता—'भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घर एन्तु ॥

वही ८४ ३५१।

अर्थात् बहिन अच्छा हुआ जो मेरा पति रणभूमि में मारा गया। यदि पराजित हो वह घर लौटता तो मैं अपनी सखियों के सामने लज्जित होती।

निम्नलिखित पद्य में प्रियतम की युद्ध-वीरता की प्रशंसा करती हुई कोई नायिका कहती है—

'महु कन्तहो बे दोसडा हेल्लि म झंखहि आलु।
देन्तहो हउं पर उव्वरिअ जुज्झन्तहो करवालु ॥'

वही ८४ ३७९।

अर्थात् हे सखि ! मेरे प्रियतम में केवल दो दोष हैं झूठ मत कहो। उसके दान देते हुए केवल मैं बच रहती हूं और युद्ध करते हुए केवल तलवार।

सुभाषित—

खलों के दुष्ट वचनों के कान में पड़ने की अपेक्षा वन में वृक्षों के फल खाकर संतुष्ट रहना अच्छा है।

'वरु फलाइं कवि तरुहुं सउणिहुं पक्क फलाइं।
सो वरि सुक्खु पइट्ठु णवि कण्णहिं खल-वयणाइं ॥

वही ८४ ३४०

प्रेम के लिए दूरी का व्यवधान तुच्छ होता है। दूर स्थित सज्जनों का भी प्रेम असाधारण होता है।

जिहं संवहु कहिं मयरहरु कहिं बरिहिणु कहिं मेहु।
दूर-ठिआहं वि सज्जणहं होइ असड्ढलु नेहु ॥

वही ८४ ४२२।

अन्योक्ति—

'अप्पडे मुक्कर फलई वक्कु कड तरुवर वज्जेइ।
तो वि महद्दुमु सुअणु जिवं ते उच्छंगि धरेइ ॥

हे० प्रा० व्या० ८४-३३६।

मनुष्य वृक्ष के कड़वे पत्तों को छोड़कर फलों का ग्रहण कर लेता है, तथापि महाद्रुम सज्जन के समान उन्हें अपनी गोदी में धारण करता है।

अभी तो हम मात्र इतने ही उदाहरणों से संतोष करेंगे। आगे चल कर पांचवें अध्याय में अधिक विस्तृत विवेचन किया गया है। विद्वानों की दृष्टि से हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत पद्यों में से प्राकृत व्याकरण और छंदानुशासन के पद्यों की भाषा में समानता

नहीं है। इस भाषा विषमता के कारण कल्पना की गई है कि कुछ पद्य उनके अपने हैं और कुछ अन्य कवियों के जो यथास्थान उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

सोमप्रभाचार्य कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध' में कवि ने अपभ्रंश में ऋतु वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त स्थल स्थल पर स्फुट पद्य भी मिलते हैं जिनमें सुभाषित, प्रेम प्रसंग कथा संदर्भ, उपदेश आदि मिलते हैं। कुछ पदों में समस्यापूर्ति का ढंग भी दीख पड़ता है। यथावश्यकता आगे इनके उदाहरणों का अध्ययन किया जायेगा।

मेरुतुंगाचार्य रचित 'प्रबंध चिन्तामणि' में भी अनेक अपभ्रंश मुक्तक उपलब्ध हैं, जो काव्य की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं। पता नहीं ये दोहे मुंज के जीवन पर लिखे हुए किसी प्रबंध काव्य के कुछ अवशिष्ट मणि हैं अथवा मुक्तक रूप में ही लोक परम्परा में चल पड़े थे। फिर भी एक दोहे में पूरे प्रसंग का मार्मिक निष्कर्ष भरा पड़ा है।[2] मुंज की कहानी अपने आपमें इतनी काव्यात्मक है कि ये सीधे-सादे दोहे भी प्रसंग-गर्भत्व के कारण हृदय पर सीधे चोट करते हैं। तैलपराज की कैद में पड़ा हुआ मुंज अपने किये पर सोच रहा है। एक तो उसने अपने मंत्रि रुद्रादित्य मेहता के मना करने पर भी गोदावरी पार करके तैलप पर चढ़ाई की और अपने उस बुद्धि-चिंतक मंत्री को खो दिया। दूसरे यहाँ आने पर तैलप-भगिनी मृणालवती पर विश्वास करके भाग निकलने की बनाई योजना उससे कह दी और इस तरह अपनी जान ही नहीं अपने साथियों की जान भी खतरे में डाल दी। इतनी भूलों का फल उसे भोगना पड़ा और वह भी इस रूप में कि उसे रस्सी में बाँधकर घर घर उससे भीख मंगवाई गई। मुंज सम्बन्धी दोहों में इसी पीड़ामय अनुभूति को वाणी मिली है।

झोली तुट्टवि कि न मुउ किं हुअउ न छारह पुंजु।
हिण्डइ दोरी बंधियउ जिम मंकडु तिम मुंजु॥[3]

मुंज के मृणालवती को कहे गये पद्य भी सरस हैं—

मुंजु भणइ मुणालवइ जुव्वणु गयउं न झूरि।
जइ सक्कर सयखंड थिय तोइ स मीठी चूरि॥[1]

अर्थात् मुंज मृणालवती से कहता है कि तुम अपने गये हुए यौवन को याद करके दुःखी मत हो। मिश्री शतखंड होकर चूर चूर हो जाये तो भी उसकी मधुरता नष्ट नहीं होती।

एक अन्य उदाहरण देखिये—जो हेमचन्द्र-व्याकरण में पाठान्तर के साथ उपलब्ध है।

एहु जम्मु नग्गहं गियउ भडसिरि खग्गु न भग्गु।
तिक्खां तुरिय न माढ़िया गोरी गलिम लग्ग॥[4]

१—नामवरसिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान—पृ० २५० २५१
२—मुनि जिनविजय प्रबंध चिन्तामणि—पृ० २१
३—मुनिजिनविजय प्रबंध चिन्तामणि पृ० २३
४—वही—पृ० १२

अर्थात् दिगम्बर व्रत पालन करते करते जन्म बीत गया। किसी योद्धा के सिरपर न खड्ग प्रहार किया न तेज घोड़ा चलाया और न किसी सुन्दरी को गले लगाया। यह जीवन तो व्यर्थ ही चला गया।

अन्य ग्रंथों में उपलब्ध होने वाले नमूने भी इसी भावधारा को लिये हैं। अत व्यर्थ के विस्तार से बचने के लिए हम उनकी चर्चा यहाँ नहीं करेंगे। अभी तक विवेचित उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश के इन मुक्तकों का उत्तराधिकार हिन्दी को मिला है। विस्तृत विवेचन के लिए कृपया पाँचवाँ अध्याय देखिये

अब तक अपभ्रंश साहित्य के जिन स्वरूपों पर विचार किया गया था वे सब पद्य में ही थे। गद्य में बहुत कम साहित्य अद्यावधि प्राप्त हुआ है। हाँ अन्य पुस्तकों में कुछ गद्य प्रयोग मिल जाते हैं। उद्योतन सूरि कृत 'कुवलयमाला कथा' में अपभ्रंश गद्य के कुछ वाक्य मिल जाते हैं-

जनार्दन पिच्छसु कत्थ तुज्झे कल्लं जिमि अल्लया ? तेण भणिउ-साहिउ ये तैतउलस्स बम्भ-खाणस्समह तणए जिमिअल्लया।[1]

अर्थात् हे जनार्दन! मैं पूछता हूँ तुमने कल कहाँ जीमा (खाना खाया)? उसने उत्तर दिया-वहाँ जो बसवनिक, उसके यहाँ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' नामक अपनी पुस्तक में इसी रचना से एक अन्य उदाहरण दिया है।[2] यह मथुरा स्थित अनाथालय के कोढ़ियों पंगुओं, अंधों अपाहिजों आदि की भाषा का नमूना है-

'धवलं पुहईमंडलं परिब्भमिऊण संपत्तो महुराउरीए। एत्थ एक्कम्मि अणाह मण्डवे पविट्ठो। जत्थ य तत्थ ताव मिलियाएए कोढीए। वलक्ख [illegible]। दीण दुग्गय। अन्धलय। पंगुलय। किंच बहुणा जो माउ-पिउ-चड्डेमउ सो सो सब्वो वित्थ मिलिएल्लउ त्ति। ताईं च तेसु मिलिएल्लय सइ समावइ एक्केक्क महा वायाल पयत्ता। भो भो! कयरईं तित्थ के (को) वा गयाईं कवय जाहि पावं वा फिट्टइ त्ति। एक्केण भणियं अमुगरा वाणारसी कोढियाईं। तेण वाणारसी गयाणं कोढ फिट्टइ त्ति।

अण्णेण भणियं-हुँ हुँ कहिउ मुलत्थाउ पविएल्लउ। नहिं कोढं। नहिं वाणारसी। मूलत्थाणु भडारउ जो (को) इर जे देइ। उद्दालि लोमई।

अण्णेण भणियं-काइ एसेण पाव विरपक्ख पाउ फिट्टइ तुम्मे उरिसइ तित्थ।

अण्णेण भणियं-प्रयागव उपडिमई चिर परउ पाप विहत्थ वि फिट्टति।

अण्णेण भणियं-अरे! पाप पुच्छिउ पाव जाइहि ?

1—अपभ्रंश काव्यत्रयी पृ० १०४ से उद्धृत

2—हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आदिकाल-पृ० ९०

अन्नेण भणिअं–खेदु मैस्मई। अह परमाई। पिंडबहुमयई पि
महापावाई संसारसंयमे न्हायाई भवसमुदायपक्खिई भासइ त्ति।

इस उद्धरण में पहिले उद्धरण की अपेक्षा संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता नहीं। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। फिर भी प्रयाग गंगा संगम, खेद आदि कुछ तत्सम शब्द प्रयुक्त हो ही गये हैं। इस प्रकार नवीं शताब्दी में शिक्षाभ्यासी या सुशिक्षित लोगों की भाषा में ही नहीं अशिक्षित या अर्ध शिक्षित लोगों की भाषा में भी तत्सम शब्द प्रयुक्त होने आरम्भ हो गये थे।

अपभ्रंश गद्य का प्रौढ़ उदाहरण हमें विद्यापति कृत कीर्तिलता में देखने को मिल जाता है। परवर्ती डिंगल काव्यों में वचनिका दवावैत आदि रूपों में गद्य का जो प्रयोग हुआ है उसकी अविच्छिन्न परम्परा हमें विद्यापति में मिल जाती है। वैसा ही तुकान्त गद्य, वैसा ही वाक्य-विन्यास। यथा—

बसइ गरुअ गुण्ड।
मारि दस सवि मानुस करो मुण्ड।
विन्ध रखो विवावाओं किमि काहल।
कुम्भोद्भव करे नियमाविभ्रम पेखि पम्बलओ चाइल।
भाए खगए मारए बाग,
महाउभो क आकुल महते मान।[1]

डिंगल के दवावैत बिल्कुल इसी पद्धति पर रचे जाते रहे हैं। विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए चौथा अध्याय।

हमारे द्वारा अब तक किये गये अपभ्रंश के अध्ययन से उसके विपुल साहित्य और उसके सामर्थ्य से हमारा परिचय हो गया है। इसमें संधि कुलक चउपई, रासगा, रास चांचर फाग स्तुति, स्तोत्र कथा चरित, पुराण आदि प्रकार के काव्यों में मानव जीवन और जगत् की अनेक भावनाओं और विचारों को वाणी मिली। यदि एक ओर इसमें जैन मुनियों के चिंतन की चिंतामणि है तो दूसरी ओर बौद्ध सिद्धों की सहज साधना की सिद्धि भी है, यदि एक ओर धार्मिक भावनाओं का व्याख्यान तो दूसरी ओर लोकजीवन से उत्पन्न होने वाले ऐहिक-रस का रागरंजित अनुकथन। यदि यह साहित्य महान शलाका पुरुषों के उदात्त जीवन चरित से सम्पन्न है सामान्य वणिक पुत्रों के दुःख-सुख की कहानी से भी परिपूर्ण है। तीर्थंकरों की लोकोत्तर स्तुतियों अनुभव भरी सूक्तियों रहस्यमयी अनुभूतियों वैभव-विलास झांकियों आदि के साथ ही उन्मुक्त वन्य जीवन की शौर्य स्नेह-सिक्त गाथाओं के चित्रों से अपभ्रंश साहित्य की विशाल चित्रशाला सुशोभित है। स्वयम्भू जैसे

१—शिवप्रसाद सिंह कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा पृ० ११

महाकवि के हाथों इसका बीजारोपण हुआ। पुष्पदन्त धनपाल हरिभद्र जोइन्दु रामसिंह, देवसेन कनकामर, हेमचन्द्र सोमप्रभ जिनप्रभ जिनदत्त जिनपद्म विनयचन्द्र, राजशेखर शालिभद्र अब्दुल रहमान सरह और कण्ह जैसी प्रतिभाओं ने इसे प्रतिष्ठित किया और अंतिम दिनों में भी इस साहित्य को यशःकीर्ति और रइधू जैसे सर्वतोमुखी प्रतिभावाले महाकवियों का संबल प्राप्त हुआ। ऐसे महाकवियों और इतने महाकाव्यों तथा गीत काव्यों के इस साहित्य का जो आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक सुदूर दक्षिण को छोड़कर शेष संपूर्ण भारतवर्ष के सामान्य लोक तथा शिक्षित मंडली के हृदय की वाणी था भारतीय साहित्य में कितना महत्वपूर्ण स्थान हो सकता है—यह सहज ही अनुमेय है।[1]

१—नामवरसिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—पृ० १८३

३

डिंगल : भाषा और साहित्य

डिंगल की व्युत्पत्ति और विवेचन

डिंगल राजस्थान की मुख्य साहित्यिक भाषा रही है।[1] भले ही गये यह नाम बाद में मिला हो। यह भाषा पहले मारवाड़ी, मरु भाषा, मरु-धर-भाषा मरुदेशीया भाषा आदि नामों से पुकारी जाती थी।[2] राजस्थानी की उपभाषाओं में 'मारवाड़ी' सब से प्रधान है और सदा से रही है। जिस प्रकार आजकल हिन्दी की अनेक उपभाषाओं में से 'खड़ी बोली' साहित्य की भाषा है और इन दिनों हिन्दी का अर्थ ही खड़ी बोली से लिया जाता है उसी प्रकार 'मारवाड़ी' भी राजस्थान की साहित्यिक भाषा रही है। साहित्य सर्जना के लिए इसी का बहुविध उपयोग किया जाता रहा है। राजस्थान के सभी वर्गों के लेखकों ने साहित्य रचना के लिए 'मारवाड़ी' को अपनाया।[3] इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि राजस्थानी की अन्य उपभाषाओं यथा मेवाड़ी हाड़ौती ढूंढाड़ी आदि में कोई साहित्य लिखा ही नहीं गया। इन उपभाषाओं में भी थोड़ी बहुत काव्य रचना हुई है किन्तु मारवाड़ी साहित्य की तुलना में परिमाण और स्तर दोनों दृष्टियों से उसका कम महत्व है। जिस प्रकार आज भी ब्रज भोजपुरी मैथिली बुंदेलखंडी राजस्थानी आदि उपभाषाओं में अनेक कवि कवितायें लिखते हैं, किन्तु खड़ी बोली हिन्दी ही आधुनिक साहित्यिक भाषा मानी जाती है उसी प्रकार मारवाड़ी भी राजस्थान की साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन रही है। कालान्तर में यही भाषा डिंगल नाम से पुकारी जाने लगी। 'मरुभाषा' का प्राचीन तम उल्लेख कहाँ और कब पाया जाता है और किसलिए यह 'मरुभाषा' डिंगल कह लाने लगी, इसपर आगे विचार किया जायेगा, तब तक हम जरा मरुभाषा की इस नवीन संज्ञा 'डिंगल' की व्युत्पत्ति पर विचार करें, तो समीचीन ही होगा।

१—त्रिलोकी नारायण दीक्षित अवधी और उसका साहित्य—पृ० २५

२—नरोत्तमदास स्वामी राजस्थानी—भाग १—पृ० ८

३—वही—पृ० १

किया गया है जितना ब्रजभाषा के कवियों ने अपनी रचनाओं में किया है।[1] डिंगल भाषा तत्कालीन राजदरबारों में ब्रजभाषा से भी अधिक मान्यता और सम्मान पाती थी अत इस शिष्ट समुदाय की प्रिय भाषा डिंगल को 'अनियमित अथवा 'गँवारू' कहना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता।

दूसरा मत डा० हरप्रसाद शास्त्री का है। शास्त्रीजी ने डिंगल की व्युत्पत्ति डगल से बतलाई है। उनकी धारणा है कि प्रारम्भ में इस भाषा का नाम डगल था पर बाद में पिंगल शब्द के साथ तुक मिलाने के लिए डिंगल कर दिया गया।[2] अपने मत के समर्थन में उन्होंने जोधपुर के कविराजा मुरारीदान द्वारा प्रस्तुत एक प्राचीन छंद का उदाहरण भी दिया है जिसे वे चौदहवीं शताब्दी की रचना मानते हैं। वह छंद यह है—

बीसे जंगल डगल, जेथ जल बगल चाटे।
अनहुता गल दिये, गला हुतां गल काटे॥

शास्त्री जी ने इसका कोई अर्थ नहीं दिया है और केवल यही कह कर छोड़ दिया है कि 'इससे स्पष्ट है कि जंगल देश अर्थात् मरुदेश की भाषा डिंगल कहलाती है। इन पंक्तियों का अर्थ प्राचीन परंपरा के वर्तमान कवि उदैराज उज्ज्वल ने 'मरुस्थल की भूमि और जन जल के वर्णन के रूप' में ग्रहण किया है।[3] किन्तु यह अर्थ खींचतान कर किया गया है। मेनारियाजी ने इसी गीत को पूरा उद्धृत किया है और सअर्थ, सप्रमाण सिद्ध किया है कि यह गीत अल्लूजी चारण का लिखा हुआ है जो १७ वीं शताब्दी में हुए हैं। इसमें ईश्वर की सर्वशक्तिमानता का बखान किया गया है। हमें तो यही अर्थ समीचीन जान पड़ता है अत यह कहा जा सकता है कि शास्त्री जी का यह मत किसी वैज्ञानिक आधार के अभाव में अनुपयुक्त ही ठहराया जायेगा।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका में गजराज ओझा ने अपना एक लेख प्रकाशित कराया जिसमें उन्होंने डिंगल के नामकरण का आधार डिंगल भाषा की 'ड' कार बहुलता को माना है। उनके विचार में 'ड' वर्ण की प्रधानता को ध्यान में रख कर ही पिंगल के साम्य पर इस भाषा का नाम डिंगल रखा गया है।[5] यह मत केवल क्लिष्ट-कल्पना मात्र है। अनेक डिंगल रचनाओं में 'ड' वर्णों का बाहुल्य नहीं है और

१—डा० मोतीलाल मेनारिया : राजस्थान का पिंगल साहित्य पृ० १२
२—हरप्रसाद शास्त्री प्रिलीमिनेरी रिपोर्ट आन दी आपरेशन इन दी सर्च आफ एम० एस० एस० आफ बार्डिक क्रानिकल्स—पृ० १५
३—उदैराज उज्ज्वल राजस्थान भारती—भाग २, अंक २ पृ० ४६
४—मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ० १७-१८
५—गजराज ओझा नागरी प्रचारिणी पत्रिका—भा० १४ पृ० १२२ १४२

न किसी भाषा का नाम किसी वर्ग की बहुलता के आधार पर ही रखा जा सकता है। संसार की किसी भी भाषा के नामकरण का यह आधार शायद नहीं मिलता। ऐसी दशा में इस मत को महत्व नहीं दिया जा सकता।

पुरुषोत्तम स्वामी के मत में 'डिंगल' शब्द डिम-गल से बना है। डिम का अर्थ है—डमरू की ध्वनि तथा गल का गले से तात्पर्य है। डमरू की ध्वनि रणचंडी का आह्वान करती है तथा यह वीरों को उत्साहित करने वाली है। वीर रस के देवता महादेव का प्रिय बाजा डमरू है। गले से जो कविता निकल कर डिम डिम् (डमरू ध्वनि) की तरह वीरों के हृदयों को उत्साह से भर दे उसी को डिंगल कहते हैं। डिंगल भाषा में इस तरह की कविता की प्रधानता है इसलिये यह डिंगल के नाम से प्रसिद्ध हुई।[1] इस मत के प्रमुख खंडनकर्ता हैं—अयोध्या नरेश महाराज प्रतापनारायण सिंह। उनके अनुसार न तो महादेव वीर रस के देवता हैं और न डमरू की ध्वनि उत्साह वर्धक ही मानी गई है।[2] वीर रस के देवता महादेव नहीं इन्द्र हैं। महादेव तो रौद्र रस के अधिष्ठाता कहे जा सकते हैं अतः यह मत भी निराधार है। इसी के समकक्ष राव मोहनसिंह का अनुमान है। उनके अनुसार डगल—डंगल—डिंगल बना है। 'डगल भाषा' का आशय युद्ध समय में ओजस्तुति करने वाली भाषा है।[3] कुछ भी हो यह मात्र अनुमान ही है।

जगदीशसिंह गहलोत एक नई मान्यता का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार डिंगल डिम+गल से बना हुआ है। इस मत के समर्थक 'डिम' का अर्थ बालक और गल का अर्थ गला लेकर डिंगल का अर्थ करते हैं— बालक की भाषा। जैसे प्राकृत किसी समय बाल भाषा कहलाती थी उसी तरह राजस्थान की यह काव्य भाषा डिमगल या डिंगल कहलाई। बालक की भाषा स्वाभाविक होने पर भी अपरिमार्जित और अपरिष्कृत होती है अतः इस मत को भी ग्रहण नहीं किया जा सकता।[4]

पंडित मोतीलाल मेनारिया की मान्यता है कि प्रारंभ में डिंगल एक तरह से चारण भाटों ही की भाषा थी और वे लोग अपनी काव्य रचनायें बहुधा इसी भाषा में किया करते थे। अपने आश्रय दाताओं के कार्यकलापों का उनके शौर्य पराक्रम का ये लोग बहुत बढ़ा चढ़ा कर वर्णन किया करते थे। धन के लोभ से कायर को शूर कुरूप को सुन्दर मूर्ख को पंडित और कृपण को दानी कह देना इनके लिए एक

१—पुरुषोत्तम स्वामी नागरी प्रचारिणी पत्रिका भा० १४ पृ० २५५

२—महाराजा प्रताप नारायणसिंह रस कुसुमाकर—पृ० १६१

३—राव मोहन सिंह प्राचीन राजस्थानी गीत भाग ३ संपादकीय पृ १

४—जगदीशसिंह गहलोत का मत स्वामीद्वारा उद्धत—क्रिसन रुकमणिरी वेलि प्र पृ १

५—मोतीलाल मेनारिया सरस्वती संवाद—भाग २, अंक २, पृ० ४१

साधारण बात थी।[1] अर्थात् वे डींग हांका करते थे, इसीलिए जो भाषा इस प्रकार डींग हांकने के काम में ली जाती थी, उसका डींगल स्थानस, भूमिल आदि शब्दों के अनुकरण पर लोगों ने-संभवतः मोतार्मों ने डींगल (डींग से युक्त) नाम रख दिया यथार्थतः 'डिंगल' शब्द डींगल का परिवर्तित रूप है। प्रारंभ में जिस समय मारवाड़ी के लिये इस शब्द का प्रयोग होना शुरू हुआ उस समय यह डींगल ही बोला और लिखा जाता था। बाद में धीरे धीरे डिंगल हो गया जिसका मूल कारण डा० ग्रियर्सन आदि अंग्रेज लेखक हैं। डिंगल शब्द के उच्चारण से अपरिचित होने के कारण इन्होंने 'पिंगल' और 'डींगल' के उच्चारण में कोई भेद नहीं किया और अपने ग्रंथों में दोनों की हिज्जे एक ही तरह से लिखी Pingala और Dingala। Pingala का उच्चारण हिन्दी वाले 'पिंगल' करते आ रहे थे इसीलिये यह समझकर कि 'डींगल' भी इसी तरह बोला जाता होगा उन्होंने इसे 'डिंगल' बोलना और लिखना शुरू कर दिया।[2] यह मत भी सर्वांश सम्मत नहीं जान पड़ता क्योंकि कौन ऐसा स्वाभिमानी कवि होगा जो अपनी भाषा को डींगल जैसी हीनता बोधक संज्ञा से संबोधित करे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि डिंगल में अत्युक्तिमूलक कविता काफी है।[3] किन्तु आंशिक रूप से इसका आरोप संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश आदि साहित्योंपर भी लगाया जा सकता है। अनेक चारणों और भाटों द्वारा अत्युक्ति मूलक रचनायें लिखी गई, किन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अनेक डिंगल कवि बड़े विद्वान स्वाभिमानी और आत्मवेत्ता थे। बांकीदास ने अपने काव्य को डिंगल में रचित माना है। इनके स्वाभिमान के विषय में प्रसिद्ध है कि वे अपने आश्रयदाता जोधपुर नरेश के बीमार पड़ने पर इसलिये मिलने नहीं गये कि चिकित्सक के आदेशानुसार मिलने वाले दरबारों को पर्दे के बाहर से ही हाजिरी बजानी पड़ती थी और महाराजा को गेग व्याधि के कारण बाहर आने की मनाई थी। बांकीदास तब ही उनसे मिलने गये जब कि यह असम्मान जनक शर्त उनके लिए हटा दी गई।[4] डिंगल के अनेक कवि अपने स्वाभिमान के लिए इसी प्रकार प्रख्यात हैं। कहना न होगा कि ऐसे स्वाभिमानी व्यक्तित्व अपनी प्रिय भाषा को हीनता सूचक संज्ञा 'डिंगल' कह कर नहीं पुकार सकते थे। अतः इस मत को कहां तक वैज्ञानिक माना जाय, यह विचारणीय प्रश्न है।

गणपति चन्द्र गुप्त ने अपने एक लेख 'डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति का इतिहास' में हमारा ध्यान एक नई संभावना की ओर आकर्षित किया है।[5] उन्होंने डिंगल को

१—मोतीलाल मेनारिया डिंगल में वीर रस पृ० ७

२—मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० २१

३—डा टैसीटेरी जरनल एण्ड प्रोसिडींगस् आफ ऐशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल भाग-१३, १९१७ पृ० २२८

४—पं रामकर्ण आसोपा बांकीदास ग्रंथावली भाग १, भूमिका पृ० १५

५—गणपति चन्द्र गुप्त डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति-साहित्य सन्देश वर्ष १२ अंक ८, पृष्ठ ३४९

किसी प्राचीन डगल प्रदेश की भाषा माना है। इस मान्यता का आधार हरप्रसाद शास्त्री द्वारा उद्धृत 'दीसे जंगल डगल' वाला दोहा है। उनकी धारणा है कि भाषाओं के नाम बोले जानेवाले प्रदेश पर आधारित होते हैं यथा बंगाल की भाषा बंगाली आसाम की आसामी अवध की अवधी, फारस की फारसी चीन की चीनी रूस की रूसी मारवाड़ की मारवाड़ी और गुजरात की गुजराती। अतः हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि डगल प्रदेश की बोली का नाम ही डींगल है जो धीरे धीरे व्यापक बन गई है। वैसे देखने में यह मत तर्क-संगत जान पड़ता है किन्तु इस संबंध में दो मुख्य आपत्तियाँ हैं। डगल प्रदेश की भाषा डगली होनी चाहिये न कि डिंगल। इसपर लेखक चुप रह गये हैं। दूसरी बात यह कि इतिहास से इस मत की पुष्टि नहीं होती। सभी प्रमुख विद्वानों के अनुसार इस भाषा का क्षेत्र राजस्थान ही रहा है किन्तु उसके किसी भी भूभाग का नाम डगल नहीं रहा है। पौराणिक काल में पश्चिमोत्तर भारत के विभिन्न भू भागों के नाम जंगल मरु शिवि मत्स्य, मालव अर्बुद माड़ आदि पाये जाते हैं।[1] मध्ययुग में इस प्रदेश का उत्तरी भाग जंगल दक्षिणी भाग मेदपाट वागड़, मालव प्राग्वाट, गुर्जरत्रा पश्चिमी भाग मरु माड़, वल्ल त्रवणी और मध्य भाग अर्बुद सपादलक्ष आदि नामों से पुकारा जाता था।[2] किन्तु डगल नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। माना कि यह प्रदेश कालान्तर में किसी दूसरे नाम से पुकारा जाने लगा होगा किन्तु इसका कहीं उल्लेख न मिलना ही सिद्ध करता है कि ऐसा प्रदेश कभी शायद ही रहा हो। जिस प्रदेश के आधार पर किसी भाषा का नामकरण होता है उसका महत्वपूर्ण होना अनिवार्य होता है और ऐसे महत्वपूर्ण प्रदेश का कोई उल्लेख कहीं न पाया जाय आश्चर्य की बात ही है इसीलिये इस मत को कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने डिंगल की उत्पत्ति डूंगर शब्द से मानी है। राजस्थानी में डूंगर का अर्थ पर्वत या पहाड़ी है। अतएव डिंगल का अर्थ सम्भवतः पर्वतीय भाषा होगा।[3] डा चटर्जी अपने इस मत के संबंध स्वयं अनिश्चित हैं अतः इस पर विशेष विचार करना अनावश्यक है।

राजस्थानी की प्राचीन परंपरा के वर्तमान कवि उदयराज उज्ज्वल डगल 'ढोवा' 'डामसा' डम आदि शब्दों के अर्थों को स्पष्ट करते हुए, डिंगल का अर्थ उड़नेवाली भाषा मानते हैं।[4] उनकी धारणा है कि डिंगल के कवि पिंगल को पंगु भाषा कहते हैं और सापेक्षिता में डिंगल को उड़नेवाली भाषा मानते हैं।[5] डिंगल के अन्य विद्वान किशोरसिंह बार्हस्पत्य के अनुसार डिंगल शब्द डिंक विहायसा गतौ

१—चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय राजस्थान दिग्दर्शन—पहला अध्याय

२—नरोत्तम स्वामी राजस्थानी-भाग १ पृष्ठ ४

३—जगदीश श्रीवास्तव डिंगल साहित्य-पृ ८ पर उद्धृत

४—उदयराज उज्ज्वल क्षात्र धर्म संदेश—वर्ष १ अंक ६-७ पृ० १८

५—उदयराज उज्ज्वल राजस्थान भारती वर्ष २ अंक १ पृ० ४५

अर्थात् उड़ना अर्थ वाली धातु 'डी' से बना है और इसका अर्थ है उड़ने वाली भाषा ।[1] डिंगल भाषा के व्याकरण छन्द शास्त्र काव्य-पद्धति आदि को ब्रज भाषा से अधिक सरल मानकर उसे उड़ने वाली भाषा के रूप में सिद्ध करने की चेष्टा की गई है । वस्तुतः बात ऐसी नहीं है । डिंगल किसी भी दृष्टि से सरल नहीं कही जा सकती । वयण सगाई जैसा बंधन भी इसमें प्रचलित रहा है अतः इस मत को समीचीन नहीं ठहराया जा सकता ।

मुंशी देवीप्रसाद बदरीदान कविया सत्यदेव आढ़ा इसी बात को प्रकारांतर से व्यक्त करते हैं । मुंशी जी का कथन है कि गला का अर्थ मारवाड़ी भाषा में बात और बोली का है । डींगा ऊँचे लंबे को और पांगला पंगु तथा लूले-लंगड़े को कहते हैं । चारण अपनी कविता बहुत ऊँचे स्वरों से पढ़ते हैं और ब्रज भाषा की कविता धीरे धीरे मंद स्वरों में पढ़ी जाती है ।[2] इसी लिये डिंगल और पिंगल संज्ञा हो गई जिसको दूसरे शब्दों में ऊँची बोली और नीची बोली की कविता कह सकते हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं कि वीर रस प्रधान कविता चाहे वह ब्रज भाषा में भी क्यों न लिखी गई हो जोर से ही पढ़ी जायेगी अतः यह तर्क सारहीन है । न कभी ऐसे आधार पर किसी भाषा का नामकरण ही संभव है ।

डा. श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि जो लोग ब्रज भाषा में कविता करते थे उनकी भाषा पिंगल कहलाती थी और इससे भेद करने के लिये मारवाड़ी भाषा का उसी की ध्वनि पर गढ़ा हुआ नाम डिंगल पड़ा।[3] पं. रामकर्ण आसोपा की भी यही मान्यता है । वे मानते हैं कि डिंगल शब्द की कल्पना पिंगल शब्द की समकक्षता में की गई है । डिंगल शब्द रूढ़ प्रतीत होता है ।[4] गुलेरीजी के मत में डिंगल केवल अनुकरण शब्द है । काफिया न मिलेगा तो बोलों तो मरेगा—की कहावत के अनुसार पिंगल से भेद दिखाने के लिए बना लिया गया है ।[5] नरोत्तम स्वामी ने इस पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए लिखा है कि संस्कृत–प्राकृत की कविता पिंगल रचित छंद शास्त्र में बताये छंदों में लिखी गई । अपभ्रंश में लोक साहित्य से अनेक नये छंद बनाये, जिनका समावेश प्राकृत–पिंगल स्वयंभू-छंद आदि नवीन छंद ग्रंथों में किया गया । देश भाषाओं के विकास के समय लोक साहित्य के आधार पर और नये प्रकार के छंद बनाये गये । पूर्व के कवियों ने जिन में भाट (ब्रह्मभट्ट) प्रधान थे पदों का आविष्कार किया और पश्चिम के चारण कवियों ने (चारणी) गीतों का । ब्रह्मभट्ट लोग पिंगलानुमोदित छंदों में भी रचना करते रहे, उनकी रचनाओं में पदों की अपेक्षा पिंगलानुमोदित छंदों की ही प्रधानता

१—किशोरसिंह बार्हस्पत्य राजस्थान—वर्ष १ अंक १
२—मुंशी देवीप्रसाद नवम् हि. सा. बंबई का कार्य विवरण पृ. ४४
३—श्यामसुन्दरदास हिन्दी शब्द सागर–भूमिका पृ. २८
४—रामकर्ण आसोपा एकादश हि. सा. स. कलकत्ता का कार्य विवरण पृ. १७
५—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ना. प्र. पत्रिका भाग १ अंक १ पृ. १८ नवीन संस्करण

रही। पर चारणों ने इन छंदों की अपेक्षा गीतों को प्रधानता दी। पिंगलानुमोदित छंदों में लिखी गयी कविता की भाषा (ब्रजभाषा) पिंगल नाम से प्रसिद्ध हुई। उसी के वजन पर पिंगल के छंदों से भिन्न गीतों में लिखी कविता की भाषा का डिंगल नाम पड़ा।[1] ये सब धारणायें एक पूर्वाग्रह लेकर चलती है कि पिंगल नाम प्राचीन है और इसी के आधार पर डिंगल नामकरण किया गया, जो अनुचित है। जहाँ ब्रजभाषा के लिए पिंगल शब्द का प्रयोग कोई अठारहवीं शताब्दी में पाया जाता है, वहाँ राजस्थानी (मारवाड़ी) भाषा के लिए डिंगल शब्द का उल्लेख अपेक्षाकृत पहले पाया जाता है। पिंगल' शब्द का प्रयोग छंद शास्त्र के अर्थ में तो बहुत पुराना है किन्तु ब्रजभाषा के अर्थ में अठारवीं सदी में गुरु गोविन्द सिंह ने अपनी कृति विचित्र नाटक' में इसका प्रयोग किया है जैसे भाषा पिंगल दी।[2] किन्तु मारवाड़ी भाषा के लिए डिंगल शब्द का प्रयोग सत्रहवीं शताब्दी से होने लग गया था। प्रसिद्ध जैन कवि कुशललाभ ने (१६१६ वि०) पिंगल शिरोमणि' नामक ग्रंथ लिखा है जिसमें मारवाड़ी भाषा के लिए पहले पहल डिंगल शब्द का प्रयोग मिलता है।[3] इससे सिद्ध होता है कि डिंगल शब्द पिंगल की अपेक्षा प्राचीन है अतः 'पिंगल के ध्वनिसाम्य के आधार पर 'डिंगल' शब्द की उत्पत्ति की कल्पना करना इतिहास विरुद्ध है।

डिंगल भाषा का संबंध चारण भाट राव ढाढी मोतीसर आदि जातियों से रहा है जिसका उल्लेख डा० हरप्रसाद शास्त्री ने अपनी खोज रिपोर्ट और पीछे से डा मेनारिया ने अपने ग्रंथों में किया है। इस तथ्य को ध्यान में रख कर उदयसिंह भटनागर ने एक नई कल्पना की है। उन्होंने लिखा है कि ये जातियाँ सारे राजस्थान के राजपरिवारों से संबंधित रहती आई हैं, इनका कार्य विरुद और पावाएँ रचना और गाना है। इन्हीं के गीतों और उनकी भाषा की परम्परा काव्य के रूप में विकसित हुई और डिंगल साहित्य और भाषा के रूप में प्रसिद्ध हुई। राजदरबार से संबंधित और प्रभावित अन्य लोगों ने भी इस शैली में रचना की है। परन्तु प्रधान रूप से डिंगल का सम्बन्ध इन्हीं जातियों से था। इस कथन के प्रमाण में उन्होंने डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति को खोजना चाहा है। डिंगल शब्द को उन्होंने डिंगर से विकसित माना है। उनका प्रश्न है—यह 'डींगरो' क्या है? संस्कृत कोषों में एक डिंगर शब्द मिलता है जिसका अर्थ मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत कोष में पृ० ४३० पर अमरसिंह हलायुध, हेमचन्द्र आदि के कोषों के आधार पर दास सेवक गाने-बजाने वाला दिया है। अतः डिंगर शब्द इन्हीं जातियों—चारण भाट राव मोतीसर ढाढ़ी आदि से

१—नरोत्तम स्वामी क्रिसन रुकमणि री वेलि—प्रस्तावना पृ ७

२—गुरु गोविन्द सिंह दशम ग्रंथ—पृ ११७

३—अगरचन्द नाहटा राजस्थान भारती भाग १ अंक ४ पृ० १५

४—उदयसिंह भटनागर हिन्दी अनुशीलन-वर्ष ८ अंक १ पृ० १५

सम्बन्ध रखता है। डिंगरका अन्त्य 'र' 'ल' मूर्धन्य ल में परिवर्तित हो गया है। इस तर्क के आधार पर भटनागर जी ने 'डिंगल' शब्द की व्युत्पत्ति डूंग निकाली है। डा० सुकुमार सेन[1] और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र[2] भी इसी संभावना के समर्थक हैं। किन्तु इसे मानने में बड़ी हिचकिचाहट होती है। चारणों की भाषा बहुधा डिंगल रही है किन्तु भाटों की पिंगल। चारणों ने कविता के क्षेत्र में जो कुछ योग दान दिया, भाटों का योग उससे किसी भी भाँति कम नहीं रहा। राजस्थानी साहित्य में डिंगल भाषा के ग्रंथों की तुलना में पिंगल भाषा के ग्रन्थों की संख्या कुछ अधिक ही है। अनेक रासो ग्रंथ पिंगल ग्रंथ अधिक हैं बनिस्बत इसके कि उन्हें डिंगल के ग्रंथ माना जाय। ऐसी स्थिति में केवल परम्परायुक्त मारवाड़ी में रचित चारणी साहित्य अपने लिए डिंगल नाम क्यों पा सका यह समझ में नहीं आता। डिमरों (सेवकों—आगे बजाने वालों) की भाषा डिंगल—इस सूत्र के आधार पर तो प्रत्येक राज्याश्रित कवि की भाषा डिंगल कहलाने की हकदार हो जाती है। फिर क्या कारण है कि भाटों व इतर कवियों की रचनाओं को हम पिंगल मानते हैं—डिंगल नहीं। हमारी इस शंका का समाधान इस मत द्वारा नहीं हो सकता अतः इसे किस दिशा तक स्वीकार किया जाय यह विस्मय है।

डिंगल भाषा के नामकरण के संबंध में नरोत्तम स्वामी ने हमारा ध्यान एक नवीन संभावना की ओर आकर्षित किया है। उन्होंने बताया है कि कुशललाभ-रचित पिंगल शिरोमणि ग्रंथ में उडिंगल नागराज का एक छंदशास्त्रकार के रूप में उल्लेख हुआ है। छंदों का सर्व प्रथम विवेचन करने वाला पिंगलनाग हुआ। जब अपभ्रंश काल में नवीन मात्रिक छंदों का प्रयोग होने लगा तो उनका आविष्कारक भी पिंगल ही माना गया और उसी के नाम पर प्राकृत पिंगल ग्रंथ बना। इस प्रकार पिंगल कविता में प्रयुक्त छंदों का आविष्कारक पिंगलनागराज प्रसिद्ध हुआ। जब डिंगल गीतों का आविष्कार हुआ तो उनका संबंध भी किसी प्राचीन महापुरुष से जोड़ना आवश्यक जान पड़ा और पिंगल नागराज के समान उडिंगल नागराज की कल्पना की गई। यह 'उडिंग शब्द ही डिंगल का मूल है।' स्वामी जी ने इस धारणा के द्वारा हमारा ध्यान भारतीय मानस के स्वभाव की ओर अवश्य आकर्षित किया है जिसके अनुसार हम अपने ज्ञान विज्ञान साहित्य शास्त्र सभी का संबंध 'प्राचीन के साथ अलौकिक के साथ जोड़ना चाहते हैं। जब तक इस प्रकार के उल्लेख कहीं अन्यत्र नहीं मिलें इसे अनुमान ही अधिक माना जायेगा। किन्तु संभव है भविष्य में इसी दिशा में कोई और सूत्र हमारे हाथ लग जाए।

हमने ऊपर सभी प्रमुख विचारकों की धारणाओं को परखा किन्तु यह सब करने पर भी हम किसी निश्चित स्थान पर नहीं पहुँच पाये। नामकरण के प्रश्न को

१—डा० हीरालाल माहेश्वरी राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ० १४९

२—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र हिन्दी साहित्य का अतीत पृ० २९ व ८१

३—नरोत्तम स्वामी क्रिसन रुकमणी री वेलि—प्रस्तावना पृ० ७-८

लेकर विभिन्न अटकलें लगाने से कोई विशेष लाभ होने की संभावना नहीं है। वैज्ञानिक अध्ययन में अनुमान व कल्पना का योग एक विशेष सीमा तक ही लिया जा सकता है अतः इस सम्बन्ध में और भी अधिक कल्पना करने के स्थान पर हमें डिंगल के स्वरूप का अध्ययन करना चाहिए, संभव है इसी के द्वारा हमारी इस नामकरण की जटिल समस्या का निदान निकल आये।

डिंगल को लेकर अनेक शंकायें उठाई गई हैं (१) डिंगल राजस्थान की कुछ विशेष जातियों की भाषा-शैली मात्र है यह कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है।[1]

(२) मारवाड़ी और डिंगल एक नहीं मानी जा सकती। प्रश्न है कि क्या समूचा मारवाड़ी (राजस्थानी) साहित्य डिंगल कहा जा सकता है? न तो सारे राजस्थानी साहित्य को ही मारवाड़ी कहा जा सकता है न सारे डिंगल साहित्य को ही। अतः डिंगल और मारवाड़ी दोनों भिन्न हैं।[2]

(३) डिंगल एक कृत्रिम भाषा है। यह बोलचाल की भाषा कभी नहीं रही।[3]

यद्यपि इन तीनों शंकाओं पर हमने अपने विचार प्रारंभ में ही स्पष्ट कर दिये हैं—फिर भी वे वैज्ञानिक विवेचन की अपेक्षा रखते हैं अतः उन पर एक-एक कर विचार किया जायेगा।

कुछ विद्वानों ने डिंगल को कुछ जातियों की भाषा-शैली मात्र माना है। वे इसे स्वतंत्र भाषा नहीं मानते। उनकी मान्यता में एक स्वतंत्र भाषा के लिए यह आवश्यक है कि उसके रूपों का बोलचाल में प्रयोग हो। इस दृष्टि से डिंगल में कोई स्वतंत्र रूप-योजना अथवा वाक्य विन्यास नहीं देख पड़ता। उसकी रूप-योजना और वाक्य विन्यास का आधार राजस्थानी बोलियों में रहा है। अतः डिंगल इन बोलियों से स्वतन्त्र नहीं है और न कोई स्वतन्त्र बोली है। इसका सम्बंध सदा से चारण, भाट, राव, ढाढ़ी, मोतीसर आदि जातियों से ही रहा है जिसका उल्लेख डाक्टर हरप्रसाद शास्त्री ने और पीछे से डा० मेनारिया ने अपने ग्रंथ में किया है। ये जातियां सारे राजस्थान के राज परिवारों से सम्बन्धित रही आई हैं इनका कार्यविशेष और साधारण रचना और गाना है। इन्हीं के लोगों और उनकी भाषा की परम्परा काव्य के रूप में विकसित हुई और डिंगल साहित्य और भाषा के नाम से प्रसिद्ध हुई। राजदरबारों से सम्बन्धित और प्रभावित अन्य लोगों ने भी इस शैली में रचना की है परन्तु प्रधान रूप से डिंगल का सम्बन्ध इन्हीं जातियों से था।[4]

इस मान्यता के दो अंग हैं। १—डिंगल भाषा नहीं-शैली मात्र है। २—यह केवल कुछ जातियों द्वारा विकसित किया गया है। काव्य शैली के रूप में

१—उदयसिंह भटनागर : डिंगल भाषा हिन्दी अनुशीलन—वर्ष ८ अंक १ पृ० ११
२—वही
३—उदयसिंह भटनागर : हिन्दी और राजस्थानी भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास पृ० ३८
४—उदयसिंह भटनागर : डिंगल भाषा—हिन्दी अनुशीलन व० ८ अंक १ पृ० १५

प्रयुक्त की जाती रही है । जहाँ तक डिंगल को भाषा मानने का प्रश्न है–हिन्दी के अधिकांश विद्वान इसे भाषा ही मानते हैं । व्याकरण की दृष्टि से डिंगल एक भाषा ही ठहरती है । डा॰ सुमित्राकुमारी सिन्हा [1] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी [2] डा॰ सुनीति कुमार चाटुर्ज्या [3] नरोत्तम स्वामी [4], आदि डिंगल को भाषा मानने के पक्ष मे हैं । जहाँ तक डिंगल की कुछ विशेष जातियों से सम्बन्ध होने की स्थापना की जाती है उसमें काफी सच्चाई है । निसन्देह चारण, भाट मोतीसर राव ढाढ़ी आदि जातियों द्वारा डिंगल के विकास में महत्व का योग-दान रहा है फिर भी हमें यह याद रखना होगा कि इन जातियों के अतिरिक्त अन्य जातियों के लोगों ने भी डिंगल में काफी काव्य रचना की है । डिंगल साहित्य के दो सर्वश्रेष्ठ काव्य "ढोला-मारू रा दूहा और "बेलि क्रिसन रुकमणी री" चारणेतर कवियों द्वारा ही रचे हुए हैं । डिंगल का सर्वोत्तम गद्यग्रन्थ "नैणसीरी ख्यात" भी एक वैश्य लेखक की रचना है[5] । अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि डिंगल एक भाषा है, जिसे चाहे प्रारम्भ में कुछ विशेष जातियों द्वारा भले ही अपनाया गया हो, किन्तु बाद में वह सभी द्वारा समादृत साहित्यिक भाषा बन गई । उसे मात्र शैली नहीं माना जा सकता ।

मारवाड़ी को डिंगल माना जाय अथवा नहीं–इस शंका का कारण पृष्ठभूमि की उपेक्षा है । हम पहले ही बता आये हैं कि अनुभूति भाषाशास्त्र और इतिहास-तीनों दृष्टि से डिंगल मारवाड़ी (राजस्थानी की प्रमुख साहित्यिक उपभाषा) से भिन्न नहीं है । संक्षेप में मरुभाषा (मारवाड़ी) और डिंगल एक ही भाषा के भिन्न भिन्न नाम हैं । राजस्थानी के अन्यतम कवि सूर्य्यमल्ल मिश्रण ने यही मत व्यक्त किया है[6] ।

डिंगल उपनामक कहुंक मरुवाणीहु विशेष ।
अपभ्रंश जामे अधिक सदा वीर-रस-श्लेष ।।

—वंश भास्कर खंड १, दोहा ४०

ग्रियर्सन[7] और टेसिटरी[8] ने भी डिंगल का अर्थ मारवाड़ी ही किया है ।

१—डा॰ सुमित्राकुमारी सिन्हा मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ–पृ॰ २७
२—हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य पृ॰ ६६–६७
३—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या राजस्थानी भाषा–पृ॰ ५८
४—नरोत्तम स्वामी क्रिसन रुकमणी री बेली प्रस्तावना पृ॰ २
५—डा मोतीलाल मेनारिया राजस्थान का पिंगल साहित्य–पृ॰ ८
६—सूर्य्यमल्ल मिश्रण वंश भास्कर खंड १, पृ॰ १४७

7. Dr Grierson Linguistic Survey of India, Vol. IX, Part II page 19
Marwari has an old literature about which hardly anything is known The writers some time composed in Marwari and sometimes in Brajabhasha In the former case the language was called Dingal and in the latter Pingal

8. Dr Tessitori--Journal of the Asiatic Society of Bengal Vol X, No 10, page 375 (Quoted on next page)

मोहनलाल[1] जिज्ञासु इसीलिए डिंगल को राजस्थानी (मारवाड़ी) का मध्यकालीन रूप समझते हैं। उनकी मान्यता है कि ज्यों-ज्यों मरुभाषा (मारवाड़ी) का रूप परिमार्जित होता गया और वह साहित्यिक रचनाओं के लिए प्रयुक्त होने लगी त्यों-त्यों उसका नाम डिंगल प्रसिद्ध होने लगा। प्रारंभ में डिंगल काव्यभाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न न थी—केवल वह उसका परिष्कृत स्वरूप था। जैसे केशवदास बिहारी घनानन्द सभी ब्रजभाषा के कवि हैं परन्तु उनमें ब्रजमंडल में प्रयुक्त होने वाली आज की भाषा से थोड़ा बहुत अन्तर है और सूरपूर्व ब्रजभाषा से भी थोड़ी विभिन्नता है। उसी प्रकार आज की मारवाड़ी और प्राचीन मारवाड़ी में अन्तर है और बोलचाल एवं साहित्यिक मारवाड़ी में भी भिन्नता है जो स्वाभाविक ही है। अतः साहित्यिक परम्परा-सम्मत मारवाड़ी के साहित्य को हम निस्सन्देह डिंगल साहित्य के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। राजस्थानी में अनेक उपभाषाएं हैं और उनके साहित्यों को डिंगल के रूप में उसी तरह ग्रहण नहीं किया जा सकता जैसे हिन्दी की विभिन्न उपभाषाओं के साहित्यों को खड़ी-बोली साहित्य में नहीं गिना जा सकता।

तीसरी शंका है कि डिंगल एक कृत्रिम भाषा है। डिंगल भाषा में राज्याश्रित कवियों ने ही बहुधा अपनी रचनायें की हैं। ये भाट और चारण इन वीर गाथाओं को अपने आश्रयदाता किसी सामन्त सरदार अथवा राजदरबार की प्रशस्ति में कहते थे। उनकी भाषा साधारणतया मिली जुली थी और आम बोलचाल की नहीं होती थी तथा प्रायः एक राजदरबार से दूसरे तक बदलती रहती थी क्योंकि जब वे चारण एक राजदरबार से दूसरे में जाते तो उन्हीं वीर-गाथाओं और चारण-काव्यों में शब्द तथा भाषा का हेर फेर करते जाते वही काव्य नये सामन्त की स्तुति के काम आ जाता और उसके दरबार के जीवित या मृत वीरों के नामों का उसमें समावेश कर दिया जाता। ये भाट एक दरबार से दूसरे दरबार में आया जाया करते थे और निकटवर्ती दरबारों में समझी जानेवाली मिश्रित भाषा का प्रयोग करते थे। जब किसी राजा या सामन्त का साम्राज्य होता तो उसके दरबार की भाषा उस मिश्रित भाषा में प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेती थी[2]।

ठाक इसी भांति जर्मनी के राजदरबारों में नागरी भाषा अस्तित्व में आई थी जो ऐसी ही मिली-जुली थी। किन्तु आधुनिक जर्मन भाषा का उद्गम इस

It is well known that there are two languages used by the bards of Rajputana in their poetical compositions and they are called Dingala and Pingala These are no more 'Styles of poetry as held by Mahamaho—padhyaya Hara Prasad Shastri, but two distinct languages the former being the local Bhasha of Rajputana and the latter the Brajbhasha, more or less vituated under the influence of the former

१—मोहन लाल जिज्ञासु प्रेरणा वर्ष ४ अंक ७ पृ० १८

२—उदयनारायण तिवारी हिन्दी और पारोपिय भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास—पृ० ७८-७९

भाषा से नहीं माना जाता। वह चास्सरी भाषा असेमानिक, कॉकिश, बवेरियन और स्वाबियन से जो पूर्ववर्ती शताब्दियों के ख्यातिप्राप्त सामन्त राज्यों की भाषाएं थीं, भिन्न थी। वह चास्सरी भाषा व्याकरण के कम-से कम नियमों को लेकर उन सामन्त राज्यों की भाषाओं में साधारणतया समझे जाने वाले शब्दों के मेल से बनी एक कृत्रिम भाषा थी। रासो काव्यों की डिंगल भाषा भी ऐसी ही मिली—जुली भाषा थी[1]।

निर्संदेह श्री नरुला की इस मान्यता में काफी सत्यांश है। किन्तु वे भी डिंगल को पिंगल का स्थानापन्न मान गये हैं। राजस्थानी पिंगल रचनाओं की भाषा का स्वरूप अवश्य कृत्रिम है किन्तु यह उक्ति डिंगल पर लागू नहीं की जा सकती। चन्द बरदाई की 'पृथ्वीराजरासो' पिंगल रचना है। हिन्दी के समस्त विद्वानों ने इसे पिंगलकृति ही ठहराया है। (विस्तृत विवेचन इसी अध्याय में आगे देखिये)। इसकी भाषा के संबंध में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का कथन है 'रासो की जैसी भी भाषा है वह जीवित बोली नहीं है-वह किसी भी काल या प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा नहीं है। वह एक कृत्रिम साहित्यिक बोली है जिसका स्वरूप कई शताब्दियों की और सहस्त्रों वर्गमील में फैले भूखण्ड की कई बोलियों द्वारा निर्मित हुआ था। उसमें मुख्यतया पश्चिमी अपभ्रंश का है जिसमें पश्चिमी हिन्दी के साथ राजस्थानी बोलियों और प्रारंभिक पंजाबी की विशिष्टताएं हैं। इस प्रकार की एक मिश्रित बोली राजस्थानी कविता में १२०० ई के बाद क्रमशः प्रचलित हो चली थी और उसका पिंगल या पिंगल नाम था। किन्तु राजस्थानी चारण काव्य की यह मिश्रित बोली केवल विशिष्टजनों द्वारा समझी जाती थी जनसाधारण की वह भाषा न थी[2]। इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि कृत्रिम भाषा पिंगल है, न कि डिंगल। डिंगल को कृत्रिम भाषा मान लेने से बड़ी हास्यास्पद स्थिति हो जाती है। पिंगल को हम कृत्रिम भाषा मानते हैं डिंगल को भी ऐसी ही भाषा ठहरा देने से मानना पड़ेगा कि उस युग में बोलचाल की भाषा का कोई साहित्यिक स्वरूप ही नहीं था। यह कल्पना अवैज्ञानिक ठहरती है।

डिंगल भाषा का आधार मारवाड़ी रहा है। मारवाड़ी काफी प्राचीन समय से मरुभाषा के नाम से जानी जाती रही है। हम इस सम्बन्ध में अन्यत्र विचार कर चुके हैं तो फिर डिंगल का वास्तविक स्वरूप क्या था? पंडित मनराज ओझा के अनुसार डिंगल का मतलब प्राचीन काल की या उसके ढंग पर लिखी हुई साहित्यिक राजस्थानी से है। अनेक लोग डिंगल को चारणों की बनावटी भाषा मानते हैं, पर यह केवल भ्रम है। इस भ्रम का कारण यह है कि प्राचीनकाल में डिंगल-ग्रंथ रचना का प्रचार प्रायः सभी जातियों के लोगों में था। राजपूत, साधु ब्राह्मण सेवक, पंचोली आदि भी डिंगल में कविता करते थे परन्तु सत्रहवीं शताब्दी पश्चात् जिन

१—नमदेश्वरसिंह नरुला हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास—पृ० ७२-७९

२—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—पृ० १ ६

लोगों का पीछा कर कविता करना नहीं था और जो मनोविनोद मात्र के लिए ही कविता करते थे उनका झुकाव उस समय की अपनी भाषा की ओर हुआ। डिंगल उनसे धीरे धीरे छूट गई और वह केवल उन्हीं जातियों में रह गई जिनका जीविका निर्वाह परम्परा से इसी के सहारे होता था। ये जातियाँ हैं चारण, मोतीसर, भाट, राव, ढाढी, दमामी आदि हैं। इन्होंने पुरानी परिपाटी को अपनाने में रुचि की और डिंगल कविता में प्राचीन से प्राचीन शब्दों का जो अब जनसाधारण के ज्ञान से बाहर हो चुके हैं प्रयोग करना न छोड़ा। इन डिंगलकारों द्वारा डिंगल शब्दों का समझना जनसाधारण के लिए कठिन हो गया। इससे उन्होंने यह अनुमान किया कि हो न हो यह भाषा चारणों की एक निजी एवं बनावटी भाषा ही है, जन साधारण की नहीं। परन्तु वास्तव में डिंगल बनावटी भाषा नहीं है वरन् राजस्थान की निजी प्राचीन भाषा है[1]। गजराज ओझा व डा० श्यामसुन्दरदास भी इसी का समर्थन करते हैं[2]। डा० धीरेन्द्र वर्मा डिंगल को पुरानी साहित्यिक मारवाड़ी बतलाते हैं[3]। नरोत्तम स्वामी[4] डा० रामसिंह तोमर[5] रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत[6] कृष्णा जी पांडुरंग कुलकर्णी[7] सभी विद्वान डिंगल को प्राचीन मारवाड़ी मानते हैं।

इससे यह ज्ञात होता है कि राजस्थान की प्रमुख साहित्यिक भाषा का नाम प्राचीन काल में मरुभाषा था वही मध्यकाल में डिंगल कहलाया[8]। आज हम उसे ही राजस्थानी भाषा के नाम से पुकारने लगे हैं। अर्थात् मध्यकालीन मरुभाषा का साहित्यिक रूप डिंगल कहलाया और आज की बोलचाल की भाषा राजस्थानी कही जा रही है। डिंगल भाषा के विकास को समझने का अर्थ दूसरे शब्दों में राजस्थानी भाषा के उद्भव और विकास का अध्ययन मात्र है अतः अब हम राजस्थानी भाषा के विकास पर विचार करेंगे।

राजस्थानी भाषा का विकास

किसी भी भाषा के उद्भव व विकास का अध्ययन करते हुए हमें उसके क्षेत्र और वैज्ञानिक विकास के इतिहास से परिचित होना आवश्यक हो जाता है।

१—गजराज ओझा—डिंगल भाषा नागरी प्र० पत्रिका—भाग १४ अंक १ पृ० ९४

२—डा० श्यामसुन्दरदास हिन्दी भाषा—पृ० ४१

३—डा० धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास—पृ० ५५

४—नरोत्तम स्वामी किसन रुकमणी री वेलि प्रस्तावना—पृ० ९

५—डा० रामसिंह तोमर हिन्दी साहित्य कोश—पृ ११४

६—रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृष्ठ ७

७—कृष्णाजी पांडुरंग कुलकर्णी मराठी उद्गम व विकास पृष्ठ ५९

८ अ—पुरुषोत्तम मेनारिया राजस्थानी भाषा की रूपरेखा—पृ० १७

ब—राममोहनसिंह प्राचीन राजस्थानी गीत भाग १—संपादकीय पृ० २

भाषा वैज्ञानिकों ने राजस्थानी को अपभ्रंशेतर भाषा माना है। अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी के काल में सीमा रेखा खींचना कठिन है क्योंकि राजस्थानी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव इतना अधिक मिलता है कि राजस्थानी भाषा का पूरा ज्ञान नहीं रखने वाले व्यक्ति वर्तमान और मध्य कालीन राजस्थानी रचना को भी बहुत पुरानी समझ बैठते हैं[1]। इसी प्रकार राजस्थानी भाषा का उद्भव किस अपभ्रंश से हुआ है इस सम्बन्ध में सभी विद्वान एकमत नहीं हैं। पुरुषोत्तम मेनारिया इसे नागर अपभ्रंश से उत्पन्न मानते हैं[2]। जनार्दनराय नागर ने इसे साथ ही शौरसेनी अपभ्रंश से उद्भूत ठहराया है[3]। कुछ लोगों के मत में राजस्थानी का विकास सबसे पहले नागर एवं अवन्ती अपभ्रंशों से हुआ है[4]। गुलेरी[5] श्यामसुन्दरदास[6] उदयनारायण तिवारी सभी का झुकाव शौरसेनी अपभ्रंश की ओर है। मुंशी राजस्थानी को गुर्जरी अपभ्रंश से उत्पन्न बताते हैं[8]। चाटुर्ज्या तत्कालीन अपभ्रंश को सौराष्ट्र अपभ्रंश की संज्ञा देते हैं।[9] कुछ भी हो सन् ८००ई० से ११००ई०तक समग्र पंजाब राजस्थान, गुजरात, सम्भवतः सिंध और मालवे में भी एक साहित्यिक अपभ्रंश प्रतिष्ठित थी जिसे हम अपनी सुविधा के लिए पश्चिमी अपभ्रंश कह कर पुकार सकते हैं[10]। इसी अपभ्रंश से विकसित जो भाषा ईस्वी की बारहवीं सदी से सोलहवीं सदी तक इस विस्तृत भू भाग पर प्रयुक्त होती रही उसे ही टेसिटेरी ने 'पुरानी पश्चिमी राजस्थानी' का नाम दिया है।[11] उसे ही गुजराती विद्वान उमाशंकर जोशी 'मारूगुर्जर' संज्ञा देते हैं।[12] निसन्देह जोशी जी का यह नामकरण अधिक वैज्ञानिक और उपयुक्त है। उस समय तक राजस्थानी और गुजराती एक भाषा थी।[13] इसके लिए मेरी निगाह में एक नया नाम 'श्याम खां रासा' पढ़ते समय आया जिसकी ओर मुनि जिन विजय जी ने संकेत भी किया है[14] वह नाम है 'मारू-सोरठ'। इस प्रकार प्राचीन राजस्थानी-गुजराती सोलहवीं शताब्दी तक प्रचलित थी।

१—पुरुषोत्तम मेनारिया राजस्थानी भाषा की रूपरेखा—पृ० ११
२—वही
३—जनार्दनराय नागर हिन्दी की प्रादेशिक भाषाएँ—पृ ६
४—पारीक—ठाकुर वेलि क्रिसन रुकमणीरी—पृ० ८ भूमिका भाग
५—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—पुरानी हिन्दी—ना० प्र० प० भाग २, पृ० २४१ ४४
६—श्यामसुन्दर दास हिन्दी भाषा—पृ० १५
७—उदयनारायण तिवारी हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—पृ० १७८-७९
८—क० मा० मुंशी अ मा० सा० ०० के ३३ वें अधिवेशन का विवरण पृ० ९
९—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या राजस्थानी भाषा पृ० ६५
१०—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या राजस्थानी भाषा पृ ६०
११—टैसीटरी जनरल आफ ए० एस० आफ बेंगाल व० १ अंक १० पृ०३७५
१२—अनंतराय म० रावल गुजराती साहित्य पृ ५
१३—गजराज ओझा डिंगल भाषा ना० प्र प० भाग १४, अंक १ पृ० ११४
१४—मुनि जिन विजय क्याम खां रासा—किंचित् भूमिका—पृ० ७

सोलहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक राजस्थानी भाषा का माध्यमिक स्वरूप दिखाई देता है। इस युग की साहित्यिक भाषा के दो रूप हमें साफ नजर आते हैं। एक तो वह जो बोलचाल की भाषा के अत्यधिक निकट रहा है। ऐसी भाषा हमें लोकगीतों संतकाव्य और जैनसाहित्य में दीख पड़ती है। तत्कालीन भाषा का दूसरा स्वरूप अत्यधिक साहित्य परम्परा-सम्मत रहा है। आलोच्य-काल की इस प्रकार की भाषा के दो रूप हमें स्पष्ट ज्ञात पड़ते हैं जिन्हें राजस्थान में डिंगल और पिंगल के नाम से पुकारा जाता रहा है।[1] डिंगल भाषा मारवाड़ी का साहित्यिक और अपभ्रंश प्रभावित रूप थी यह हम पहले देख चुके हैं। पिंगल भाषा मध्य देशीय भाषा से प्रभावित थी। बल्कि उनका मूलाधार ही ब्रजभाषा थी। गुजरात और मारवाड़ के जैन आचार्य और पण्डितों के द्वारा सौराष्ट्र अपभ्रंश (पश्चिमी अपभ्रंश) से उद्भूत पुरानी पश्चिमी राजस्थानी में साहित्य-सर्जना होने लगी पर साथ ही साथ शौरसेनी-अपभ्रंश साहित्यिक भाषा में पूर्ववत् काव्यादि साहित्यिक रचना की रीति अव्याहत रही। फिर, यह शौरसेनी अपभ्रंश-साहित्यिक भाषा पूर्व से बदलती गई इसका एक नवीनतर या अर्वाचीन रूप पिंगल नाम से राजस्थान और मालवा के कवियों में पूर्णतया गृहीत होकर पिंगल का एक साहित्य बन गया। पिंगल' को शौरसेनी अपभ्रंश साहित्यिक भाषा और मध्य कालीन ब्रजभाषा के बीच की भाषा कहा जा सकता है।[2] आगे चलकर इन दोनों भाषाओं में रूढ़िप्रियता बढ़ती गई और फलस्वरूप उनमे कृत्रिमता आती गई।

आधुनिक राजस्थानी साहित्य पुनः अभिव्यक्ति, शैली रूढ़ि तथा भाषा की दृष्टि से जनसाधारण के निकट आ रहा है। तत्सम्बन्धी कोई चर्चा असंगत होने से यहाँ अभीष्ट नहीं है।

राजस्थानी भाषा राजस्थान की मातृभाषा है। राजस्थान से हमारा तात्पर्य वर्तमान सीमाओं से नहीं होकर सांस्कृतिक और भाषिक इकाई से है जिसका क्षेत्र वर्तमान राजस्थान से विस्तृत है। ग्रियर्सन ने इसे राजपूताना और मालवा की भाषा माना है।[3] भारत में हिन्दी को छोड़कर इतना अधिक विस्तृत क्षेत्र अन्य किसी भाषा का नहीं है।[4] राजस्थानी बोलने वालों की संख्या डेढ़ करोड़ से ऊपर है। इस दृष्टि से उसका स्थान भारतीय भाषाओं मे हिन्दी बंगला तेलगू तामिल और मराठी के बाद छठा और विश्व की भाषा मे कोई पच्चीसवां है।

१—डा सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—पृ० १८५

२—डा सुनीतिकुमार चाटर्ज्या राजस्थानी भाषा—पृ ६५

३—ग्रियर्सन लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया भ १ भा० १ पृ० १७१

४—नरोत्तम स्वामी राजस्थानी भाषा और साहित्य' — आलोचना अं० ६ पृ० १ ९

राजस्थानी के पूर्वोत्तर में हिन्दी की बांगरू बोली, उत्तर में पंजाबी, पश्चिमोत्तर में हिन्द की पश्चिम में सिन्धी दक्षिण-पश्चिम में गुजराती दक्षिण में मराठी और पूर्व में हिन्दी की बुन्देली और ब्रजभाषा नामक बोलियाँ बोली जाती हैं।

राजस्थानी भाषा की अनेक शाखा प्रशाखायें हैं। प्राय सभी विद्वान राजस्थानी को चार विभागों में बाँटते हैं। धीरेन्द्र वर्मा[1] डा० उदयनारायण तिवारी[2] डा० श्यामसुन्दरदास[3] नरोत्तम स्वामी[4] ग्रियर्सन आदि सभी विद्वानों ने इसके (१) पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी (२) मध्य पूर्वी राजस्थानी—जयपुरी या ढूढाड़ी (३) उत्तर पूर्वी राजस्थानी मेवाती और (४) दक्षिण-पूर्वी राजस्थानी मालवी—विभाग माने हैं। इसके अतिरिक्त राजस्थान की कतिपय और भाषायें हैं जैसे भीली उपभाषा समूह पहाड़ी वर्ग की भाषायें खानाबदोश जातियों की बोलियाँ आदि जिन्हें राजस्थानी में गृहीत किया जाता रहा है। इनमें से प्रमुख ये हैं—

(१) बंजारी—यह राजस्थान से बाहर रहने वाले बंजारों की भाषा है। स्थानानुसार इसके कई भेद हैं। ये बंजारे राजस्थान के मूल निवासी थे और व्यापार के सिलसिले में माल लादकर दूर-दूर तक पहुंचते थे। कालान्तर में वे इधर-उधर बस गये। उनकी भाषा का मूल ढाँचा राजस्थानी से प्रभावित ही रहा, यद्यपि स्थानीय प्रभाव से उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन भी हुआ— जो स्वाभाविक था।[5]

(२) गूजरी—यह विशेषत हिमालय की तराई काश्मीर और पंजाब में बसे हुए गूजरों अहीरों आदि पशुपालक जातियों की बोली का समूह है।[6]

(३) भीली—यह गुजराती और राजस्थानी के बीच की भाषा है और भीलों द्वारा प्रयुक्त होती है। खानदेशी राजस्थानी व मराठी के योग से बनी है।[7]

(४) पहाड़ी वर्ग की भाषायें—इनका भी राजस्थानी के साथ घनिष्ट संबंध है। राजस्थान से कुछ व्यक्ति नेपाल में जाकर बहुत वर्षे पहिले स्थाई तौर पर वहाँ बस गये थे—फलस्वरूप नेपाली, कुमाऊँनी, गढ़वाली आदि राजस्थानी पर आधारित है।[8]

१—धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास—पृ० ५५
२—उदयनारायण तिवारी भोजपुरी भाषा और साहित्य—पृ० ७३
३—श्यामसुन्दरदास भाषा-रहस्य—पृ० ६३
४—नरोत्तम स्वामी राजस्थानी भाषा और साहित्य—राजस्थानी भाग १ पृ० १०
५—नरोत्तमस्वामी 'राजस्थानी भाषा और साहित्य'—आलोचना अंक ६—पृ १०७
६—पुरुषोत्तम मेनारिया राजस्थानी भाषा की रूपरेखा—पृ० ५
७—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या राजस्थानी भाषा—पृ० ९
८—श्यामसुन्दरदास हिन्दी भाषा का संक्षिप्त इतिहास—पृ० १९

(५) तामिलनाडु में 'प्रचलित सौराष्ट्री' भी राजस्थानी के अन्तर्ग जाती है।[1]

(६) भारतीय सांसियों, कंजरों नटों आदि की बोलियों का सम्बन्ध भ राजस्थानी से है। इनके पहाड़ी, मालवी बेलदारी ओड़की, लाड़ी, मजरिया, सांसी कंजरी, नटी, डोमी आदि अनेक प्रभेद हैं।[2]

उक्त प्रमुख चार भेदों—यथा (१) पश्चिमी राजस्थानी (२) मध्य पू राजस्थानी (३) उत्तर पूर्वी राजस्थानी (४) दक्षिण पूर्वी राजस्थानी को अने प्रकार से विभाजित किया जाता रहा है। ग्रियर्सन ने राजस्थानी के २० भेद गिना हैं। और मैकालिस्टर ने केवल जयपुरी के पन्द्रह भेदों का उल्लेख किया है डा मेनारिया ने राजस्थानी बोलियों की संख्या १०० से अधिक अनुमानित की है। जनार्दनराय नागर राजस्थानी की नौ प्रमुख बोलियां मानते हैं परन्तु इन सब में प्रमुख तो मारवाड़ी—पश्चिमी राजस्थानी ही है जिसका साहित्यिक महत्व है। इसी के आधार पर डिंगल भाषा का विकास हुआ है।

जैसा कि हम पहले देख आए हैं—प्राचीन राजस्थानी और प्राचीन गुजराती एक ही भाषा थी। ग्रियर्सन[5] सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या[6] बेचरदास दोशी[7] सभी विद्वा एकमत हैं कि लगभग सोलहवीं शताब्दी में ये भाषाएँ जुदा पड़ने लगीं। राजस्थानी के मध्यकालीन स्वरूप की व्याप्ति उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध तक रही। इसके पश्चात् आधुनिक युग माना जा सकता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में हम आधुनिक साहित्य पर विचार नहीं करेंगे इसी प्रकार मारवाड़ी अथवा डिंगल साहित्य तक ही अपने अध्ययन को सीमित रखेंगे क्योंकि हमारे उद्देश्य की पूर्ति से राजस्थानी के अन्य प्रकारों का विवेचन अनावश्यक है।

किस ग्रंथ को डिंगल का माना जाय और किस ग्रंथ को पिंगल का माना जाय अनेक बार यह एक विवादास्पद प्रश्न बन जाता है। उदाहरण के लिये 'पृथ्वी राज रासो' को लें। मोतीलाल मेनारिया एक स्थान पर इसे डिंगल रचना मानते हैं[8]

१—उदयनारायण तिवारी हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—पृ० १०९
२—नरोत्तम स्वामी— राजस्थानी भाषा और साहित्य'—राजस्थानी भाग १—पृ १०
३—मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा—११
४—जनार्दन नागर हिन्दी की प्रादेशिक भाषाएँ पृ० १८
५—ग्रियर्सन लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया—जिल्द १ भाग १—पृ० १७०
६—चटर्जी ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बेंगाली लेंग्वेज खंड १ पृ ९
७—बेचरदास दोशी गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति—पृ० १२५
८—मोतीलाल मेनारिया डिंगल में वीर रस—पृ० १

दूसरी ओर वे ही उसे अन्यत्र पिंगल की रचना मानते हैं[2]। पंडित रामकर्ण आसोपा[3] उसे डिंगल ही मानते हैं। नरोत्तम स्वामी[4] धीरेन्द्र वर्मा[5] ग्राउज[6] नामवर सिंह[6] आदि विद्वानों ने इसे पिंगल अथवा व्रजभाषा की कृति ठहराया है। निर्संदेह भाषा के अध्ययन के आधार पर पृथ्वीराज रासो को व्रजभाषा अथवा पिंगल की रचना मानना ही उपयुक्त है किन्तु शैली और काव्य-पद्धति की दृष्टि से रासो के अनेक स्थल डिंगल के हैं। हजारीप्रसाद जी के शब्दों में 'युद्धों के प्रसंग में रासो की भाषा डिंगल का रूप धारण कर लेती है'[7]। चूँकि हम इस प्रस्तुत प्रबंध में भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन न कर साहित्यिक अध्ययन तक अपने को सीमित रख रहे हैं अतएव यहाँ उन सभी ग्रन्थों पर जो चाहे पिंगल में अधिकांश लिखे गये हों किन्तु अल्पांश में ही सही, डिंगल में रचित हो विचार कर सकेंगे। अपनी सुविधा के लिए हम उन्हें डिंगल-मिश्रित रचनाएँ मानेंगे। नीचे का उदाहरण हमारे मन्तव्य को और भी अधिक स्पष्ट कर देगा।

(१) शुद्ध डिंगल रचनाएं—रघुनाथरूपक छंद बेलि क्रिसन रुकमणीरी और गनगर्द तथा डिंगल गीतादि सामग्री

(२) डिंगल मिश्रित रचनाएँ—पृथ्वीराजरासो और विनाद वंशभास्करादि।

प्रथम श्रेणी की रचनाएं भाषा की दृष्टि से पूर्णतः डिंगल की है किन्तु दूसरी रचनाएं पिंगल रचित होने पर भी डिंगल मिश्रित हैं। उनमें अनेक स्थल ऐसे हैं जो डिंगल में हैं और डिंगल-काव्यरूपों के अध्ययन के लिए अत्यंत महत्व के हैं इसलिए ऐसी डिंगल मिश्रित रचनाओं का भी यथावश्यकता प्रस्तुत प्रबंध में विवेचन किया गया है।

डिंगल का स्वरूप

यहाँ डिंगल के स्वरूप के संबंध में डा० टैसीटरी की धारणा पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। इसके अनुसार डिंगल के दो स्वरूप हैं। (१) प्राचीन डिंगल जिसका समय लगभग तेरहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक है और (२) अर्वाचीन डिंगल जिसका समय सत्रहवीं शती के मध्य से आज तक माना जा सकता है। उनकी धारणा है कि प्राचीन डिंगल में मद व अउ का प्रयोग

१ मोतीलाल मेनारिया राजस्थान का पिंगल साहित्य-पृ० ११

२ रामकर्ण आसोपा राजरूपक—भूमिका-पृ० २

३ नरोत्तमदास स्वामी पृथ्वीराजरासो-राजस्थानी भाग १ पृ० १-१

४ धीरेन्द्रवर्मा काशी विद्यापीठ रजतजयंती अभिनंदन ग्रंथ-पृ० १७८

५ ग्राउज—जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसायटी आफ बेंगाल-१८७३

६ नामवरसिंह पृथ्वीराज रासो की भाषा-अन्तिम अध्याय

७ हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य-पृ० ६७

होता था, जबकि अर्वाचीन डिंगल में उनके स्थान पर क्रमशः ऐ और औ का[1]। उनकी इस मान्यता का आधार डिंगल में प्रयुक्त कुछ शब्दों के हिज्जों तथा उच्चारण संबंधी विशेषताएं हैं व्याकरण भेद या शब्द भेद नहीं[2]। डा० मेनारिया इस मत को भ्रमपूर्ण समझते हैं। उनकी मान्यता है कि प्राचीन और अर्वाचीन डिंगल का यह भेद डिंगल की प्रकृति एवं उच्चारण शैली के विपरीत है। दूसरे, शब्द रचना का उनका अइ अउ वाला तरीका भी ठीक नहीं है। सिर्फ डिंगल का प्राकृत अपभ्रंश से संबंध बतलाने के लिये इसकी कल्पना कर ली गई है।[3] डा० मोतीलाल मेनारिया के मत का समर्थन करते हुये डा० हीरालाल माहेश्वरी ने अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया है अइ और ऐ इसी प्रकार अउ और औ दोनों प्रकार के रूप एक ही हस्तप्रति में मिल जाते हैं।[4] लगभग एक ही समय में रची गई अथवा एक ही कृति की समसामयिक हस्तप्रतियों में भाषा की ये दो प्रवृत्तियां क्यों दीख पड़ती हैं? उत्तर स्पष्ट है किसी भी भाषा का विकास क्रमशः होता है। अपभ्रंश से जब देश भाषाओं का विकास हुआ तो उनमें अपभ्रंश से मिलते जुलते रूप भी परम्परानुसार चलते रहे। यह स्वाभाविक ही था। साथ ही में उन्हीं के नवीन रूपों का विकास और व्यवहार होता गया। जैन शैली और उससे प्रभावित रचनाओं में सब जगह अइ और अउ की प्रवृत्ति लक्षित होती है। चारण साहित्य और जैन साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। चूंकि जैनों का धार्मिक साहित्य अपभ्रंश में रहा है उनका इससे अच्छा सम्पर्क रहा है। अतः जब भी किसी जैन परम्परा वाले लिपिक ने किसी रचना की अनुकृति तैयार की तो उसमें अइ या अउ का प्रयोग कर दिया। उदाहरण के लिए चारण माधोदास दधिवाड़िया रचित डिंगल रचना 'रामरासो' का संपादन करते समय लेखक को एक ही पंक्ति के निम्न दो रूप मिले।

गुण रामरासउ दधवाड़िया माधवदासजी रउ कहीयउ
हस्तप्रति—लाल भाई दलपत भाई भारतीय संस्कृति मंदिर

गुण रामरासो दधवाड़िया माधवदासजीरो कह्यौ
हस्तप्रति—अगरचंदजी नाहटा द्वारा प्रेषित

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जैन शैली में अउ अइ का प्रयोग हुआ है इस आधार पर प्राचीन और अर्वाचीन डिंगल जैसा विभाजन करना अनुचित है।

राजस्थानी साहित्य के विद्वानों ने बहुधा विस्तृत कारण दिए बिना ही डिंगल साहित्य का विभाजन इस प्रकार किया है। गजराज ओझा ने डिंगल साहित्य को

---

१ टैसीटरी वचनिका राठौड़ रतनसिंहजी री–भूमिका पृ० ४

२ जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बैंगाल वर्ष १० अंक १० पृ० १७६-७१

३ मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य–पृ० १

४ डा० हीरालाल माहेश्वरी राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० १८–२८

निम्न कालों में विभाजित किया है।[1]

[१] आरंभकाल—संवत् १००० वि० से १४०० वि० तक

[२] मध्यकाल—संवत १४०१ वि० से १८०० वि० तक

[३] उत्तरकाल—संवत् १८०१ वि० से आज तक

मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थानी साहित्य की विकास परम्परा व क्रम का ध्यान रखते हुए इस प्रकार विभाजन किया है।[2]

(१) प्रारंभकाल—सं० १०४५ से १४६० वि०

(२) पूर्वमध्यकाल—सं० १४६० से १७०० वि०

(३) उत्तरमध्यकाल—सं० १७०० से १९०० वि०

(४) आधुनिककाल—सं० १९०० से २००५ वि०

मेनारिया ने अपने इस विभाजन का आधार स्पष्ट नहीं किया है। उसी प्रकार डिंगल के एक नये विद्वान डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव का विभाजन है। आधारहीन विभाजन होने से इसकी कोई उपयोगिता नहीं।[3]

(१) प्राचीन काल—लगभग ११०० ई० से १६५० ई० तक

(२) मध्य काल—लगभग १६५० ई० से १८५० ई० तक

(३) आधुनिक काल—लगभग १८५० ई० से आज तक

नरोत्तमदास स्वामी द्वारा किया गया विभाजन इस प्रकार है।[4]

(१) प्राचीन काल—सं० ११५० से १५५०

(२) मध्य काल—सं० १५५० से १८७५

(३) अर्वाचीन काल—सं० १८७५ के पश्चात्

स्वामी जी ने आधुनिक भाषाओं को अपभ्रंश से अलग करने वाली आठ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ये विशेषताएँ सं० १२०० के आसपास स्पष्ट हो जाती हैं अतः तभी से आधुनिक भाषाओं का काल मानना उचित होगा।[5] पंडित बेचरदास दोशी भी गुजराती भाषा की उत्क्रान्ति इसी समय मानते हैं[6]। इसी समय अन्य देशी भाषाएँ भी विकसित हो रही थीं। बारहवीं शताब्दी में रचित 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण' की भाषा को चर्जी द्वारा कौशली कहा गया है[7]। अतः जूनी गुजराती या जूनी राजस्थानी कही जाने वाली भाषा का

---

१ गजराज ओझा 'डिंगल भाषा व साहित्य'—ना० प्र० प० भाग १४ अंक १ पृ० १८-१९

२ मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ० ७७

३ जगदीश श्रीवास्तव डिंगल साहित्य—पृ० ११

४ नरोत्तम स्वामी क्रिसन रुकमणीरी वेलि-प्रस्तावना—पृ० ९

५ राजस्थानी साहित्य—एक परिचय—पृ० ५

६ बेचरदास दोशी गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति—पृ० १८५

७ हीरालाल माहेश्वरी राजस्थानी भाषा और साहित्य-पृ० १० पर उद्धरित

प्रारंभ वि० सं० ११०० मानने में कोई हर्ज नहीं होना चाहिए। यह भाषा संवत् ११०० तक विकास पाती रही। इसके बाद अपभ्रंश का असर क्षीण पड़ता है। अतः मेरी दृष्टि में स्वामी जी का विभाजन अधिक वैज्ञानिक है।

डिंगल साहित्य का विकास

वैसे तो इसने डिंगल भाषा के विकास का प्रारम्भ काल [illegible] उसका आरम्भ सन् ११२ ई० से माना है किन्तु उस समय की प्रामाणिक कृति अभी तक मिल नहीं पायी है। ग्यारहवीं शती के अन्त और बारहवीं शती के प्रारम्भ में भाषाओं में नवीनता के परिलक्षण प्रकट हो गए थे [illegible] आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का स्वरूप प्रकट होने लगा था। उस समय से अब तक मारवाड़ी में उसके दोनों रूपों में यथा डिंगल और [illegible] री मारवाड़ी में साहित्य लिखा जाता रहा है। सुदीर्घ काल में इतने अधिक सामाजिक राजनैतिक धार्मिक और आर्थिक परिवर्तन हुए हैं कि इस युग को उथल-पुथल का युग कहा जा सकता है। इन सब परिवर्तनों का प्रभाव डिंगल साहित्य के उपादानों पर पड़ा था कि स्वाभाविक ही था। इस समय की विचारधारा और साहित्य प्रवाह को समझने के लिए तत्कालीन परिस्थितियों का ज्ञान लेना आवश्यक है।

राजनीतिक व्यवस्था

सातवीं शताब्दी के मध्य से बारहवीं शताब्दी तक का काल राजपूत काल कहा जाता है।[1] स्वतंत्र मुस्लिम शासन सिंध तथा मुल्तान में ८७१ ई० में पंजाब में ११८६ ई० में और शेष हिंदुस्तान में १२०६ ई० में आरम्भ हुआ। प्रारम्भिक मुस्लिम युग १२०६ ई० से १५२६ ई० तक युग [illegible] के बीजारोपण का समय था। प्रारम्भिक मुस्लिम आक्रमणकारियों को किसी शक्तिशाली भारतीय शासन का सामना नहीं करना पड़ा। उनके आक्रमणों को रोकने के लिए अशोक कनिष्क और हर्ष सरीखे शासक नहीं हुए थे।[2] सन् १५२६ ई० से सन् १७०७ ई० तक मुगलकाल[3] तथा सन् १७०७ ई० से सन् १८१८ ई० तक राजपूत-मराठा-संघर्ष-काल कहा जा सकता है।

राजपूतों के छत्तीस वंश माने गये हैं।[4] बारहवीं शताब्दी में मुसलमानों के आक्रमण के समय इन्हीं राजपूत राजवंशों के राज्य राजस्थान में फैले हुए थे। चौहानों का तो राज्य दिल्ली तक फैला हुआ था।[5] तेरहवीं शताब्दी में समूचे राजस्थान पर राजपूतों का अधिकार था। सिन्ध से मिले होने के कारण कभी कभी यहां मुसलमानों के हमले भी हो जाते थे। लेकिन फिर भी यहां उनका आधिपत्य

---

१ विंसेंट स्मिथ आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया– पृ० १७२
२ कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया– खंड ३ पृ० ५०६
३ रघुबीर सिंह पूर्व-आधुनिक राजस्थान पृ० २०
४ रघुबीर सिंह पूर्व आधुनिक राजस्थान–पृ० २१ २८ भूमिका
५ श्यामलदास वीर विनोद–भाग १–पृ० १–४
६ कविराव मोहनसिंह-पृथ्वीराज रासो –प्रस्तावना-पृ० ४

नहीं जम सका। यहाँ के राजपूत उन्हें लड़-झगड़ कर भगा देते थे। ११९२ ई० में शहाबुद्दीन गौरी से पृथ्वीराज चौहान को परास्त होना पड़ा। इसी समय से राजस्थान ही नहीं अपितु भारत के इतिहास में परिवर्तन आरंभ हो गया। शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज को अपनी आधीनता स्वीकार करा अजमेर की गद्दी पर बैठाया पर पृथ्वीराज के भाई हरराज ने अपने भतीजे से अजमेर छीन लिया। शहाबुद्दीन के बाद उसके गुलाम कुतुबुद्दीन ने दिल्ली को अपने अधिकार में कर लिया और उसे अपनी राजधानी बनाया। बाद में ११९२ ई० में कुतुबुद्दीन ने हरराज को हराकर अजमेर पर अपना अधिकार जमाया और वहां मुसलमान हाकिम नियुक्त किया[1]। उस समय अजमेर का राज्य काफी फैला हुआ था। अल्तमश ने जालौर साँभर, रणथंभोर और सवालक को विजय किया और वहाँ के राजाओं से अपनी आधीनता स्वीकार करा ली। उसने मेवाड़ पर चढ़ाई की किन्तु उसे सफलता न मिल सकी।[2]

अलाउद्दीन खिलजी ने १३०० ई० में रणथंभोर के राजा हम्मीर चौहान को हरा कर किला अपने अधिकार में कर लिया। उसके तीन ही वर्ष बाद उसने चित्तौड़ से एक विकट युद्ध लड़कर विजय प्राप्त की और अपने पुत्र खिजर खां को वहां का अधिपति बनाया। यह वही युद्ध है जिसमें राणा लक्ष्मणसिंह मारे गये। राजपूतों ने केसरिया साका किया और राजपूत ललनाएँ जौहर की आग में जल मरीं। इसी कथानक को लेकर जायसी का पद्मावत बना है। परन्तु यह आधिपत्य बहुत कम समय तक टिक सका और १३७५ ई० में महाराणा हम्मीर ने वापिस चित्तौड़गढ़ जीत लिया। १३०८ ई० में अलाउद्दीन ने सिवाने का किला और १३६८ वि० सं० में जालौर जीत लिया। तुगलकों के समय में मुसलमानी राज्य कमजोर हो गया। यह देख राजपूत राजाओं ने अपने अपने राज्य वापिस जीत लिए। मेवाड़ के महाराणा क्षेत्रसिंह कुम्भा रायमल और सांगा ने मांडू के सुल्तान से या पहले दिल्ली के बादशाह के हाकिम से कई लड़ाइयाँ लड़ीं और उन्हें हराया। नागौर तथा गुजरात के सुल्तानों से भी अनेक युद्ध हुए।

इसके बाद लगभग दो सौ वर्ष तक राजपूत राजाओं के राज्यों पर कोई बाहरी आक्रमण नहीं हुए। वि० सं० १५८४ में महाराणा सांगा ने बाबर से मोर्चा लिया लेकिन वह खानवा के मैदान में हार गये[3]। बाबर के बाद शेरशाह ने राजस्थान पर आक्रमण किया। मारवाड़ नरेश राव मालदेव से लड़कर मुठभेड़ हुई, बड़ी कठिनाइयों और कूटनीति से शेरशाह सफलता पा सका[4] किन्तु यह अस्थाई रही।

---

१ जगदीश सिंह गहलोत राजपूताने का इतिहास–पृ० १०२

२ राजस्थान डिग्दर्शक–दूसरा अध्याय–इतिहास की रूपरेखा

३ रघुबीर सिंह पूर्व-आधुनिक राजस्थान—पृ० २०

४ जगदीश सिंह गहलोत मारवाड़ राज्य का इतिहास—पृ० [illegible]

शीघ्र ही मारवाड़ पुनः शेरशाह के हाथ से निकल गया। शेरशाह का चित्तौड़ का आक्रमण भी व्यर्थ रहा।

अकबर ने पिछले राजाओं की विजय और पराजय से एक अमूल्य पाठ पढ़ा। उसे यह पूर्ण विश्वास हो गया कि जब तक वह इस देश को अपना ही देश न समझेगा और राजपूतों को अपना सहायक न बना लेगा तब तक एक सुदृढ़ राज्य स्थापित न कर सकेगा। राजस्थान में उस समय कम ग्यारह राज्य थे यथा—उदयपुर डूंगरपुर बांसवाड़ा प्रतापगढ़ जोधपुर बीकानेर, आम्बेर बूंदी सिरोही करौली व जैसलमेर जिनमें मुख्य उदयपुर और जोधपुर के राज्य थे। आम्बेर का राज्य उस समय कोई शक्तिशाली राज्य नहीं था। यहां के राजा ने सर्वप्रथम अकबर की आधीनता स्वीकार की[1]। इसके बाद धीरे धीरे अन्य राजा भी अकबर की आधीनता में आ गए। बचा तो केवल मेवाड़। अतः अकबर ने मेवाड़-विजय की लालसा से १५६७ ई० में चढ़ाई की और भयंकर संघर्ष के बाद उसे चित्तौड़ पर विजय मिली। लेकिन वहां के महाराणा उदय सिंह ने अधीनता स्वीकार नहीं की। उदयसिंह की मृत्युके बाद राणाप्रताप मेवाड़ नरेश बने। अकबर का युद्ध राणा से भी चलता रहा। १५७६ ई० में हल्दीघाटी में घमासान युद्ध हुआ[2]। पराजित होने पर भी महाराणा प्रताप जननायक बन गए। उनकी वीरता ने उन्हें अमर कर दिया। चित्तौड़ ले लेने के बाद अकबर ने रणथंभोर भी जीत लिया।

सन् १६१४ ई में मेवाड़ के राणा अमरसिंह ने अकबर के पुत्र जहांगीर के अधीन रहने से इंकार कर दिया। इस पर शाहजादा खुर्रम ने राणा व उसके पुत्र को अपनी आधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया।

औरंगजेब ने अकबर की नीति को एकदम उलट दिया। जोधपुर के महाराजा जसवन्त सिंह के काबुल में देहावसान हो जाने पर १६७८ ई में उसने जोधपुर को अपने अधिकार में कर लिया तथा जसवन्तसिंह के नाबालिग पुत्र अजीतसिंह को हिरासत में रखा परंतु राठौड़ वीर दुर्गादास उसे औरंगजेब के चंगुल से छुड़ा लाया। उदयपुर के महाराणा राजसिंह ने मारवाड़ का पक्ष लिया। जयपुर का राजा मुगलोंके साथ रहा। सम्पूर्ण राजपूताना औरंगजेब से विरुद्ध खड़ा हुआ। अन्त में बादशाह ने उदयपुर के राणा के साथ संधि कर ली और जजिया उठा लेने का वचन दिया। इधर औरंगजेब की मृत्यु के बाद महाराजा अजीतसिंह ने जोधपुर पर वापिस अधिकार कर लिया।[1]

औरंगजेब की मृत्यु के बाद राजस्थान के लगभग सभी नरेश दिल्ली से स्वतंत्र हो गये। वि० सं० १७६१ में शाह आलम द्वितीय की कृपा से जसवन्त का

---

१ राहुल सांकृत्यायन अकबर—पृ० ७६

२ हरिभाऊ उपाध्याय—बाबूराव जोशी राजस्थान के ज्योतिस्तंभ—पृ० १६५

१ जगदीशसिंह गहलोत मारवाड़ राज्य का इतिहास—पृ० १५९

राज्य स्थापित हुआ।[1] इस मरसे में मरहठों का बल बढ़ने लगा और उन्होंने आपसी कलह और फूट का लाभ उठाकर राजस्थान में भी अपने पैर फैलाने शुरू किए। उन्होंने यहां के राजाओं से खिराज वसूल किया और प्रजा को भी लूटा। अन्त में जोधपुर जयपुर और बीकानेर के राजाओं ने मिलकर मरहठों से मुक्ति पाने की योजना बनाई। इस कार्य में और भी कई राज्य शामिल हुए। जयपुर स ४३ मील दूर गांव तुंगा में सन् १७८७ ई० को राजपूतों और सिंधिया में भयंकर युद्ध हुआ। इस युद्ध में सिंधिया को पराजित होना पड़ा। किन्तु राजपूतों का यह संगठन अधिक दिन टिक नहीं सका क्योंकि कछवाहों और राठौड़ों में फूट पड़ गई थी।[2]

लार्ड वेलेजली के समय में जनरल लेक ने सिंधिया की शक्ति को निर्बल कर दिया।[3] सन १९०४ ई म जसवन्तराव होल्कर ने जयपुर नरेश महाराजा जगतसिंह को आ दबाया किन्तु अंग्रेजी सेना ने उसे कोटा से खदेड़ दिया। बाद में लार्ड लेक ने होल्कर और भरतपुर के राजा दोनों को सन् १८०४ ई० में डीग की लड़ाई में परास्त कर दिया। डीग पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। भरतपुर के किले को जीतने के अंग्रेजों द्वारा बार बार असफल प्रयत्न किये गये और अन्त में दीर्घकाल के लिये घेरा डाल दिया गया। तीन माह के घेरे के बाद राजा ने संधि कर ली। अन्त में होल्कर को भी अंग्रेजों से संधि करनी पड़ी। इस पर राजपूताना का जितना हिस्सा उसने दबा लिया था वह वहां के राजाओं को वापिस मिल गया।

अब उदयपुर की राजकुमारी कृष्णकुमारी के विवाह के लिए जयपुर तथा जोधपुर के बीच लड़ाई ठन गई तो वहां के नरेशों ने मराठों की सहायता लेनी चाही पिंडारी नेता अमीर खां की मांग पर कृष्णकुमारी को विषपान करना पड़ा तब कहीं जाकर शान्ति हुई।

सिंधिया ने वि० सं० १८७५ की श्रावण बदी ११ को अजमेर अंग्रेजों को सौंप दिया। इसके बाद धीरे-धीरे राजपूताने की सभी रियासतों से अंग्रेजों की संधियां हो गई। इसके बाद अंग्रेज सरकार ने धीरे-धीरे राजपूताने के राजाओं को निर्बल बनाने की नीति अख्तियार की तथा उन्हें विभाजित रखकर भारत मे अपना साम्राज्य मजबूत करने का साधन बनाया। आपसी लड़ाई झगड़ों से मायस्त होकर राजा लोग अत्यधिक विलासी हो गये।

हमने ऊपर संक्षेप में प्रमुख और महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया है। यह समूचा काल ही घोर उथल-पुथल का युग था। समाज में कोई आदर्श नहीं थे। बेटा राज्य के लिए अपने बाप की हत्या कर सकता था।[5] भाई अपने भाई के विरुद्ध

---

१ जगदीशसिंह गहलोत राजपूताने का इतिहास-पृ २११

२ राजस्थान दिग्दर्शक-दूसरा अध्याय-इतिहास की रूपरेखा

३ ईश्वरीप्रसाद भारतवर्ष का इतिहास-भाग २-पृ १२०

४ विश्वेश्वरनाथ रेऊ राष्ट्रकूटों का इतिहास-भाग १-पृ० ४०१

५ कन्हैयालाल सहल राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान-पृ० ७६

लुटेरों को आमंत्रित कर सकता था। परस्पर ईर्ष्या, मनमुटाव और प्रतिष्ठा की झूठी मान्यताओं ने समूचे समाज को जर्जरित कर डाला था। भयंकर अराजकता और निरंतर उलटफेरों के कारण सरदारों के साथ राजाओं की स्थिति भी सदैव ही डावां डोल ही रहती थी। परिस्थिति-जन्य इस चिन्ता पूर्ण आकुलता को भुलाने के लिए ही राजा और रंक सब ही समान रूप से ऐश्वर्य-विलास की ओर अनायास आकर्षित होते थे।

सामाजिक अवस्था

भौतिक जीवन के इन कठोर सत्यों को भुलाने के लिए नित्य नए उत्सवों का आयोजन होता था। आडंबरपूर्ण जलसों की तड़क भड़क देख पड़ती थी और नाच गान राग रंग और ऐश्वर्य विलास का समां बांधने का निरन्तर प्रयत्न होता था। नैतिक अनाचार बढ़ता जाता था। कभी न समाप्त होने वाले गृह-युद्धों के साथ ही यह असीम व्यभिचार का भी युग था। प्रजा का बुरा हाल था। उसका हर प्रकार से शोषण किया जाता था। शराब पीकर भोग विलास में पड़े रहना और प्रजा को चूसना ही ज्यादातर जागीरदारों का रोजाना जीवन कहा जा सकता था। सामन्तशाही के अंग होने कारण दूसरी योग्यताएं न होने पर भी रियासत की हुकूमत में इनका काफी हाथ रहता था।[1] उनकी निरंकुशता अमानवीय सीमा तक पहुंच जाती थी।[3]

धार्मिक अवस्था

राजस्थान न केवल सांसारिक प्रेमियों और ऐश्वर्यकामी वीरों का क्रीड़ास्थल रहा है वरन् वह मुक्तिकामी और आध्यात्मिक प्रेमियों का कर्मक्षेत्र भी रहा है। बहुत प्राचीन समय से—सिद्धों के समय से तो निश्चित रूप से राजस्थान आध्यात्मिक हलचल का केन्द्र रहा है। सिद्धों की साधना के कुछ विशिष्ट केन्द्र देश के विभिन्न भागों में थे जिन्हें सिद्धपीठ कहा गया है। एक परम्परा के अनुसार जालंधर [illegible] अर्बुद और पूर्णगिरि सिद्धपीठ माने गये हैं।[4] अर्बुद राजस्थान का आबू ही है। राजस्थान की सामान्य जनता पर सिद्धों नाथों और सन्तों का समुचित प्रभाव रहा है विशेषकर के गोरखनाथ का। गोरखनाथ अपने युग के सबसे महान् धर्मनेता थे। उनकी संगठन शक्ति अपूर्व थी। उनका ज्ञान केवल बुद्धि विलास नहीं है वह साधना का विषय है। दीर्घ अभ्यास के बाद उसे प्राप्त किया जाता है।[5] बाबाचार से लेकर गुरु मंत्रमन का किसी न किसी रूप में जनता में प्रचार रहा है। अतः बार सिद्धों और नाथों के विश्वासों तंत्र-विद्या और जीवन-दर्शन का मेल भक्ति

---

१ रघुवीरसिंह पूर्व-आधुनिक राजस्थान—पृ० २५२
२ रामनारायण चौधरी वर्तमान राजस्थान—पृ०
३ वीर-मारवाड़ी अंक-विशेषांक
४ धर्मवीर भारती। सिद्ध साहित्य—पृ० ६१
५ बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन—पृ० ५०८

की भावनाओं और सहमत की निश्चल निष्ठा के साथ हो गया है, जिसकी विचित्रता अध्येता के लिए जटिल पहेली बन जाती है।[1] यही नहीं अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों अथवा अर्द्धऐतिहासिक घटनाओं को लेकर लोक में निर्झरी आख्यान और सिद्धियाँ प्रचलित हो गई हैं। ऐसे व्यक्तियों में पाबूजी रामदेवजी, हड़बूजी, गोगोजी, जांभाजी तेजाजी मेहाजी, जसनाथजी, मल्लिनाथजी आदि बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय हैं।[2] इन सबका काफी प्रभाव राजस्थानी के लोक-साहित्य पर पड़ा। यह बात अवश्य है कि प्रकारान्तर से इनके यश और महिमा ने डिंगल साहित्य को भी किंचित् प्रभावित किया।

राजस्थान में अनेक सम्प्रदाय पनपे जिनमें से मुख्य हैं—दादूपंथ, जसनाथी सम्प्रदाय, लालदासी पंथ, निरंजनी पंथ, रामसनेही पंथ, नाथपंथ, कबीर पंथ आदि। इन सभी सम्प्रदायों का अपना साहित्य है, किन्तु डिंगल रचनाओं पर इनका सीधा असर नहीं पड़ा जैसा कि आगे चलकर बताया गया है। अतः इस स्थान पर इस प्रकार के साहित्य और इन सम्प्रदायों के विस्तृत विवेचन की कतई आवश्यकता नहीं है।

अब हम इस बात को जानने की कोशिश करेंगे कि किन कारणों से डिंगल कविता में परम्परा और रूढ़िवादिता का बोलबाला हो गया एवं कला के सभी क्षेत्रों में राजस्थान में संकीर्णता आ गई। हम देख ही चुके हैं कि मध्यकाल में राजस्थान का क्षेत्र सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्धिशाली था। उस समय यहाँ जैन व जैनेतर विद्वानों द्वारा विपुल परिमाण में साहित्य रचा जा रहा था। उसमें ताजगी भी थी, परम्परा-निर्वाह भी था और था जीवन से लगाव। जब मुगलों से राजस्थान का विभिन्न रूपों में सम्पर्क बढ़ा उसका प्रभाव यहां के साहित्य पर, कला पर और स्थापत्य पर पड़ा जो कि स्वाभाविक ही था। जिस समय मेवाड़-मुगल संघर्ष चल रहा था, राजस्थान के अन्य हिस्सों में बहुत कुछ शान्ति थी। फलस्वरूप यहाँ नव जीवन के अंकुर फूटने लगे। राजस्थानी साहित्य के इतिहास में यह युग बहुत ही महत्वपूर्ण है। बीकानेर के शासक रायसिंह के छोटे भाई पृथ्वीराज ने इसी काल में 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' जैसे सर्वोत्कृष्ट काव्य की रचना की थी। राजस्थान के उस अमर जन्म-सिद्ध कवि आढ़ा दुरसा की वह ओजपूर्ण वाणी तथा उसकी वे भाव पूर्ण मर्मभेदी कृतियाँ इसी काल में प्रथम बार गूंज पड़ी। राणा प्रताप के स्वातन्त्र्य प्रेम तथा उसकी उस अनुकरणीय दृढ़ता को लेकर इन दोनों ही कवियों ने कई एक अमर छन्दों की रचना की।[3]

मुगल सल्तनत से संधि हो जाने के बाद सब ओर अपेक्षाकृत शांति छा गई। इसी काल में डूंगरपुर में[4] श्रीगोवर्द्धननाथ के विशाल मन्दिर का निर्माण हुआ।

१—गोवर्द्धन शर्मा—राजस्थान का संत-साहित्य—राष्ट्रभाषा—व० १० अं०४

२—गोवर्द्धन शर्मा राजस्थानी कवि खंड २—भूमिका पृ० १६—पृ० ८

३—रघुबीर सिंह पूर्व-आधुनिक राजस्थान—पृ० ९०

४—ओझा डूंगरपुर राज्य का इतिहास—पृ० ११७

आम्बेर, जोधपुर, बीकानेर और उदयपुर के नरेशों ने कई एक नये प्रासादों का निर्माण कर राजस्थान की स्थापत्य कला में सम्मिलित राजपूत मुगल शैली के विकास में पूर्ण सहयोग दिया[1]

राजस्थानी चित्र-शैलियों के विकास के इतिहास में यह शांति-समृद्धि काल बहुत ही महत्वपूर्ण है। मुगल दरबार के निरन्तर सहवास के कारण राजस्थान के राजाओं, उनके सामन्तों तथा उच्च पदाधिकारियों की वेश भूषा में होने वाले परिवर्तनों, मुगल स्थापत्य कला की नई शैली, तथा चित्रों के संयटन की कल्पना, आदि पर पड़ने वाले नये प्रभावों का प्रतिबिंब समकालीन राजस्थानी शैली के चित्रों में भी देख पड़ने लगा।[2]

मुगलसत्ता के पतन के साथ ही मराठों के निरन्तर आक्रमणों ने राजस्थान में अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर दी। भोग विलास की प्रवृत्ति निकृष्टतम सीमा पर आ पहुँची इसे हम पीछे देख ही चुके हैं। विवरण के लिए देखिये–इसी अध्याय का प्रारंभिक अंश। राजस्थान के राज्यों और वहाँ के समाज के इस भयंकर पतन का सर्वव्यापी प्रभाव वहाँ के साहित्य और कला में भी व्यक्त होने लगा। साहित्य साधना मानों राजस्थान से अन्तर्हित हो रही थी। कविता राजदरबार के मनोविनोद एवं सतों के विचार प्रदर्शन की ही वस्तु रह गई थी। शृंगार रस का ही प्राधान्य था कहीं-कहीं शान्त और भक्ति रस की भी चर्चा होती थी। संक्षिप्त स्फुट काव्य की रचना करना ही कवियों का प्रधान आदर्श रह गया था। इन दिनों (१७११ से १७९२ ई०) राजस्थान में किसी भी महत्वपूर्ण स्थायी साहित्य की सृष्टि नहीं हो पाई। राजस्थान की आत्मा ही मूर्च्छित एवं निश्चेष्ट हो गई थी। उसकी यह जड़ता राजस्थान की कला को भी धीरे-धीरे अदृष्टकल्पना गतिहीन भावुकता-रहित एवं नियमबद्ध बना रही थी। कलाकारों का दृष्टिकोण निरन्तर संकीर्ण एवं उनके चित्रों के विषयों की संख्या सीमित होती जा रही थी।[3]

अंग्रेजों से सम्पर्क स्थापने पर दो प्रतिक्रियायें स्पष्ट हुईं। पहली तो यह है कि इस विदेशी शक्ति के सामने राजा लोग हीन-भावना अनुभव करने लग गये थे, फलस्वरूप वे अपने पूर्वजों के कृत्यों पर अभिमान करने लगे। प्राय सभी राज्यों के शासकों ने अपने अपने राज्यों के इतिहास अपनी ओर से तैयार करवाए और उन्हें प्रकाशित करवाया। टाडकी प्रशंसा ने तो सारी राजपूत जाति को मुगालतेमें डाल दिया।[4] फलस्वरूप राजपूत नरेश अपने पूर्वजों की महत्ता के आधार पर अपना व्यक्तिगत महत्व आंकने लगे। अपने अयोग्य कृपापात्रों से घिरे हुए नरेश असहाय और विवशता से ऐश्वर्य विलास में डूबे अपनी पराधीनता के कठोर सत्य को भूलकर

१–वही–पृ० १०९
२–वही–पृ० ११०
३–वही–पृ० २१६
४–वही–पृ० २८३

उनकी राजनैतिक श्रेष्ठता तथा गौरव का ढोंग रचने वाले ऊपरी दिखावे को ही पूरा महत्व दे रहे थे।

दूसरी प्रतिक्रिया जनता में हुई। जनता में धनै धनै पश्चिमी प्रभाव के कारण नई चेतना उत्पन्न होने लगी। अंग्रेजों के आधिपत्य ने जनता के हृदय में अपने नरेशों के प्रति अगाध विश्वास को जड़ से हिला दिया था। नरेशों के बढ़ते हुए अत्याचारों और सरदारों के निरन्तर विद्रोहों ने प्रजा के लिए कई एक नई समस्यायें पैदा कर दी थीं। समुचित नेताओं के अभाव में जनता किंकर्तव्य विमूढ़ हो गयी थी। अपनी विवशता का अनुभव कर उसके जीवन में असीम असीम निराशा घर कर गई।[1]

इन दोनों प्रतिक्रियाओं का प्रभाव राजस्थान के साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक ही था। सारा प्रान्तीय जीवन ही उथल-पुथल हो रहा था और प्रत्येक बात का सापेक्षित महत्व बदल रहा था। वंश-परंपरागत राजपूती वीरता और सैनिक क्षमता निरर्थक सिद्ध हो चुकी थी। साहित्य के क्षेत्र में सबसे प्रमुख व्यक्तित्व महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण का था। पाण्डित्य से पूर्ण इस महाकवि की कविता सर्व साधारण की वस्तु नहीं बन सकी, और उसके अनुयायी कवियों ने उसकी भावना और अनुभूति को भुलाकर उसके पाण्डित्यपूर्ण शब्द कौशल तथा वागाडंबर को ही अपनाने का प्रयत्न किया। इससे बाद की डिंगल कविता निष्प्राण हो गई। उसका जीवन से सम्बन्ध बिल्कुल ही टूट गया। इधर सामन्तों में खोखलेपन के बढ़ने के साथ ही कवियों का आदर घटने लगा। उधर डिंगल कविता जनता से दूर हो चुकी थी। उसका विकास अवरुद्धसा हो गया। इसी से महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण को 'लास्ट आफ दी बार्ड्स्' कहकर पुकारा गया है।[2] डिंगल काव्य सूर्यमल्ल के अस्त होते ही छिप गया। अस्तु।

४ डिंगल साहित्य का अध्ययन

अब हम डिंगल की प्रमुख रचनाओं का परिचय प्राप्त करेंगे। चूंकि हमारे अध्ययन का आधार काव्यरूपों का विकास है, अतः हम डिंगल कविता के विकास को इसी आधार पर समझने की कोशिश करेंगे। अतः उपलब्ध साहित्य का विवेचन निम्न तीन खण्डों में अन्तर्भुक्त किया जायेगा।

(१) डिंगल प्रबंध काव्य।
 (अ) प्राचीन राजस्थानी या मारवाड़ी
 (ब) परिमार्जित डिंगल
(२) डिंगल मुक्तक काव्य।
 (अ) डिंगल वीर गीत।

१—रघुबीर सिंह पूर्व आधुनिक राजस्थान पृ० २८४
२—वीर सतसई—सुनिति कुमार चाटुर्ज्या का प्राक्कथन—पृ० १

(ख) दोहे छप्पय, सोरठे, कुण्डलियाँ, झमाल आदि पर।

(१) डिंगल लिखित रचनाएं।

डिंगल की प्रारंभिक रचनाओं को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। बात यह है। बारबार के आक्रमणों से, परस्पर की मारकाट से अथवा अधिकारियों की उपेक्षा से डिंगल का विपुल साहित्य नष्ट हो गया है। उपलब्ध रचनाओं की प्रतिलिपियाँ पीछे की मिलती हैं और प्रक्षिप्त एवं प्रामाणिक तथ्यों के अभाव में अनुश्रुतियों को प्रश्रय मिलता रहा है।

राजनैतिक परिस्थितियों में अंकुरित, पोषित एवं संवर्धित होने के कारण डिंगल कविता का कलेवर प्रधानतया वीर रसात्मक है। यदि यह कहा जाय कि डिंगल भाषा का वीर-साहित्य विश्वसाहित्य के लिए एक अपूर्व उपहार है तो अत्युक्ति न होगी। वीर रस के अन्तर्गत मान्य युद्ध दान दया और धर्म चारों प्रकार के वीरों के सजीव, स्वाभाविक तथा सांगोपांग चित्र काव्यकारों ने अंकित किये हैं। इस दिशा में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त होने के कारण वीरोचित हृदयों का प्रत्यक्ष दर्शन एवं स्वानुभूति है।[1] रवीन्द्र नाथ ठाकुर के कथनानुसार वीरता का भाव जो कि राजस्थानी के प्रत्येक दोहे तथा गीत का सार है स्वयमेव ऐसा अनूठा एवं अलौकिक है कि इसके लिए सम्पूर्ण राष्ट्र को गर्व हो सकता है। युद्ध तथा युद्धस्थल का यथावत् वातावरण रण के विरोधी प्रतिद्वंदियों के शौर्य पराक्रम औदार्य और आतंक, सेनानियों की बहुलता तथा अस्त्र-शस्त्रों की प्रचुरता के वर्णन यद्यपि अत्युक्तियों एवं अतिशयोक्तियों से अनुरंजित और अनुप्राणित है तथापि प्रभावशाली मनोमुग्धकर एवं अनुपम है। वीर नर नारियों का मनोविश्लेषण वास्तविक तथा मार्मिक है। विशेष तथा पद्मिनी कर्मावती, जवाहर बाई कृष्णाकुमारी आदि वीरांगनाओं के साहस, वीरता तथा जौहर। सतीत्व के रक्षार्थ जीवित अग्नि प्रवेश कर मृत्यु का वरण सृष्टि के इतिहास में आश्चर्यजनक घटनायें हैं।[2]

विद्वानों ने राजस्थान के वीर साहित्य की भूरि भूरि प्रशंसा की है। डाक्टर एल० पी० टेसीटरी के अनुसार यह वृहद् साहित्य समस्त राजपूताना तथा गुजरात में जहाँ जहाँ कहीं भी राजपूत ने अपनी भूमि के विजय के हेतु रक्त का बलिदान किया पल्लवित तथा पुष्पित हुआ।[3] डा० सुनीति कुमार चटर्जी का मत है कि राजस्थानी साहित्य वीररस से ओतप्रोत जीवन और वीर की संज्ञा प्रवाह स्वरूप मृत्यु का संदेश है। ये राजस्थान के गीत थे जिनमें कि अथक शक्ति एवं अविजित लौह-युक्त साहस का फेनिल स्रोत प्रवाहित होता था और जिन्होंने कि राजपूत योद्धा को व्यक्तिगत सुख तथा आकर्षण को विस्मृत कराकर सत्यं शिवं सुन्दरम् के लिए लड़ने को बाध्य किया।[4]

१–डा० जगदीश श्रीवास्तव डिंगल साहित्य–पृ० १९

२–मोती लाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० २७

३–रामदेव चोखानी : राजस्थानी साहित्य का महत्व पृ०–१८

४–वही –पृ० १९

दीवान हरिविलास सारडाने राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (भाग १) के प्राक्कथन में लिखा है कि यह केवल राजपूत ही नहीं वरन् समग्र ११ जातियों के लोग थे जो कि राजस्थान के वीरों के वीरतापूर्ण कृत्यों के गान को सुनकर युद्ध करने के लिए कटिबद्ध हो जाते थे। इसी कारण राजस्थान को वीर भूमि (लैण्ड आफ वीवर्री) की संज्ञा प्रदान की गई है।[1]

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि राजस्थानी साहित्य मे वीर रस के प्राधान्य ने विशेष कर साहित्य के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। फलस्वरूप राजस्थान की भाषा डिंगल को अधिकांश साहित्यकारों ने केवल वीर रस के लिये ही उपयुक्त समझा जो कि वस्तुतः एक भ्रम है।[2]

डिंगल में रीतिग्रंथ, भक्तिकाव्य तथा इस प्रकार की रचनायें भी उपलब्ध होती हैं जिन पर आगे चल कर विस्तृत विचार किया जायेगा। इसी तरह डिंगल गद्य की रचनाओं को चौथे खण्ड में आलोचित किया जायेगा।

सबसे पहले हम शुद्ध डिंगल की प्रबंधात्मक रचनाओं को लेंगे।

(१) श्रीधर. रणमल्ल छन्द

राजस्थानी वीर काव्यों यथा पृथ्वीराज रासो खुमाण रासो हम्मीर रासो, आदि की प्रामाणिकता और रचना काल को लेकर विद्वानों में पिछले काफी समय से मतभेद है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो इनमें से अनेक काव्य ग्रंथों की छान-परीक्षा भी की जा चुकी है और उनमें से अधिकांश को अनैतिहासिक भी ठहराया जा चुका है। काव्य से इतिहास की अपेक्षा करने में और क्या मिलेगा? काव्य और इतिहास दोनों के तत्व, आधारशिला और क्षेत्र भिन्न हैं, दोनों के दायित्वों का भी रूप भिन्न है किन्तु ऐतिहासिक काव्य से हम इतिहास व काव्य दोनों के दायित्वों का समान निर्वाह करने का पूर्वाग्रह रखते हैं। बहुधा ऐतिहासिक काव्य हमारी निर्धारित रेखा से नीचे ही ठहरते हैं। उनमें इतिहासतत्व व काव्यतत्व दोनों का सम्यक निर्वाह नहीं हो पाता है किंतु श्रीधर व्यास द्वारा निर्मित 'रणमल्ल छन्द' नामक रचना एक अपवाद है। इस छोटे से वीर गाथात्मक काव्य में जहाँ इतिहास की पूरी रक्षा हुई है। वहाँ कुछ स्थानों पर हमें बड़ी सशक्त अभिव्यक्ति भी मिलती है।

श्रीधर के जीवन के सम्बन्ध में हमारी जानकारी बहुत सीमित है। हमें उसकी जन्मभूमि जन्मतिथि और बचपन के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती है। उनकी तीन रचनायें मानी जाती हैं—(१) रणमल्ल छन्द (२) सप्तसती अथवा साहित्यिक छन्द (३) कवित्त भागवत। इन तीनों कृतियों में इस विषय की कोई जानकारी नहीं दी गई है। अन्तर्साक्ष्य अथवा बहिर्साक्ष्य के आधार पर केवल यही

१–हरिविलास सारडा : राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज भाग १ भूमिका पृ० २

२–जगदीश श्रीवास्तव डिंगल साहित्य–पृ० २०

३–मोवर्द्धन शर्मा राजस्थानी कवि भाग १ पृ० ४१ से ५२ पर प्रकाशित

कहा जा सकता है कि श्रीधर वि० सं० १४५४ में विद्यमान था। वह ईडर के राठौड़ नरेश रणमल्ल का राज्याश्रित कवि था और उस समय ईडर में ही रहता था। रणमल्ल छन्द में प्रारम्भ में रची गई ११ आर्यायें उसे अच्छा संस्कृतज्ञ सिद्ध करती हैं। अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी उसकी कविता में हुआ है और ठीक तरीके पर हुआ है। यह सब उसकी अच्छी शिक्षा का द्योतक है। उसकी जाति का उल्लेख 'व्यास' वह के विद्वानों ने किया है।[1] किन्तु उसकी अप्रकाशित रचना 'कवित्त भागवत' में भागवत की कथा के स्थान पर देवी की स्तुति है। शायद उसका मूल नाम 'कवित्त भगवती रहा' हो। यदि ऐसा हो तो वह देवी का उपासक ठहरता है। उसने अपनी तीनों रचनाओं में मात्रिक छन्दों का प्रयोग भी अधिकतर किया है और उनका लोक कवि प्रिय छन्द अपनाये हैं। इसकी कृति 'रणमल्ल छन्द' का उल्लेख उदयसिंह भटनागर ने युद्ध डिंगल व फारसी साहित्य की परम्परा में किया है[2]। 'रणमल्ल छंद' सत्तर छन्दों का वीर काव्य है जिसमें पाटण के सूबेदार जफर खां (बाद में मुजफ्फर शाह) और ईडर के राठौड़ नरेश रणमल्ल के युद्ध का सजीव वर्णन है। इस युद्ध में रणमल्ल ने अपने शत्रु पर विजय पाई थी। गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान के० ह० ध्रुव की मान्यता है कि यह युद्ध ई० सन् ११६७ में हुआ था।[3] किन्तु के० का० शास्त्री का इससे मत-भेद है।[4]

रणमल्ल छन्द एक छोटा काव्यग्रंथ है किन्तु बड़ा ही ओजपूर्ण है। श्रीधर का भाषा पर पर्याप्त अधिकार जान पड़ता है। वर्णन प्राचीन परम्परा के मार्गों को लेकर चलते हैं फिर भी बहुत सजीव हैं। कवि नाद-सौन्दर्य का चतुर नियामक है और अपनी कविता में ऐसी शब्द योजना रखता है जो ध्वनि की दृष्टि से वीर रस के प्रसंग के उपयुक्त होती है। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने कवि पर आरोप लगाया है कि उसकी भाषा में अनेक बार नाद-सौन्दर्य को लाने के हित में कई शब्दों इतना अधिक बदल दिया गया है कि वे पहिचाने भी नहीं जाते।[5] किन्तु मेरी धारणा है ऐसी मान्यता भ्रान्ति पर आधारित है। एक उदाहरण मेरी धारणा को स्पष्ट कर देगा। राजस्थानी साहित्य के क्षेत्र में डा० मोतीलाल मेनारिया का योगदान महत्व का रहा है किन्तु वे भी ऐसे भ्रम से अपने को बचा नहीं पाये हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'डिंगल में वीर रस' में लिखा है—एक बात जो डिंगल के सभी सभी कवियों में समान रूप से पाई जाती है वह है शब्दों की मनमाने ढंग से तोड़ मरोड़।[6] एक ही शब्द को इस बुरी तरह तोड़ा है कि आज तो उसके मूल रूप को पहचानने में भी भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। आगे चलकर उन्होंने शब्दों के ऐसे

१—के० का० शास्त्री कविचरित—पृ० २१

२—हिन्दी अनुशीलन—वर्ष ७, अंक १, पृ० ९९

३—के० ह० ध्रुव प्राचीन गुर्जर काव्य—प्रस्तावना—पृ० १

४—के० का० शास्त्री आपणा कविओ—भा० १, पृ० २९९

५—के० एम० मुन्शी गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर—पृ० ११०

अनेक उदाहरण दिये हैं।[1] जैसे शुद्ध रूप 'युधिष्ठिर' का डिंगल कवियों द्वारा प्रयुक्त 'जुजठिल' यहाँ इस प्रसंग में अधिक कहना प्रसंग से बाहर की बात होगी, किन्तु उदाहरण में दिये गये सभी शब्द उत्तरकालीन अपभ्रंश (अवहट्ट) में मिलते हैं, किन्तु प्राकृत-अपभ्रंश के प्रख्यात और महाकवि चतुर्भुज स्वयंभू ने स्वयं 'जुहिट्ठल' शब्द का प्रयोग किया है। केवल यह उदाहरण ही पर्याप्त होगा। इसी प्रकार अन्य शब्दों का मूल उत्स भी ढूंढा जा सकता है। मेरी नम्र सम्मति के अनुसार भाषा सरस और नियमानुकूल है। हमें ऐसे प्राचीन ग्रंथों की भाषा का अध्ययन करते हुए उनके वास्त विक समय को ध्यान में रखना होगा। 'रणमल्ल छन्द' की भाषा 'अवहट्ट' से विकास मान देश्य भाषा है। व्यंजना की दृष्टि से कहीं कहीं कविता बड़ी सुन्दर बन पड़ी है—यथा—

मुझ सिर कमल मेच्छराय लग्गइ,
तु गयणंगणि भाण न उग्गइ।
जां अम्बर पुहतलि तरणि रमइ,
तां कमधज कन्ध न धगइ नमइ।
भीर बड़वानल तन खास धमइ
पुण मेच्छ न आपूं चास किमइ।

(यदि मेरा सिर कमल म्लेच्छ के चरणों में झुक जाय, तो गगन में सूर्य नहीं उगे। जब तक आकाश में सूर्य उगता है, तब तक कमधज (राठौड़ रणमल्ल) तुर्क को सिर नहीं झुका सकता। चाहे समुद्र जल से बड़वाग्नि भी बुझ जाय किन्तु मैं म्लेच्छ को एक इंच धरती नहीं लेने दूंगा।)

युद्धवर्णन परम्परागत होने पर भी अनेक स्थलों पर कवि की प्रतिभा और वाग्विदग्धता का परिचायक है—जैसे —

साहस बसि सरतोणरस संमुहरि जिम चमकंत।
तिम रणमल्लह-रोस-बसि मुछ-सिहरि फुरकन्त॥

(जैसे ही सुल्तान की सेना पूरब से उत्तेजित होने लगी त्यों ही क्रोध के मारे रणमल्ल की मूंछें फरकने लगी।)

श्रीधर में काव्य प्रतिभा की और पर्याप्त गहराई थी। यह उसकी रचनाओं से स्पष्ट ज्ञात पड़ता है। अन्य वीर रस के कवियों की भांति वह एकांगी नहीं थी, न अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में उसने अतिशयोक्ति से ही अधिक काम लिया है। सारा काव्य प्रासंगिक और सौष्ठव पूर्ण अलंकारों से युक्त है। यह रचना इतिहास, काव्य छन्दशास्त्र और भाषा चारों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। कवि की शेष दोनों रचनायें भी भाषा की दृष्टि से तो अधिक नहीं पर सामग्री की दृष्टि से थोड़ा अन्तर रखती है। कवि विनयी या गम्भीर था यह सप्तशती से स्पष्टतः ज्ञात पड़ता है। यह काव्य १२० पद्यों का है और इसका आरम्भ संस्कृत में एक शार्दूल विक्रिडित

१—मोती लाल मेनारिया डिंगल में वीररस भूमिका—पृ० २१
२—म० चि० मोदी अपभ्रंश पाठावलि—पृ० १६

छन्द द्वारा किया गया है। उसके बाद ही कवि ने कहा है—

थीघर कवित्त कहइ मती मंदह।
पूर्वं छायो आर्या छंदह ॥

अपने को मतिमन्द कह कर पुकारना ही उसके विनमी होने का प्रमाण है। इसी प्रकार कवि ने 'कवित्त सप्तसती' में देवी की स्तुति की है, यह पहले कहा जा चुका है। इन तीनों रचनाओं में सबसे प्रमुख 'रणमल्ल छन्द' ही है जो ऐतिहासिक जानकारी के लिये महत्वपूर्ण है।[2]

(ब) बादर ढाढ़ी वीरमांण[1]

वीरमांणका रचयिता बादर या बहादुर जाति का मुसलमान ढाढ़ी था।[3] पण्डित रामकर्ण आसोपा ने इसके रचयिता का नाम रामचन्द्र लिखा है,[4] जो ठीक नहीं है। जगदीश सिंह गहलोत की मान्यता है कि कवि बादर जाति का ढोली था और वह वीरमजी के लश्कर में ऊंट के नगारे पर था। वह स्वयं सलखेरा के युद्ध में था और उसने उक्त युद्ध का विस्तृत वर्णन अपने ग्रंथ में किया है।[5] मोतीलाल मेनारिया इन्हें ढाढी मानते हैं[6] और राव वीरमजी का आश्रित ठहराते हैं।[7] कुछ भी हो वीरमांण का रचयिता निसंदेह ढाढी बादर था।[8]

इसके रचनाकाल को लेकर भी मतभेद है। और तो और मोतीलाल मेनारिया दो ग्रंथों में भिन्न रचना काल निर्धारित करते हैं। डिंगल में वीर रस में इन्होंने रचना काल संवत् १४४० के लगभग माना है।[9] दूसरी ओर राजस्थानी भाषा और साहित्य में वे लिखते हैं— परन्तु जैसा कि कुछ लोग मान बैठे हैं यह वीरमजी की समकालीन रचना नहीं है। कोई अठारहवीं शताब्दी के मध्य में यह रची गई है।[10] डा० सुकुमार सेन के मत का समर्थन करते हुए डा० हीरालाल माहेश्वरी इसे पन्द्रहवीं शती की रचना मानते हैं।[11] श्री नरोत्तम स्वामी भी इस काव्य की गणना चारण शैली की प्रारम्भिक रचनाओं-रणमल्ल छन्द तथा अचलदास खींचीरी वचनिका के साथ करके

१—सैयद अबुजफर नदवी रणमल्ल छन्द अने तेनो समय।
२—रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत वीरमांण
३—वही-भूमिका—पृ० १६
४—रामकर्ण आसोपा राजरूपक—भूमिका—पृ० २
५—जगदीश सिंह मारवाड़ राज्य का इतिहास—पृ १ ६
६—मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा—पृ २२
७—मोतीलाल मेनारिया डिंगल में वीररस—पृ० १७
८—गोवर्धन शर्मा बादर नामक लेख—अमर ज्योति—वर्ष १० अंक २
९—मोतीलाल मेनारिया डिंगल में वीररस—पृ० १७
१ —मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ १७०
११—डा० हीरालाल माहेश्वरी राजस्थानी साहित्य—पृ० ७५

इसी मत की पुष्टि करते हैं।[1] इसी रचना को बीरमाण, सिंढायची बीरमजीरी बीरमांण, सिढायची बीरमांणरी आदि नामों से भी पहिचाना जाता रहा है। अन्तर्साक्ष्य के आधार पर इसे संवत् १५०० के आस पास की रची हुई कृति माना जा सकता है। जैसे—ओझा जी के अनुसार बीरमदेव की मृत्यु संवत् १४४० हुई।[2] बीरवांण में रावबीरम के द्वितीय पुत्र राव चूंडा के साथ ईन्दों के मुखिया उगमसीकी पोती के विवाह और दायजे में मंडोवर दिये जाने का उल्लेख है—

उगमसी इन्दोतणं पोती परणावै।
मंडोवर में दी कर महर माता फरमावे ॥१०२॥

• • •

मुगता थोय हजारहूं चौरी बणवाया।
राज मण्डोवर चूंडनूं आणन्द बधवाया ॥१०६॥
मण्डोवर पर चूंडा का अधिकार संवत् १४५१ में हुआ था।[3]

इसी प्रकार गोगा का जोइयों के साथ युद्ध में आहत होने और जलन्धरनाथ द्वारा उसकी काया अमर बनाने तथा उसे बसवां सिद्ध मान कर अपने साथ लिया ले जाने का भी वर्णन है —

बध तोड़ण जोइयां बडा जिते कर समर।
कठीये पग गोम किया निज साथ नरेसुर॥
दरसण सिध आपै दियो माथे कर मैहर।
पाव उलटा सौंपीया आसपान तणीवर॥
इस अंबर गोगादे तो काया अमर।
हुय सिध बसमो हालीयो संग नाथ जलंधर॥१२६॥

जलंधर नाथ द्वारा गोगा को अमर करने का वर्णन अन्तिम गीत में है।

नाथ रांणक देव माटी सबसठो बर साथ।
कमध गोगो अमर कीयो नमो जलंधर नाथ॥
नवनाथकी नवनाथ नाथां ऊपरां नवनाथ। १।

रेउजी ने गोगा का जन्म संवत् १४१२ तथा स्वर्गवास संवत् १४६१ ई० में माना है।[4] अतः प्रतीत होता है कि संवत् १४६० के बाद ही किसी समय इसकी रचना हुई है पहले नहीं। अनुमान है कि इसकी रचना संवत् १५०० के आसपास हुई होगी जबकि गोगा जी के उल्टे पांव मुड़ने काया अमर होने और दसवें सिद्ध के रूप में जलंधरनाथ के साथ साथ चले जाने की किंवदन्ती लोक-जीवन में प्रचलित हो

१—नरोत्तमदास स्वामी राजस्थानी साहित्य-एक परिचय—पृ० २९
२—ओझा जोधपुर राज्य का इतिहास—भाग १ पृ० ११६
३—रेऊ मारवाड़ का इतिहास—भाग १—पृ० ६१ फुटनोट
४—विश्वेश्वरनाथ रेऊ मारवाड़ का इतिहास—प्रथम भाग पृ० ६६ ६७

गई थी।[1] काव्य में आई हुई निम्न पंक्तियों से भी यही ध्वनित होता है कि रचना के समय गोगाजी को हुए बहुत समय व्यतीत नहीं हुआ था—

घर बीरम तणे बाटी विगत जोय।
बीरा रहता गोगादेव हुता भलाई इण वार।।
इण वार श्री रणधार बांधी रण तणी रण धार।
कटे प्रतण दलो कल्पियो बीर हेतु बैर बैर।
बीरम तणो बापे बागडे इम बैर।।
इम बैर को इम बैर गोगे वागोयो इम बैर।।१।।

इसमें इतिहास की अत्यन्त मूल्यवान सामग्री सुरक्षित है। ओझा, रेउ तथा धामोरा प्रभृति विद्वानों के इतिहास ग्रन्थों से यह बात स्पष्ट है। इसमें राठौड़ सलखा जी और उनके ज्येष्ठ पुत्र मल्लिनाथ के वीरकृत्यों, राव बीरमजी का इतिहास और अन्त में इनके पुत्र गोगादेव का अपने पिता की मृत्यु का बदला लेते हुए, युद्ध में वीरगति को प्राप्त करना सविस्तार वर्णित है। भाषा ओज गुण-सम्पन्न वीररस की राजस्थानी है जिसमें उमड़ती हुई पहाड़ी नदी की सी गति पाई जाती है। चलचित्रों की भांति, एक के बाद एक घटनाएँ आती हैं और कवि उन सबका सरस वर्णन करता चलता है। सम्पूर्ण काव्य वीररस की फड़कती हुई रचना है। सबसे बड़ी बात यह है कि कवि अपने चरित नायक का यथातथ्य वर्णन करता है— उसके गुणों को कहीं अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं दिखाता। यही कारण है कि बीरम का विरोधी जोहिया दला काव्य में अन्त तक पाठक की सहानुभूति नहीं खोता, उसके जोइयों के विनाश पर दुःख ही होता है। दला की बीरम के प्रति कृतज्ञता, सहज मानवीय सहानुभूति और क्षत्रियोचित दया भावना इसके कारण हैं। कवि ने तीन विशिष्ट पात्रों की सृष्टि की है—बीरम, उसकी पत्नी मांगलियाणी और जोइया दला। राठौड़ मल्लीनाथ, बीरम, जगमाल और गोगा से सम्बन्धित विविध घटनाओं एवं उनके वीरकृत्यों की पृष्ठभूमि में तत्कालीन सामन्तीय एवं राजपूती समाज अपने समस्त वैभव तथा दुर्बलता के साथ उभर आया है। प्रतिशोध भावना, प्रतिज्ञा-पालन, आन-बान की टेक तथा भीषण युद्धों के झूले में झूलते हुए राजपूती जीवन का बड़ा अनूठा चित्र कवि ने उतारा है। शिवदास की तरह बीरमायण के कवि ने भी इतिहास के विस्मृतप्राय जीर्ण शीर्ण पन्नों की रक्षा की है। एक धुंधली किन्तु जीवन्त घटना की स्मृति मर्यादित रही है। कुछ चमत्कारपूर्ण बातों का भी समावेश किया गया है और सेना की संख्या आदि में अतिशयोक्ति हो सकती है किन्तु यह तो एक प्रकार से तत्कालीन काव्य प्रवृत्ति ही बन गई थी।

रानी मांगलियाणी का अपने पति बीरम को समझाना, उसको जोइयों के साथ युद्ध में जाते हुए रोकना और बीरम की गर्वोक्तियां काव्य सौन्दर्य और तत्कालीन राजपूत-मनोवृत्ति के स्पष्टीकरण की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर बन पड़ी हैं।

१—हीरालाल माहेश्वरी: राजस्थानी साहित्य—पृ० ७१

बात प्रतिघात के कारण कभी कथा घटना प्रधान और कभी वर्णन प्रधान होती हुई चरम सीमा तक पहुँचती है। वर्णन की त्वरा और घटना की तेजी एक दूसरे को ठेलते हुए गन्तव्य स्थान तक चलते हैं। काव्य के कुछ पदों ने तो आज कहावतों का सा रूप धारण कर लिया है, जिससे इसकी प्रसिद्धि का पता चलता है —

(क) पग पग नेजा पाडीया पग पग पाडी ढाल।
बीबी पूछे खान नैं, जोध किता जमजाल ?

(ख) गीदोली बाँधी गले जयमाल जमाई
जको न देवै जीवतो कुण मार लीराई

(ग) भुवा हीरसा आपरा, बाँधी जै घोड़ा
हसीया हुत न आवही मोता है थोड़ा। आदि।[1]

'वीरवाण' में ऐतिहासिक घटनाओं का यथा तथ्य निरूपण किया गया है। साथ ही मार्मिक प्रसंगों के अनुरूप भावनापूर्ण काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी हुई है। काव्य में वर्णित प्रमुख घटनायें निम्नलिखित हैं—

(१) जैतसिंह रो झगड़ो—जैतसिंह द्वारा गुजरात के परमारों पर आक्रमण कर राजधरा पर अधिकार करना।

(२) मालदेजी रो समो—अहमदाबाद के मुहम्मद बेगड़ा से युद्ध कर गींदोली का हरण करना। इसमें पाँच झगड़ों अर्थात् युद्धों का वर्णन है।

(३) वीरम जी और जोहियों का युद्ध जिसमें वीरमजी और जोहियों के सम्बन्ध युद्ध के कारण, युद्ध का वर्णन और युद्ध के परिणाम दिये गये हैं। इसी प्रसंग में दिल्ली बादशाह के अशर्फियों से लदे ऊँटों की राठोड़ों द्वारा हुई लूट और युद्ध का वर्णन भी किया गया है।

(४) वीरम जी के पुत्र चूण्डा द्वारा मंडोवर पर अधिकार करना।

(५) वीरमजी के एक पुत्र गोगादेव द्वारा जोहियों से युद्ध कर वीरम जी की मृत्यु का बदला लेने और वीरगति प्राप्त करने का वर्णन।

उपरोक्त पाँचों ही घटनायें इतिहास प्रसिद्ध हैं और सम्बन्धित ग्रंथों से प्रमाणित होती हैं। विरोधप्रमाणों के अभाव में इन घटनाओं को अनैतिहासिक नहीं ठहराया जा सकता।[2]

'वीरवाण' की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें कवि ने मुसलमान होते हुये भी धार्मिक उदारता का परिचय दिया है। जोहिया मुसलमानों की सहनशीलता का परिचय भी प्रस्तुत काव्य द्वारा प्राप्त होता है। जोहियों ने वास्तव में वीरम जी और उनके साथियों की हठधर्मीपूर्ण कामों और अपराधों से विवश हो कर ही युद्ध

१—हीरालाल माहेश्वरी राजस्थानी साहित्य—पृ० ७७
२—लक्ष्मी कुमारी चूंडावत वीरवाण—भूमिका—पृ० १२—१३

किया था। फिर वीरमजी की रानी मांगलियाणी ने जोहिया मुसलमानों को अपना राखीबन्ध भाई बनाया तो दोनों ही पक्षों ने अपने उक्त सम्बन्धों का निर्वाह किया। यहाँ तक कि बूढ़ा जी भी अपने मामा पर तलवार चलाने के लिए नहीं तैयार होते हैं और गोगादेव जी को वीरमजी का बदला लेने के लिए भेजते हैं।

'वीरवाण' में वीररस का उत्कृष्ट निरूपण हुआ है। वीरवाण वास्तव में वीररसप्रधान काव्य है और इसमें आलंबन, उद्दीपन, स्थाई एवं संचारी भावों का विस्तृत वर्णन हुआ है। युद्ध के कारण मध्ययुगीन परिस्थितियों के सर्वथा अनुरूप हैं जैसे स्त्रीहरण, मार्ग में आते हुए धन का लूटना, घोड़ों ऊँटों और गायों को घेरना धार्मिक भावनाओं पर आघात करना आदि। युद्ध का वर्णन तो कवि-कल्पना और ओज से ओतप्रोत हुआ है।

'वीरवाण' की तीसरी विशेषता कथावस्तु का सुसंगठित होना है। काव्य सम्बन्धी प्रत्येक घटना पिछली घटनाओं से जुड़ी है और वीरम जी तथा जोहियों के युद्ध में संघर्ष चरम सीमा पर पहुँचता है। संघर्ष का अन्त गोगादेव द्वारा जोहियों से बदला लेने से होता है और यहीं काव्य पूर्ण भी होता है। इस प्रकार काव्य की कथा वस्तु भी पूर्ण संगठित है।

'वीरवाण' की भाषा डिंगल है। वीरवाण की भाषा पूर्णरूपेण परिमार्जित नहीं होते हुए भी विषय के अनुरूप ओजपूर्ण है।[1]

(१) पद्मनाभ कान्हड़दे प्रबन्ध—[2]

रस की परम्परागत आवश्यकताओं के अतिरिक्त पद्मनाभ सदा यथार्थवादी रहा। समसामयिक अनेक कवियों में से पद्मनाभ ही एक मात्र ऐसा कवि है जिसने घटनाओं और चरित्रों का इतनी चतुराई से निर्माण किया है कि समस्त रचना 'कान्हड़दे प्रबन्ध' रुचिकर बन गया है। राजपूत एवं मुसलमान योद्धाओं का वर्णन वास्तविक और जीवन के अनुरूप है।[3] तत्कालीन समाज के चित्र, रसाभिव्यक्ति, वर्णन चातुर्य-प्रबन्धात्मकता और सामाजिक परिस्थितियों का यथातथ्य चित्रण संयमित कल्पना, उचित काव्य रूढ़ियों व परम्पराओं का पालन किन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का ध्यान आदि अनेक विशेषताओं के होने पर भी कवि पद्मनाभ हिन्दी विद्वानों द्वारा उचित सम्मान न पा सका।

पद्मनाभ की एक मात्र कृति 'कान्हड़दे प्रबन्ध' ही मिली है और उसके उद्धार का श्रेय भी प्रसिद्ध जर्मन विद्वान बूलर को ही है जिन्होंने इसे एक जैन भंडार से प्राप्त किया था। कवि के सम्बन्ध में अधिक जानकारी तो मिलती नहीं है किन्तु अन्तःसाक्ष्य के आधार पर निम्न बातें कही जा सकती हैं। पद्मनाभ विसलनगर का

---

१ लक्ष्मी कुमारी चूंडावत वीरवाण—भूमिका—पृ० १२

२—के० बी० व्यास कान्हड़दे प्रबन्ध

३—गोवर्द्धन शर्मा राजस्थानी कवि-भाग—१—पृ० ११

नागर ब्राह्मण था और जालौर (मारवाड़) के एक राजपूत सामन्त अखैराज चौहान का आश्रित था। उसने संवत् १५१२ में अपने श्रेष्ठ काव्यग्रंथ 'कान्हड़दे प्रबन्ध' की रचना की। राजस्थानी ही नहीं हिन्दी के भी प्रारम्भिक युग के ग्रन्थों में कदाचित् ही कोई ऐसा माना जा सकता है जिसकी रचना तिथि इतनी निश्चित हो। इसी प्रकार इस ग्रंथ का पाठ भी अपने मूल रूप में प्रायः सुरक्षित है और अपने युग की भाषा के अध्ययन के लिए एक दृढ़ आधार प्रस्तुत करता है।[1]

पद्मनाभ ने अपने आश्रयदाता अखैराज चौहान के पूर्वज जालौर नगर के शासक कान्हड़दे के चरित्र व वीरता को लेकर अपने काव्यग्रंथ की रचना की। कान्हड़दे प्रबन्ध में विस्तार पूर्वक अल्लाउद्दीन खिलजी और उसके सेनापति अलफखाँ द्वारा गुजरात काठियावाड़ व राज स्थान पर किये गये दुर्दान्त आक्रमण का वर्णन है। अन्हिलवाड़ा से हिन्दू राज का अन्त और सोमनाथ के ज्योतिर्लिंग का खंडेदना दो मुख्य ऐतिहासिक घटनायें हैं। जालौर के शासक कान्हड़दे को जब इस धार्मिक अत्याचार का संवाद ज्ञात हुआ तो क्षत्रियोचित गुणों के अनुसार ही उसने मुसलमानी सेना का मुकाबला किया। बारह वर्ष के घेरे के बाद भी मुसलमानी सेना को सफलता न मिल सकी। अन्त में उन्होंने छल और अनीतिमूलक साधनों का आश्रय लिया। इस सबका वर्णन कवि ने बड़े शक्तिशाली ढंग से किया है। अनेक स्थान पर पाठक स्वयं कविता पढ़ते पढ़ते वीर भावना में उत्त जित हो उठता है यही कवि का रस कौशल है। शैली सीधी सादी है, अलंकार, विषय और वस्तु कविता के मर्म से बढ़ नहीं पाये न अन्य राज्याश्रित कवियों की भाँति पद्मनाभ ने चमत्कार और रूढ़ि ग्रस्त परम्पराओं का ही प्रयोग किया है। कवि की अभिव्यक्ति जितनी सरल है उतनी ही प्रभावजनक और सशक्त भी। इतिहास की दृष्टि से प्रस्तुत काव्य ग्रन्थ का महत्व काफी है। अतिरंजना के दोष से कवि सर्वत्र बच सका है जिससे प्रस्तुत कृति और भी अधिक विशस्त हो गई है। डा० माता प्रसाद गुप्त की मान्यता है कि ग्रन्थकार उसी राजवंश से सम्बन्धित था जिसको ग्रंथ के कथानायक ने पवित्र किया था। इस बात की सम्भावना यथेष्ट है कि उसको कथा की सामग्री उस राजवंश के लिखित और अलिखित इतिहासों से प्राप्त हुई हो। इसीलिए इस युग के इतिहास के अध्येता के लिये यह ग्रंथ अत्यन्त मूल्यवान होगा। यदि हम तत्कालीन समाज और भूगोल की विस्तृत और प्रामाणिक जानकारी चाहते हैं तो पद्मनाभ के कान्हड़दे' प्रबन्ध को सबसे उपयोगी पायेंगे।

पद्मनाभ की प्रतिभाने हमें दो अत्यन्त ही सजीव और विशिष्ट चरित्र दिये हैं —एक तो है कथानायक कान्हड़दे और दूसरी है शाहजादी फिरोजा। दोनों पात्र अनेक दृष्टियों से विशेषता रखते हैं। अन्य वीरकथाओं अथवा प्रबन्ध काव्यों के नायकों के प्रतिकूल कान्हड़देव शृंगार से दूर है। वह समूचे हिन्दू समाज का त्राता

१–डा० माताप्रसाद गुप्त आलोचना भाग १४, पृ० १४

जान पड़ता है। अलफखान ने सोमनाथ को तोड़ दिया और उसे बहू गाड़ियों में लाद कर दिल्ली ले चला। प्रत्येक धर्मनिष्ठ हिन्दू विचार कर उठा।

> जाणई रुद्र ! घणई कोपानलि वैरय सवे तिहुं बाला।
> तिहुं पृथ्वी मांही पुण्य वरतावीउं देवलोकि भय टाल्या ॥
> ति अलकाक त्रिपुर विध्वंसिउ पवनवेगि जिम तूल।
> पदमनाभ पूछई सोमईया ! कैणडं कर्क त्रिशूल।

हे रुद्र ! पहले तो तुमने अपनी कोपाग्नि में अनेक वैरियों को जला दिया। संसार में पुण्य का प्रसार तुम्ही से है। भयातुर देवताओं को अभयदान तूने ही दिया, जिस तरह प्रभंजन रुई का नाश कर देता है उसी तरह तूने शक्तिशाली त्रिपुर राक्षस को नष्ट कर दिया। पद्मनाभ पूछता है कि हे सोमनाथ ! अब तेरे त्रिशूल को क्या हुआ ?

ऐसी विकट परिस्थितियों में कान्हड़दे अपनी धर्म भावना से अनुप्राणित हो आगे बढ़ता है—मुसलमानों की सेना को मार भगाता है और उसी प्रकार खण्ड की गई मूर्तियाँ बनवा कर विभिन्न स्थानों में स्थापित करता है। यहाँ अन्य नायकों के समान किसी राजकुमारी के हरण के लिए कान्हड़दे नहीं बढ़ता किन्तु केवल रक्षा के लिये। उसके तेजस्वी उत्तर—जैसे कि पुरु ने सिकन्दर को दिये थे—सुन कर चित्त फड़क उठता है। आन पर मिटने वाला तेजस्वी साहसी ज्वरधर्मय कदूटर टूटने को तैयार पर झुकने को तैयार नहीं पराक्रमी अवनपाल उदार और निर्भीकता से व्यवहार करने वाला कान्हड़दे अन्त में पराजित होता है। कान्हड़दे एक पात्र विशेष है किन्तु वह सामान्य जनता की भावनाओं का सक्रिय प्रतीक है अतः वह सामान्य पात्र भी है। सामूहिक हलचल का नेतृत्व करने वाला कान्हड़दे परम्परा से सर्वथा भिन्न हाड़-मांस का सजीव पात्र जान पड़ता है। तत्कालीन कवियों की कला से तुलना करने पर पद्मनाभ की सराहना किये बिना नहीं रहा जाता।

दूसरा चरित्र है फिरोजा का जो अलाउद्दीन की पुत्री है और कान्हड़दे के पुत्र वीरमदेसे प्रेम करती है। यहाँ कवि ने लोक कथाओं से पूर्वभव सम्बन्ध का तत्व उठाया है और फिरोजा के प्रेम को शाश्वत चिरपुरातन जन्मजन्मान्तर से माना है। यहाँ इतिहास की दृष्टि से असंगति जान पड़ती है। ऐतिहासिक काव्य की विशेषतायें यहाँ गौण हो उठती हैं और कथा लोककथा की तरह मोड़ ले बैठी है। वस्तुतः इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। हमारे काव्यों में तथ्य और कल्पना का, फैक्टस और फिक्शन का अद्भुत योग हुआ है। कर्मफल की अनिवार्यता में दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्भुत शक्ति में और मनुष्य के अपूर्व शक्ति भण्डार होने में दृढ़ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यों को सदा काल्पनिक रंगों में रंगा है।[1] इस पृष्ठ-भूमि में ही हम फिरोजा के चरित्र की उद्भावना को ठीक से समझ सकते हैं।

१—हजारी प्रसाद हिन्दी साहित्य का आदि काल—पृ० ७१

पद्मनाभ ने तत्कालीन लोकप्रिय छन्द यथा चौपाई दूहा, सवैया आदि का प्रयोग किया है। बीच में पौच भावुकता से भरपूर प्रेम गीतों का भी सृजन किया है। दो स्थल पर गद्य का भी प्रयोग हुआ है। समग्रतः कहा जा सकता है कि कविता अभिव्यक्ति इतिहास, भाषा सभी दृष्टि से 'कान्हड़दे प्रबन्ध' एक महत्त्वपूर्ण कृति है और पद्मनाभ राजस्थानी के श्रेष्ठ कवियों में से एक।

(४) शिवदास अचलदास खीचीरी वचनिका[1]

यह दुखान्त गद्य पद्य मिश्रित रचना है जिसमें दोहा, सोरठा छप्पय और कुंडलिया छन्दों का प्रयोग हुआ है। गद्यसमुच्चय और छन्दों की कुल संख्या १२० है। इसके रचयिता चारण शिवदास हैं। ये गाडण शाखा के चारण थे।

इसमें मांडू के बादशाह होशंगगोरी और गागरौनगढ़ के राजा अचलदास खीची के युद्ध तथा राजपूत स्त्रियों के जौहर का अत्यन्त सफल चित्रण किया गया है। टैसिटरी इसे युद्ध की समकालीन रचना मानते हैं। बिलाचीपुर राज्य की ख्यात के अनुसार इस युद्ध का समय १४८१ वि० है।[2] किन्तु रेऊजी इस युद्ध को १४६० के लगभग मानते हैं।[3]

लोक प्रचलित बात शैली में रचना का प्रारम्भ सरस्वती वंदना से हुआ है। शब्दों की अधिक तोड़ मरोड़ नहीं है और नहीं अनावश्यक अनुस्वार बहुलता तथा द्वित्ववर्णों का प्रयोग है। वीररस की प्रमुखता है। कवि ने दोनों पक्षों का ह्रास देते हुए मुठभेड़ का रोचक वर्णन किया है। युद्ध की भयंकरता ने अचलदास के मार्ग अवरुद्ध कर दिये।

युद्ध में विजय की आशा न देखकर बालक राजकुमार पाल्हणसी को अंधारका निमित्त किले से बाहर अन्यत्र भेजने की योजना हुई। इधर वीरांगनाओं ने जौहर की तैयारी की और उधर राजकुमार ने सदा के लिये सबसे विदा ली। घरे हुकम से संसार का ऊ बनीच उसको समझाया गया। बड़ा करुण दृश्य उपस्थित हो गया—

पाल्हणसी भला भला लोकां का कह्या करता बार चौमत्या मांसू पुंछि अंकमाल कीयौ। विरह बंध बागो की नाई सकल ही प्रियमी प्रतिपिज्यो यो गढ लोकस। हमारउ बहर सुरिताण गोरी राजा सउ कीजयो।

पाल्हणसी पुत्रविहि रह्यो मनि संमझ्या सरवि।
तिणि वेला हीया भरी राइ राइ रोवण लगि।

अब जौहर के लिए पावक तैयार की गई। प्रत्येक क्षत्राणी ज्वाला में एक के बाद एक 'शिव' 'शिव' 'हरि' हरि' कहती हुई कूदने लगी। प्रत्येक को जल मरने की जल्दी थी—

१—अनूप संस्कृत लायब्रेरी—प्रति संख्या ११
२—राजस्थान भारती—भाग ३—अंक १—पृ० ८४
३—रेऊ राष्ट्रकूटों का इतिहास—भाग १-पृ० १४१

चौंतिसियो चहुवाणि जउ हर की मोडउ पुगति।
हव हुहरवां हर पुर दिसा वेगा वेगि विहाणि॥
व्योमोह्यो वर वीर, परि परि सत दैपै पगर।
माया राइ हरि आपरइ, समहरि अचल सधीर।
वैसा तिणि वसुहागि, मदहूदतौ पूंगा पपड़।
तओ अवेवर ऊठिसी, अंग हूं पानें आगि॥
तै पासी तिणि ठाहि, आइसि अचलेसर तणै।
तसि वयणी सिव सिव करे, पइसैं पावक माहि॥
छूटि न जाई छेहि माहे अचंहर मेखलै।
जाइ धाइ चडै घताअली पटरांणी पावैहि॥
पउहर वासणहार अनइ अनइ ताह ऊपरै।
हरि हरि हरि होइ रह्यौ विसन विसन तिणि वार॥

इधर, तलवारें लिए, अचलदास सहित, सब योद्धा गढ़ से निकल कर शत्रु सेना पर टूट पड़े और उन्होंने हंसते हंसते प्राण की आहुति दी। संसार में उनका नाम अचल हो गया—

सातम सोम हमीर कन्हड़िया चौहर वातिय
चक्रिय येति चहुवाण आदि कलयड़ छमातिय
मूगस बिहुर सिर मंडि मणि कंठि तुलसी माली
मोभाउति मूछ वसंहि करिहि करिसर कालासी
बड वडि पडती आयुरणि, दिढ वौये सुरिताण दस
संसारि नांव जातम सरणि अचंल वेढि कीया अचल॥[1]

(५) बीठू सूजा: राव जैतसीरो पाबड़ी छन्द[2]

इसमें बीकानेर के राव जैतसी के पूर्वजों के—राव चूंडा से लेकर राव लूणकरण के पराक्रमों तथा जैतसी की हुमायूं के भाई कामरां पर विजय प्राप्ति के क्रमबद्ध वर्णन है। जैसा कि नाम से विदित होता है, काव्य मुख्यतया पावड़ी छंद में ही लिखा गया है। प्रयोग में आने वाले अन्य छन्द हैं—गाहा दोहा और कलस' सब मिलाकर ४०१ छन्दों में काव्य समाप्त हुआ है। इसकी रचना संवत १५९१ और १५९८ के बीच किसी समय हुई थी।

यह काव्य अपनी रचना के लगभग १० साल बाद संवत् १६२१ में लिपिबद्ध किया गया था अतः उस समय की भाषा का स्वरूप इसमें है यही नहीं विदेशी आक्रमणकारियों के प्रति राजपूतों की मनोवृत्ति का सुन्दर चित्रण इसमें मिलता है। एक ओर विदेशियों की मदान्धता तथा विजयलिप्सा और दूसरी ओर, स्वदेश प्रेम आन मान तथा जातिकुल गौरव की भावनाओं से ओत प्रोत राजपूतों का उनसे जूझना काव्य का प्रधान विषय है। गौण घटनाओं में राव के पूर्वजों के विभिन्न कारणों से अन्य राजपूत वीरों और मुसलमानों से हुए युद्ध प्रधान हैं। उस समय युद्धों के

१-हीरालाल माहेश्वरी राजस्थानी साहित्य—पृ० ८६-८७
२-टैसिटरी राउ जइतसी रउ छन्द

कारण कुछ इसी प्रकार के हुआ करते थे। अतः सामूहिक रूप से तत्कालीन युगव्यापी सामरिक मनोवृत्ति के चित्रण एवं घटना क्रम के स्पष्टीकरण के लिए, इस काव्य को एक प्रतिनिधि रचना कहा जा सकता है। यह काव्य वर्णनप्रधान और वीररस से परिपूर्ण है। युद्ध और उससे सम्बन्धित प्राय प्रत्येक छोटी से छोटी वस्तु का वर्णन कवि की पैनी दृष्टि का परिचायक है। भाषा में ओज एवं स्वाभाविक प्रवाह है। यथावसर यह प्रवाह तूफान की सी तेजी धारण कर लेता है। शैली में सादगी किन्तु प्रभावोत्पादक शक्ति है। काव्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले में राव चूंडा से लेकर जैतसी के पिता राव लूणकरण तक के वर्णन और दूसरे में मुगलों के साथ राव जैतसी के युद्धों के वर्णन सम्मिलित हैं।

राव जैतसी में पूर्वजों की परम्परा का वर्णन करते हुए कवि जैतसी और कामरान के बीच हुए युद्ध पर आ जाता है। यहीं वह जम कर लिखना शुरू करता है। युद्ध में किनने सरदार कौन कौन से अश्वों पर चढ़े इसकी विस्तृत सूची दी गई है।[1] अस्त्रशस्त्र से लैस होकर अर्द्ध रात्रि को उन्होंने गुप्त गति से मुगल सेना पर छापा मारा। रात्रि की निस्तब्धता भंग करते हुए 'जयराम' कहकर वे टूट पड़े, मानों हाथियों के झुण्ड पर क्रुद्ध सिंह झपट पड़ा हो। 'महम्मद' 'महम्मद' कहते हुए मुगलों ने भी हथियार संभाले। घनघोर युद्ध हुआ। राजपूतों ने प्रलय मचा दी और मुगल सेना लौहार की ओर भाग चली। जैतसी की विजय हुई। राम ने जिस तरह सीता को छुड़ाया था उसी तरह जैतसी ने अपनी मरुधरा को—

बीकाहर सीमी सेन होइ हरवै दलि हुई होइ होइ।
मुहमद नाव जपिय मुहाइ तैग गहि उठिया मीर ताइ ॥१७३॥
साबिल असोंम अंगाइ तुंग, बाम्हउलि ऊठिय कोडि वंग।
अइ राम जपिय होंदु अनेहि चाठिया साम मोडा अनेहि ॥१७४॥
राठउड़ि रोमि रेवंत रंग विछुटै आपि संकली अंग।
पतिसाह सेन हुवउइ पगेहि मारे असि चाड़िय मारवे हि ॥१७५॥
काफरां कहत साहइ अकम्म आधवे आंनि अने बिलम्म।
ऊतरा खेति चाहत्तउ अबीह, हीबरे पईठउ आंनि सीह ॥१७६॥
भड़हुई खोल भूमई भरति, पतिसाहमि भरउह चौरपति।
बीकाहर राजा ईंद बणि काफरां सिरे खिविया आडरि ॥१७७॥
रजवई रंग वांठे विशेह तामियां तूंह पड़िया प्रचंड।
सै भली सोमि भाइक सीत लेवतां राम पाअइ वहित ॥१९५॥

युद्ध के दृश्य का चित्रात्मक वर्णन पाठक की कल्पना में साकार उपस्थित हो जाता है। वह रणभेरी का तुमुल निनाद मुगलों के मुहम्मद और राजपूतों के राम की

१—छन्द २१४ से २४२

चमत्कार, योद्धाओं का गाजर मूली की भांति कटना और रक्त से परिपूर्ण रणभूमि पर लुंठित मुंडों और कबन्धों को प्रत्यक्ष देखने लगता है। कवि के प्रस्तुत वर्णन की सजीवता स्वाभाविकता निरोपमता और कलात्मकता की जितनी ही प्रशंसा की जाय, थोड़ी है और इससे भी अधिक श्लाघ्य राव जैतसी को अमरत्व प्रदान करने वाली यह विजय है जिसकी इति उसके रणकौशल तथा तात्कालिक युद्धनीति के परिज्ञान में है।

प्रस्तुत कृति में कवि द्वारा दी गई वंश परम्परा को देखकर डा० जगदीश श्रीवास्तव कह उठते हैं[1]—रचना के आकार तथा कलेवर एवं कथानक के लिए यह अतिरिक्त सामग्री अनुपयुक्त है अहितकर तथा अनावश्यक है और प्रसंगतः असंबद्ध भी। यदि इस अतिरिक्त सामग्री को ग्रंथ की भूमिका या पीठिका स्वीकार किया जाय तो भी यह ग्रंथ के लिए अति विस्तृत तथा अशोभनीय भी है। शायद विद्वान लेखक ने डिंगल चारण काव्यों की परम्परा को समझा नहीं है। डिंगल के प्रायः सभी काव्यों में आश्रयदाता की वंशपरम्परा देने का रिवाज रहा है। करणीदान ने तो सूरज प्रकाश में अपने आश्रयदाता के वंश का प्रारम्भ ब्रह्मा से किया है।[2] अधूरी जानकारी से ऐसी ही भ्रान्तियों का जन्म होता है। अस्तु।

(६) सांदू माला झूलणा महाराज रायसिंघजीरा[3]

यह लगभग १०० पंक्तियों की छोटी सी रचना है। कवि सर्व प्रथम राय सिंह जी के पूर्वजों—राव बीका से लेकर कल्याणमल के पराक्रमों का संक्षिप्त वर्णन करके रायसिंह जी का वर्णन प्रारम्भ करता है। रायसिंह जी से सम्बंधित दो मुख्य घटनाओं का कवि ने वर्णन किया है। एक उनकी उत्तक और ठोमा पर चढ़ाई और विजय तथा दूसरी गुजरात विजय। अकबर की सहायता के लिए गुजरात पर किये आक्रमण का चित्र देखिये—

दुहोई भारत मंडीयो गुजरात गटके
नाद नफीरी गहगहे नीसाण गहके
कलीयां ऊमा ऊमरे बरहा उलके
चमकर पाखर चपत उर मुख चावक चके
आगा मीर बहादरां से चढ़िया चके
देख रीठ निभीठ जम धन कम कड़के
जिम मैंगापुर धमीया सिर चरण भटके
लूह मुख भारथ छेलीया दल आलम जिके।

१-जगदीश श्रीवास्तव डिंगल साहित्य—पृ० ११४।
२-विस्तृत जानकारी देखिये—अध्याय चौथा।
३-हस्त० नं० बी० १५ २३।रायल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता

(७) पृथ्वीराज राठौड़ वेलि क्रिसन रुकमणीरी ।।[1]

पृथ्वीराज बीकानेर नरेश रायसिंह के अनुज थे और अपने बड़े भाई की राजनीतिक आवश्यकता के कारण अकबर के यहां रहते थे। इनका जन्म मार्गशीर्ष कृष्ण एकम् सं० १६ ६ में बीकानेर में ही हुआ। तत्कालीन राजपुत्रों की भांति ही इनका लालन पालन हुआ। बड़े होकर जिन उच्च गुणों के भण्डार ये बने ऐसे विरले ही राजपुत्र हुए हैं। पीथल के निम्न डिंगल ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—(१) वेलिक्रिसन रुकमणी री (२) दसम भागवत रा दूहा (३) गंगालहरी (४) बसदेरावउत (५) दसरथरावउत (६) फुटकर पद-गीतादि।

इनका सर्वश्रेष्ठ काव्य ग्रन्थ 'वेलि' है। नाभादास ने भक्तमाल में इनकी गणना कर[2] दुरसा आढ़ा ने 'वेली' को पांचवां वेद मान[3] और जनश्रुति ने इनकी मृत्यु के समय सफेद कौवे के आगमन की कथा गढ़[4] उन्हें भक्त बना दिया है और वेलि को भक्ति काव्य का रूप दे दिया है। किन्तु उन्होंने स्वयं उसे नायिका' की प्राथमिकता देकर श्रृंगार काव्य-घोषित किया है[5] और नखशिख संयोग श्रृंगार, षड्ऋतु वर्णन पर पूरा ध्यान दिया है। दूसरी ओर रुकमणी हरण व शिशुपाल सहित बलराम व कृष्ण के युद्ध का वर्णन कर उसे वीर काव्य बना दिया है। भक्ति वीरता और श्रृंगार की ऐसी त्रिवेणी भला कहां मिलेगी? डा० टैसिटरी ने वेलि की प्रशंसा में लिखा है, यह काव्यकला की दक्षता का विलक्षण नमूना है जिसमें आगरा के ताजमहल की तरह, भाव की एकाग्र सहृदता के साथ अनेकानेक

---

१ (अ) नरोत्तम स्वामी- क्रिसन रुकमणीरी वेलि
(ब) टैसिटेरी वेलि क्रिसन रुकमणीरी
(स) ठाकुर पारीक वेलि क्रिसन रुकमणीरी
(द) आनन्द प्रसाद दीक्षित वेलि क्रिसन रुकमणीरी

२ सकया गीत सलोक वेलि दोहा गुण नव रस।
पिंगल काव्य प्रमाण विविध विधि गायो हरिजस।।
परिपूरण विपुल समाप्य वचन रचना सु उचारे।
अर्थ विविध निमोल सबै सागर उद्धारे।।
रुकमणि लता वरणन अनूप वागीसवरन वखाण सुण।
नर-देव उभै-भाखा निपुण पृथीराज कवि-राज हुव।।

३ रुकमणि गुण लखण रूप गुण रचवण
वेलि तास कुण करै वखाण?
पांचमउ वेद भाखियउ पीथल,
पुणियउ उगणीसमउ पुराण।।

४ आनन्द प्रसाद दीक्षित- वेलि क्रिसन रुकमणीरी—भूमिका—पृ० १७

५ सुकदेव व्यास जैदेव सारिखा सुकवि अनेक ते एक सन्थ।
श्री वरणण पहिलो कीजै तिणि, गूंथिजै जेणि सिणगार ग्रन्थ।।

काव्य गुण विस्तार का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है और जिसमें रस और भाव का सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य तथा काव्य के बाह्य आकार की विस्मयकारी सुन्दरता को ज्योतिर्मान रूप में प्रदर्शित किया गया है[1]। यह डिंगल का श्रेष्ठ ग्रंथ 'वेलिक्रिसन' है। राजस्थान के प्राचीन पुस्तकालयों और जैन भंडारों में शायद कोई ऐसा हो जहाँ इसकी दो चार प्रतियाँ न मिलें। इसी काव्य ग्रंथ का संस्कृत में टीका लिखी जाने का सौभाग्य मिला। राजस्थान की विभिन्न बोलियों में भी इसकी टीकायें लिखी गई हैं।

'दसम भागवत रा दूहा' शान्त रस की कृष्ण भक्ति को आधार बना लिखी हुई रचना है। गंगा लहरी में भागीरथी की स्तुति में ८० के लगभग दोहे रचे गये हैं। दशरथ रावउत और वसदेव रावउत काव्यों में क्रमशः राम भक्ति व कृष्ण भक्ति के दोहे हैं। इसके अतिरिक्त पीथल रचित अनेक वीररसात्मक फुटकर गीत दोहे व कवित्त भी राजस्थान में प्रचलित हैं। ये रचनायें गुण सम्पन्न हैं और तत्कालीन मुगल आतंक के बीच कराहती मानवता की अभिव्यक्ति हैं। इनमें असाधारण ओज प्रचंड प्रवाह और प्रखर तेजस्विता है। इसी गुण को देख कर ही तो डा॰ टैसीटोरी ने उन्हें डिंगल का होरेस कहा और टाड जैसे इतिहासकार को उनकी कविता में दस सहस्र घोड़ों का बल स्वीकार करने में गर्व अनुभव हुआ।[2] कहना न होगा, पीथल डिंगल के सर्वश्रेष्ठ कवियों में से एक हैं।

कर्नल टाड ने इनके सम्बन्ध में लिखा है—पृथ्वीराज अपने समय के क्षत्रियों में एक श्रेष्ठ वीर थे और पश्चिमीय ट्रूबडर राजपुत्रों की भाँति अपनी ओजस्विनी कविता के द्वारा मानव हृदय को स्फूर्त और प्रोत्साहित कर सकते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर हाथ में तलवार लेकर स्वयं लड़ भी सकते थे। इतना ही नहीं राजस्थान के कवि समुदाय ने एक स्वर से काव्य गुणोत्कर्ष का सेहरा भी इन्हीं वीर राठौड़ के सिर पर बाँधा था।[3] यह निश्चित है कि पीथल् निपुण योद्धा और निपुण कवि दोनों थे।

वेलि कथा को मोटे रूप से पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में बाँटा जा सकता है। पूर्वार्द्ध में कृष्ण द्वारा रुक्मिणी हरण की कथा का विविध प्रसंगों सहित वर्णन है। इसमें प्रारम्भ से लेकर कृष्ण रुक्मिणी के विवाहोपरान्त मिलन और प्रभात वर्णन, छन्द संख्या १८६ तक का भाग सम्मिलित है। उत्तरार्द्ध षड्ऋतु वर्णन के पश्चात् शृंगाररस धीमे धीमे लौकिक धरातल छोड़ता चलता है और अन्त में भक्ति में पर्यवसित हो जाता है। कवि की आत्मश्लाघा मानों इस दिव्य प्रेम और भक्ति की घोषणा है। कलाकृति को देखते हुये कवि की आत्मश्लाघा को डा॰ टैसिटरी ने भी स्वाभाविक ही बताया है।

---

१ टैसिटरी वेलि—अंग्रेजी भूमिका—पृ॰ १

२ टाड एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज् आफ राजस्थान—एनल्स आफ मेवाड़—ग्यारहवाँ अध्याय।

३ मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ॰ १११

भावानुकूल नाद सौन्दर्य युक्त शब्दचयन और प्रसंगानुकूल भाषा के प्रयोग ने वेलि की रमणीयता में चार चांद लगा दिये हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित छन्द देखे जा सकते हैं —

बलकलिया कुन्त किरण कलि ऊकलि,
वरजित विसिख विवरजित वाउ।
धड़ि धड़ि धवकि धार धाक धस
सिहरि सिहरि समधै सिलाउ ॥११९॥

काली करि कांठलि ऊजल कोरण
धारे स्रावण धरहरिया।
गलि चालिया दिसो दिसि जलग्रम
थंभि न विरहणि नयण थिया ॥१८१॥

बरसतै दड़ड़ नड़ अनड़ वाजिया
सघण गाजियै गुहिर सदि।
जलनिधि ही सामाइ नहीं
जल जल वाहा न समाई जलदि ॥१९१॥

कलापक्ष और भावपक्ष के सामंजस्य ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग, भाषा के लालित्य एवं सहज प्रवाह, रसानुकूल भावोत्तेजन के यथावसर प्रकटीकरण और इन सबके उचित सम्मिलन के कारण वेलि एक अत्यन्त प्रौढ़ कलाकृति हो गई है।

(८) माधोदास दधवाड़िया रामरासो[1]

ये चूंडाजी दधवाड़िया के पुत्र थे। इनका जन्म मेड़ता परगने के बलूंदा गांव में संवत् १६१ –१६१५ के आसपास हुआ था। कहा जाता है कि ये जोधपुर के महाराजा सूरसिंह जी के आश्रित थे।[2] अभी तक इनके तीन ग्रंथों का उल्लेख मिला है–(१) रामरासो (२) भाषा दशमस्कंध तथा (३) गजमोख या गुण गजमोख।

रामरासो में बोलचाल की राजस्थानी और साहित्यिक–डिंगल का मिश्रण है। वैण–सगाई का पालन यथासंभव किया गया है। इसमें राम जन्म से लेकर रावण की मृत्यु के उपरान्त अयोध्या में राम के राज्याभिषेक होने तक सम्पूर्ण रामकथा का वर्णन है। कवि का उद्देश्य सीधे सादे ढंग से राम की केवल राम की कथा कहना है। अतः उसने किसी प्रकार के अनावश्यक या इतर विस्तार में न जाकर मूल कथासूत्र पर ही अपना ध्यान रखा है। प्रसंगवश कुछ मोटी-मोटी अन्य घटनाओं का भी उल्लेख हुआ है जो रामचरित के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। यह वीररस का उत्कृष्ट कोटि का वर्णन प्रधान महाकाव्य है। विविध घटनाओं और वर्णनों के संयोग

---

१ लालभाई दलपतभाई संस्कृति मन्दिर, अहमदाबाद की प्रति

२ हीरालाल माहेश्वरी राजस्थानी साहित्य पृ० १६६

से कथा बड़े वेग से गन्तव्य स्थान तक चलती है । प्रारम्भ से लेकर राम के समुद्र पार उतरने तक के विविध वीररस के प्रसंगों के अतिरिक्त अंगद के रावण की सभा से लौट आने के प्रसंग से लेकर रावण की मृत्यु तक, लगभग ११० छन्दों में वीररस से परिपूर्ण युद्ध का ही वर्णन हुआ है । यह अत्यन्त सजीव बन पड़ा है । अन्य रसों की भी प्रसंगवश यत्र तत्र झाँकियाँ देखने को मिलती हैं किन्तु प्रधान रस वीर ही है । मुख्य कथा से विषयान्तर कहीं भी नहीं हुआ है और नहीं इधर उधर की दूर प्रसंगों की कथाएं कवि ने ली हैं । विषयान्तर अथवा दूर प्रसंगों के वर्णन उतने ही हुए हैं जो या तो मुख्य कथा में आवश्यक हैं अथवा उसकी गति आगे बढ़ाते हैं । वक्ता–श्रोता के जोड़े अथवा कथा के सर्गों या काण्डों में विभाजन के कोई प्रसंग नहीं हैं । स्वयं कवि ही कथा कहता है ।[1]

लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम के दुःख का दृश्य देखिए—

घूमो धरा सिर चक्कहाईयो, पड़ती संध्या लखमण पड़ियो ।
बड़ी आंक एक उरिआई, बोहिड़ि बन्धु लखमण सो बाहु ।
हूं आयो पग मांडि और हुण देखिवि कर म्हारा कर रावण ।
रावण बाण राम छेदे रण रावण बाहु छेदे रामण ।

गजमोक्ष निसाणी छन्द में रचित लघुकृति है जिसकी कथा का मूल आधार भागवत है । सरोवर में पानी पीते समय गज को ग्राह ने पकड़ लिया । आर्त गज की प्रार्थना पर भगवान आकर ग्राह को मारते हैं और गज का उद्धार करते हैं ।

कथा के आरम्भ में कवि ने पहाड़ जंगल और सरोवर का सुन्दर चित्रण किया है । इसकी हस्तलिखित प्रतियों में पाठ-भेद मिलते हैं । छन्द संख्या भी कहीं ८० और कहीं ६८ पाई जाती है । सीधी-सादी प्रवाहपूर्ण भाषा में बड़े रोचक ढंग से कवि ने गजमोक्ष की कथा का वर्णन किया है । कुछ उदाहरण देखिए—

मंडे तंडव झंड झंड मिर मोर मलहारा
दादर आपर चर्चसपटी पीहुरी घुह पारा
तेज सरवर बंग अन्तरै नदी नर्मद नवासा
सोवंण चीन कपोल लोल चु मर डीभाला
गाज करंता राज-मत्त अंजस निज आया
बारण बरंण विरोल सौ जंग ग्राह जगाया
ग्राह राह च्यारे ग्रहे (प) ट हुयी पाया
ऊभौ थोप भवसेप कुण बलवंत बंधाया
पुत कमठ परवार पूंछि पच बधा पराया
पु निम सूरीज चंद पधु बटीवा पन राया

+ + +

---

१ हीरालाल माहेश्वरी राजस्थानी साहित्य—पृ० १७०–१७१

(९) सांया जी झूला नागदमण।[1]

सांयाजी झूला ईडर राज्य के लीलछा गांव के निवासी चारण स्वामि दास के द्वितीय पुत्र थे। इनका जन्म सं० १६३२ में और देहान्त सं० १७०३ में हुआ था। ईडर नरेश राव कल्याणमल इनके आश्रयदाता थे जिन्होंने इनको एक लाख पसाव और कुवावा नामक एक गांव प्रदान किया था।

सांयाजी भगवान श्री कृष्णके अनन्य भक्त थे। इनकी कविता कृष्णभक्ति से ओतप्रोत है। भाषा इनकी डिंगल है जिस पर गुजराती का भी थोड़ा सा रंग चढ़ा हुआ है जो स्वाभाविक है। क्योंकि ये काठियावाड़ी थे। इनके दो ग्रंथ उपलब्ध हैं, रुक्मिणी हरण और नागदमण।[2]

नागदमण में कालिय मर्दन की कथा कही गई है। उसमें ४ दोहे ११४ भुजंगप्रयात और १ छप्पय सब मिला कर १२९ छन्द हैं। नागदमण का विशेष महत्त्व उसके वर्णनों और संवादों के कारण है। ये बहुत ही पुष्ट और सजीव बन पड़े हैं। वर्णन ऐसे हैं कि जिनसे सारा का सारा दृश्य अपने आस पास क वातावरण के साथ साकार हो जाता है। इसी प्रकार संवादों में विशेषतया नागणी और कृष्ण के संवादों में माधुर्य वात्सल्य आश्चर्य भय उत्साह आदि भावों का एक साथ सुन्दर सामंजस्य मिलता है। ये बड़े फबते हुए और उपयुक्त हैं। सजीव वर्णन और सुन्दर संवाद एक दूसरे से घु लकर पाठक की ओर जिज्ञासा बढ़ाते रहते हैं। अन्त में जब श्री कृष्ण नाग को नाथ कर यमुना के ऊपर आते हैं तो हर्ष और भक्ति से सारा वातावरण रस स्निग्ध हो जाता है। वर्णन दो प्रकार के पाए जाते हैं—दृश्य वर्णन और रूपवर्णन। इनके प्रसंग निम्नलिखित हैं—

१—प्रातःकाल गायों को लेकर वन जाना
२—श्री कृष्ण की रूपमाधुरी
३—कालिय नाग का बल वैभव तथा कृष्ण की सुकुमारता और निरस्त्रता
४—कालिय नाग का जागना तथा उसकी भयंकरता
५—नाग युद्ध—उसके फणों पर श्री कृष्ण का नृत्य आदि।

कृष्ण के सुकुमार और नाग के भयंकर रूप वर्णन की पृष्ठभूमि पर नाग का नाथा जाना एक अलौकिक दृश्य उपस्थित करता है। एक दृश्य देखिए कालिय नाग क्रुद्ध हो फण उठाने लगा। उसकी फुफकार से धम रे उठने लगे शेषनाग का बोझ बट गया और धरती डोल उठी।[3]

---

१ चारण हमीरदान द्वारा पालनपुर से प्रकाशित।
२ मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० १३२
३ अगरचन्द नाहटा चारणी अने चारणी साहित्य—पृ० ६३

मचे मूड मारा सरे भोम सारा,
कामारा बर्मारा करे फूसकारा ॥१०३॥
उडाडे गस फोंग्मारा अँगारा,
धमारा सगारा जमे कीच मारा ॥१०४॥
घुमारा घमारा सहू धाम सारा
मकडाया गमारा पडी गुठमारा ॥
धमे भोम धारा भमो धेप मारा,
कृ बंती परारा बरक्के धंमारा ॥१०५॥

अन्त में कवि ने अपने काव्य और कृष्ण की इस लीला का वर्णन यों किया है।

सुणे पढे समभाव, नंद नंदन अहिनारी
समंद्र पार संसार होय गोपद अनुहारी
अनंत अनंत आमन्द सबै वपु तास सुहावे
मदत मुगत भंडार कमल सुमताज कहावे
रचियो चरित्र राधारमण हो मन कन्ह काली दमन।
बैकुण्ठ सुमथ मथुरा तणा मटण काज आवा गमण ॥

रुक्मिणी हरण में श्री कृष्ण रुक्मिणी के विवाह का वर्णन है। यह एक वीर रस पूर्ण वर्णनात्मक काव्य है जैसा कि प्रारंभ के दोहे में कहा गया है—

हूँ गायेस रुपमण हरण मंगलाच्यार मुकंद।
कुल आरव पूरण कला, प्रगटे परम अनंद ॥

गौण रूप से बीभत्स रस का वर्णन भी मिलता है। इसमें रसानुकूल पदर योजना और विषमय वर्णन स्थान-स्थान पर पाये जाते हैं। नागदमण की भांति 'हरण' में भी संवाद और विविध वर्णनों के प्रसंग प्रमुख हैं। रुक्मिणी के विवाह के विषय को लेकर, संवाद का प्रसंग राजा भीमक और रुक्मी के बीच प्रारम्भ के लगभग १० छन्दों तक चलता है।

१–शिशुपाल के कुन्दनपुर जाते समय विविध शकुनों का होना
२–बलदेव के द्वारका से रवाना होते समय उनकी युद्ध की तैयारी
३–रुक्मिणी हरण पर युद्ध तथा
४–विवाहोत्सव पर द्वारका नगरी की सजावट।

रुक्मिणी जब अम्बिका पूजनार्थ जाती है तो कृष्ण उसे अपने रथ में बिठा लेते हैं। साथ में रक्षार्थ आई सेना ने यह देखा फौरन रणतूर्य बज उठे। दोनों पक्षों में युद्ध आरंभ हो गया। काव्य का सर्वोत्तम प्रसंग इस युद्ध वर्णन का है। कवि ने पहले से ही इसकी पृष्ठभूमि तयार कर रखी है। युद्ध का बहुत ही सांगोपांग वर्णन कवि ने किया है। हुंकार और जयकार मचा की दया, अस्त्रशस्त्र उनके चलने की आवाज, दिवस में रात्रि का सा अन्धकार हाथियों की सूडों और सैनिकों का धड

कर गिरना, तलवारों की भिड़न्त संख, मांस आदि का भोग, शत्रुओं की मृत्यु आदि के सजीव वर्णन भावमय शब्दों में अंकित किये गये हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित छन्द देखे जा सकते हैं—

भेटती अंबका हुयी मन भाविया मत रथ वेड़ मे मह मोहैम आवियो ।
दुलहणी जम अँछाड़तो देखियो, ऐमड़ो सेन घण जब औमष्पियो ॥
झपटती बड़ बड़ा झलण नै ठै तरण, हाथियो जुगत सु करे रणमच हुरम ।
संघवन पूरिया संचरी भाव सुन, भयो चौकार ते बार भेषी भयम ॥
घर हर अंबरे राज बाजंग धुरे पैदलं हैदलं पैदल पाखरै ।
धूह मू ब भजी रोस बाजंग सझे चढ़ै सिसपाल चतुरंग फौजं चढ़ै ॥
ऊमड़ी बाजना रज्जअंबर चढ़ी, कंप कोरंम बाराह बड़ कड़कड़े ॥
बारचे पारचे सारचे अंकुसे हाथियो बंध परबत पंथ हुये ।
मंमलं चंचलं मेघ बहता भयी सूर सूझे न को सूर रथ स्वारथी ।
एतरै अंदमी बाजिया अनड़े, पूरि संघरा नाद पाटो चढ़ै ।
चूडरे भार कोआर भार बलं सुभाके तापडे साम वसुधाम ।
मझमोती भुजाविन बाई मता, बंमक्यो सामयी बीज फौजें धुवा ।
बाजिया बार बाराय मीराविये, रोहिया बंध बाराह पाराविये ।
नाद नीसांण सैहनाइयां, सांमुहे सिधुयो नाद से रईया ।

योगिनी शाकिनी डाकिनी अंबिका, कालिका भूत, बैताल, खेचर, भूचर आदि की उपस्थिति से युद्ध की भयंकरता का पता चलता है। इसी स्थल पर बीभत्स रस की झलक भी दिखाई देती है। वीररस मानो अपनी पूर्णता पर हो—

पलचरा खेचरा भूचरा पंचमी गहकिया भूतड़ा प्रेतड़ा योगणी ।
वीर बैताल बैताल दे पोहमी, आविया अंकुने आप आपै अग्नी ।
अंबका ऊमका आतुपा बोयणी अंबका कालका मैलका बोयणी ।
शाकणी डाकणी रूपणी संमली, काल भैरव हणमंत नै कलपली ।
धूंधं बस् धड़बड़ी बोकडी मांगिये, आवदूयो ओसवा ताम युध जागिये ।
अंसलं मींच करसीधा आभा अरुण पल भर बोगणी रत चापी पियण ।
डाक डहंमाक हुंकार जम आगे घूमं घुमं मड़े मांजत मडूण ।

इस प्रकार युद्ध का वर्णन कवि ने खूब जम कर किया है उसकी वृत्ति उसी में रमी है।

(१०) रतनू वीरभाण राजरूपक[1]

मारवाड़ नरेश अभयसिंह के आश्रित कवि वीरभाण रतनू शाखा का चारण था और बलोई ग्राम का निवासी था। संवत् १७४५ में जन्म लेकर यह स्वाभिमानी

१ रामकर्ण आसोपा राजरूपक—नागरी प्रचारिणी से प्रकाशित।

कवि ४७ वर्ष की आयु पाकर स्वर्गवासी हो गया। राजदरबारी कवियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे अपने आश्रयदाताओं के संकेत के अनुरूप कविता करते हैं जरूरत पड़ने पर स्वरचित कविता का बदल भी देते हैं। वीरभाण एक अपवाद जान पड़ता है।

देहली के बादशाह मुहम्मदशाह ने अपने गुजरात के सूबेदार सरबिलंदखाँ के अविनय से नाराज होकर गुजरात का सूबा महाराजा अभयसिंह को दिया। महाराजा ससैन्य अहमदाबाद गये। सरबिलंदखाँ से खूब जमकर युद्ध हुआ और अभयसिंह ने राठौड़ों को ही परमाला पहिनाई। इस युद्ध में महाराजा के साथ अनेक चारण थे, उनमें से दो मुख्य थे—कविया करणीदान और रतनू वीरभाण। इन दोनों कवियों ने अहमदाबाद के युद्ध का आँखों देखा हाल लिखा। करणीदान का ग्रंथ 'सूरज प्रकाश' और वीरभाण का ग्रन्थ 'राजरूपक' कहलाया। अपने अपने ग्रंथों की समाप्ति के बाद दोनों कवियों ने महाराजा को अपने ग्रंथ सुनाने चाहे। अशान्त वातावरण राजनैतिक उथल पुथल का युग हर समय शत्रु का लगा हुआ खटका कभी यहाँ तो कभी वहाँ ऐसे समय में महाराजा को कविता सुनने का अवकाश कहाँ ? दुश्चिन्ताओं के बवंडर में काव्यरसास्वादन के उपयुक्त मन स्थिति कहाँ से आये ? महाराजा ने दोनों कवियों से उनके ग्रंथों का परिमाण पूछा। जानकारी मिलने पर उन्होंने ऐसे विशाल काय ग्रंथों को सुनने में अपनी असमर्थता प्रकट की और कवियों से कहा—'यदि आप अपने ग्रंथों का सार सुनाना चाहें तो मैं सुनने को तत्पर हूं। कवि करणीदान ने अपने ग्रंथ 'सूरज प्रकाश' का सार 'बिड़द-सिणगार' के रूप में कर सुनाया और फलस्वरूप अपार सम्मान विपुल ऐश्वर्य और कीर्ति का अधिकारी हुआ। महाराजा ने उसे जागीर, लाख पसाव और अभूतपूर्व सम्मान दिया। किन्तु जब कवि वीरभाण की बारी आई तो उसने नम्रता पूर्वक कहा 'अन्नदाता ! यह काम मुझसे नहीं होगा। मैंने अपने ग्रन्थ में फालतू की एक भी बात नहीं लिखी। अब उसमें काट छांट कैसे करूँ ? अपनी कविता की यह निर्मम हत्या मैं स्वयं कदापि न कर सकूंगा। क्या कहीं गागर में सागर भरा जा सकता है ? मुझे क्षमा किया जाय।

महाराजा वीरभाण की रचना 'राजरूपक' नहीं सुन सके। और कवि पुरस्कारादि से वंचित ही रह गया।

वीरभाण ने 'राज रूपक' को एक काव्य-ग्रंथ बनाया, किन्तु उसे बनाते बनाते वह इतिहास लिख गया। इतिहास की भूमि पर तटस्थ वैज्ञानिक दृष्टिकोण के रस से सिंचित 'राज रूपक' वल्लरी का जन्म हुआ था। कवि ने शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से इस काव्यग्रंथ का प्रणयन किया है। ग्रन्थ ४६ प्रकाशों में बाँटा गया है। कवि ने परम्परागत पद्धति को अपना सृष्टि के प्रारम्भ से अपने आश्रयदाता महाराजा अभयसिंह जी की वंशावली की स्थापना की है। तेजस्वी व बहुप्रतिभा सम्पन्न कवि योद्धा धर्मरक्षक महाराजा जसवन्त सिंह के वर्णन के साथ ही कवि ने इतिहासकार का बाना पहन लिया है। तिथि वार, संवत् सभी का उल्लेख कवि ने किया है।

किस युद्ध में किस पक्ष से कौन योद्धा मरे। वे कहाँ के थे कैसे थे सभी का ब्योरा बड़ी तन्मयता से दिया गया है। छोटी घटना भी कवि की निगाह से बच नहीं सकी। राजनैतिक सम सन्धिसंग्रह कूटनीतिक चाल सभी का कवि ने यथातथ्य और अत्यन्त सादगी से वर्णन किया है। समझौते के समय कौन से सामन्त दरबार में हाजिर थे। कैसे बात चली, तर्क-वितर्क हुए कवि ने इन सभी तथ्यों पर ध्यान रक्खा है। इतिहास के अध्येताओं और तत्कालीन समाज स्थिति के विद्यार्थियों के लिए इस काव्य ग्रंथ की उपयोगिता निर्विवाद है। ऐसे तथ्यमय ग्रंथ को संक्षिप्त करना सम्भव था भी नहीं अत कवि महाराजा अभयसिंह से लाख पसाव पाने से वंचित रह गया।

कवि ने अपने ग्रंथ में अनेक डिंगल व पिंगल के छन्दों का प्रयोग किया है। दोहा चौपाई, छप्पय वेअक्खरी, गाथा, त्रोटक भुजंगी चौरस नाराच पद्धरि हनुफाल वेताल आदि विविध छन्दों का उपयोग किया है। भाषा डिंगल है और प्रसाद गुण सम्पन्न है। बहुधा प्रयुक्त किये जाने वाले अनुस्वार अथवा द्वित्तवर्णों के प्रयोग से कवि ने अपनी कविता को बोझिल नहीं बनाया है। इसी कवि का एक अन्य ग्रंथ 'भागवत दर्पण' भी पाया गया है। नाम से ग्रन्थ के विषय में हम अनुमान कर सकते हैं कि यह भागवत को आधार कर लिखा गया ग्रंथ होना चाहिए।[1]

(११) करणीदान सूरज प्रकाश[2]

करणीदान की वीरता की प्रशंसा कर्नल टाड ने बहुत अधिक की है। करणीदान ने स्वयं महाराजा अभयसिंह के साथ अहमदाबाद युद्ध में भाग लिया था। जिस स्फूर्ति, साहस और पराक्रम के साथ वे शत्रु सेना को छिन्न भिन्न करते हुए बाहर निकल आये थे वह अलौकिक व आश्चर्यमय जान पड़ता है। वे केवल तलवार के ही धनी ही नहीं थे सरस्वती के भी वरद पुत्र थे। इस अशान्ति युद्ध और विग्रह के युग में भी वे नियमित रूप से लिखते पढ़ते रहे। 'सूरज प्रकाश' कवि का एक बृहद काव्य ग्रंथ है जिसका परिमाण ७५००० छन्द है। महाराजा को सुनाने के लिए इन्होंने इसी विशालकाय ग्रंथ का संक्षिप्त कर १२९ पद्धरि छन्दों में किया, जिसका नाम 'बिड़द सिणगार' रखा गया। इसी रचना से प्रसन्न होकर महाराजा ने इन्हें लाख पसाव जागीर आदि ही नहीं दी किन्तु उन्होंने हाथी पर सवार कराया और वे स्वयं घोड़े पर चढ़ कर इनकी हाजिरी में चले और कविराजा को उनके निवास स्थान तक पहुँचाया। इस विषय पर यह दोहा प्रसिद्ध है—

अस चढ़ियो राजा अभो, कवि चाढ़े गजराज।
पौहर हेक जलेब में, मौहर चलै महराज॥

'सूरज प्रकाश' डिंगल भाषा की एक उत्कृष्ट रचना मानी जाती है। कवि ने परम्परागत शैली को अपनाते हुए पहले पौराणिक पृष्ठभूमि में राजवंश का

१—मोतीलाल शर्मा राजस्थानी कवि—भाग २ पृ० ४४ ४७

२—पुस्तक प्रकाश (जोधपुर की प्रति)

इतिहास लिखा है और महाराणा जगत्सिंह के वर्णन तक आते ही उपसंहार लिखना शुरू कर दिया है। महाराणा जगत्सिंह, अजीतसिंह और अभयसिंह के जीवन की घटनाओं को इन्होंने खूब जमकर लिखा है। कवि ने यतियों के आडम्बर भ्रष्टाचार और दुराचार को देखकर उनकी खूब खबरी ली। ग्रंथ का नाम 'यतीरासा' था। कहा जाता है कि पीछे से किसी विद्वान सुखावरण यती के कहने से उस ग्रंथ को उन्होंने नष्ट कर दिया।

करणीदान के लिखे अनेक डिंगल गीत भी पाये जाते हैं। उन्होंने व्रजभाषा में भी कविता की है। इनके रचित कुछ श्लोक संस्कृत में भी पाये गये हैं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि कवि का इन भाषाओं से अच्छा परिचय था। जिस सफलता के साथ इन्होंने सजीव चित्र खींचे हैं वे कवि के नैपुण्य और भाषाधिकार के द्योतक हैं। अलंकारों का सुन्दर प्रयोग स्थान-स्थान पर किया गया है। राजवंश की उत्पत्ति को अनेक पौराणिक आधारों पर उठाया गया है। इनकी शैली में 'क्लैसिकल टच' सा जान पड़ता है। इसका कारण संभवतया इनका पुराणादि धर्म ग्रंथों काव्यों और व्याकरण ग्रन्थों का नियमित अध्ययन ही होना चाहिए। छन्दोभंग बहुत कम है। लगता है कि कवि बहुत परिश्रमी और अध्यवसायी था। इनकी कविता का उदाहरण देखिये[1]।

तद हसी विदा हुय मूस तांण।
चल थेम फ्रमले समंद चाल।
धींधे चढ़िया थाट पूर।
छमछा काम बिरुदास सूर ॥२८॥
पाखिया मगारा पयछ पाय।
भूमि पखाडी मथा धाय।
धैमरां डमरां धीया धोड़।
टहरां छंमरां धीड़ तोड़ ॥२९॥
मोडुरा सवरां झाट माय।
अचकरा गिरां तर छटे आय।
मेवास सूटमा मगज मेट।
फूटमा निरल्ह हैवान पेट ॥३०॥
तूटमा गढ़ी सिर मीर वास।
झूटगा हुआ चौगान वास।
चढ़ गया सहर पर छोड़ चाव।
खिवतां देवालां तणां साव ॥३१॥
चालीस कोस हैमम चलाय।
चालीस वरस चालीस आय।

१—करणीदान बिरद सिणगार, पद २८ से ३१

रुकमियो धू हुवौ मही राव ।
देवड़ां भड़ो मार्ग दवाव ॥१२॥
सीरोही ऊपर सौबसार ।
आबू भूमें फिर अवार ।
अबु दाँ ठवा अम्मात ईस ।
सरवा जिम आर्व नमा सीस ॥१३॥

(१२) मंछाराम रघुनाथ रूपक गीतांरो[1]

ये जोधपुर नगर के सेवग जाति के परिवार में संवत् १८२७ में जन्मे। इनके पिता का नाम बख्तीराम था और ये स्थानीय ओसवालों की वृत्ति करते थे। इनके कविता गुरु महाराजा मानसिंह के एक मन्त्री भंडारी अमरसिंह के पुत्र किशोरदास थे, जैसा कि इन्होंने अपने ग्रंथ रघुनाथ रूपक' के आरम्भ में लिखा है—

सदगुरु प्रणाम किसोर, सचिव अमरेस सवाई ।
करे पिता जिम कृपा, तिकण गुण समझ बनाई ॥

मंछाराम का लिखा अभीतक सिर्फ एक ग्रंथ 'रघुनाथ रूपक प्रकाश में आया है। कवि का ज्ञान, भाषा पर अधिकार, उपलब्ध कविताओं की परिष्कृति इस बात की द्योतक है कि कवि ने और भी बहुत कुछ लिखा होगा किन्तु दुर्भाग्य से अभी तक वह उपलब्ध नहीं हो पाया है। कवि की सारी प्रसिद्धि केवल इसी एक ग्रन्थरत्न पर निर्भर है। मंछाराम स्वयं राम का भक्त था। उसने डिंगल छन्दों (गीतों)पर एक काव्यशास्त्रीय रचना की और उसीमें भगवान् राम को गुण गाथा लिखी। 'रघुनाथ रूपक' नव विलासों में विभाजित है। प्रथम दो विलासों में वर्ण गण तथा क्षर दुगण अक्षरत्याग फलाफल वयणसगाई, काव्य दोष, अक्षरोट उक्ति के लक्षण, भिन्न रसों के नाम, लक्षण इत्यादि का वर्णन है। शेष सात विभागों में डिंगल काव्य में प्रयुक्त होने वाले ७२ जाति के गीतों का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन है। चूंकि गीतों के उदाहरण में राम कथा कही गई है इसीलिए ग्रन्थ का नाम 'रघुनाथ रूपक' रखा गया है। रामकथा का आधार तुलसी कृत 'मानस ही है।

रघुनाथ रूपक रीति ग्रन्थ अथवा छन्द ग्रन्थ की दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान है। डिंगल गीतों के सम्बन्ध में प्रमाणित व निर्दोष जानकारी देने वाला कोई ग्रन्थ इसकी तुलना में नहीं। यह निस्संदेह उत्कृष्ट कृति है। डिंगल भाषा का यह सर्वोत्कृष्ट रीति ग्रन्थ माना जाता रहा है और फलस्वरूप इसे कुछ विद्वानों ने डिंगल काव्य शिरोमणि कहकर पुकारा है। आधुनिक गुजरात के छन्द शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान स्वर्गीय रामनारायण पाठक ने भी अपने प्रख्यात विश्वकोष सदृश व्यापक ग्रन्थ 'बृहत् पिंगल' में डिंगल गीतों की विवेचना के लिए 'रघुनाथ रूपक' को ही प्रामाणिक

१—महताब चन्द्र रघुनाथ रूपक गीतांरो—नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

आधार माना है।[2] डिंगल कोष रचयिता कविराजा मुरारिदान भी इसे प्रामाणिक ग्रन्थ मानते थे। ये सब तथ्य हमें कवि की उस साधना की ओर संकेत करते हैं जिसके कारण गहन अध्ययन, विवेकमय विवेचन और साधिकार उदाहरण-सृजन सम्भव हो सका और जिसके कारण इतने उत्कृष्ट ग्रंथ की रचना कवि से बन पड़ी। 'मरुभूम भाषा तणों मारग' अर्थात् डिंगल भाषा या काव्य की रीति को विधि इस शास्त्र के ज्ञान से भली भाँति अध्ययनकर्ता को प्राप्त हो सकती है।[3]

(११) खिड़िया जग्गा वचनिका राठौड़ रतनसिंहजीरी महेसदासोतरी'

ये खिड़िया शाखा के चारण थे। इनके पिता का नाम रतनाजी था। इन्होंने संवत् १७१५ के लगभग 'वचनिका राठौड़ रतनसिंहजीरी महेसदासोतरी' नामक एक ग्रन्थ का बनाया जिसका दूसरा नाम 'रतन रासौ' है। इसमें जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह और मुगलसम्राट शाहजहां के विद्रोही पुत्र औरंगजेब तथा मुराद के बीच में उज्जैन के रणक्षेत्र पर सं० १७१५ का युद्ध वर्णित है। इस लड़ाई में रतलाम के राठौड़ राजा रतनसिंह बड़ी बहादुरी से लड़ते हुए काम आये थे। इसलिये उन्हीं के नाम से ग्रंथ का नामकरण हुआ। यह एक वीर रस प्रधान ग्रन्थ है। इसकी भाषा डिंगल है। इसमें गद्य और पद्य दोनों हैं।ग्रन्थ साहित्य रसिकों एवं इतिहास प्रेमियों दोनों के काम का है।[4]

रचना का आरम्भ गणेशवन्दना से युक्त गाहा से करके जग्गा खिड़िया विष्णु, शिव शक्ति और सरस्वती आदि की आराधना करते हुए रिणमल के वंश में रतनसिंह के जन्म ग्रहण करने का उल्लेख करता है और इस प्रकार वह बिना किसी भूमिका के अपने प्रशंसा पात्र नायक के चरित्र वर्णन का संकल्प प्रकट करते हुए मूल विषय में प्रवेश करता है। अनन्तर कवि रतनसिंह की वंशावली का परिचय देकर उनके पिता महेशदास की देवगिर (जालोर) विजय का वर्णन कर, वीर पिता के पुत्र रतन सिंह का भी वीर होना अप्रत्यक्ष रूप से संकेतित करता है। तदुपरांत राजा रतन सिंह की वीरताप्रदर्शन के निमित्त वह पीठिका स्वरूप तत्कालीन राजनैतिक अवस्था की रूपरेखा अंकित करता है।

रतनसिंह द्वारा विद्रोही राजकुमारों को समझाया जाता है पर व्यर्थ। अन्त में युद्ध की शरण लेनी पड़ती है। यहां कवि जमकर युद्ध वर्णन करता है। डिंगल में प्रचलित परिपाटी के अनुसार यह वर्णन है। इसी युद्ध में राजा रतनसिंह वीर गति को प्राप्त होते हैं। उनकी अन्त्येष्टि सम्बन्धी वर्णन काल्पनिक होते हुए भी भव्य है।[5]

१—रामनारायण वि० पाठक' बृहद पिंगल—पृ ४७७
२—गोवर्द्धन शर्मा राजस्थानी कवि-भाग २—पृ १०४
३—टेसिटरी संपादित रायल एशियाटिक सोसायटी से प्रकाशित
४—मोतीलाल मेनारिया' राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ० १२८
५—ग्रन्थ २४४—२६१

राजा के परलोक गमन का वृत्तान्त सुनकर उनकी चारों रानियाँ भी सती हो जाती हैं तथा इस प्रकार वे अपने सतीत्व तथा पतिप्रेम का परिचय देती हुई और भारतीय नारी जाति का मुख उज्ज्वल करती हुई, स्वर्ग में जाकर पति से मिलती हैं।[1]

अन्य उल्लेखनीय रचनाओं में कल्याणदास रचित गुणगोविन्द जोगीदास कृत हरिपिंगल प्रबन्ध जलसीका मातामारग रामदान का भीमप्रकाश, किशन जी आढ़ा कृत रघुवरजस प्रकाश, पृथ्वीराज सांदू प्रणीत अभयविलास और गोपीनाथ गाडणका ग्रन्थराज महत्वपूर्ण रचनाएं हैं। चूंकि यहाँ हमारा उद्देश्य डिंगल काव्य का ऐतिहासिक अध्ययन करना नहीं है अपितु रूपात्मक अध्ययन करना है हमने मात्र कुछ प्रतिनिधि एवं विभिन्न प्रकार की रचनाओं की चर्चा की है।

हमने डिंगल काव्य की प्रमुख प्रबन्धात्मक रचनाओं पर विचार किया। अब हम उन रचनाओं का परिचय प्राप्त करना चाहेंगे जो मूलतः राजस्थानी की रचनाएं हैं किन्तु परवर्ती डिंगल से भिन्न हैं। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि मारवाड़ी या राजस्थानी की ये रचनाएं ही डिंगल काव्य का प्रारंभिक आधार रही हैं। इनमें से प्रमुख रचनाएं निम्न हैं—

(१) असाइत हंसाउली[2]

सिद्धपुर के एक मध्यमवर्गीय ब्राह्मण परिवार में असाइत का जन्म हुआ। उनके पिता राजाराम ठाकुर, मारवाड़ गोत्र के औदिच्य ब्राह्मण थे जिनका जीविका निर्वाह यजमानी से चलता था। असाइत का स्थान ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्व का है। गुजराती लोकनाट्य भवाई के जनक के रूप में भी उनकी ख्याति है।[3] उनकी रची हंसाउली रचना राजस्थानी भाषा में लिखित एक प्रेमाख्यान है। भारतीय मनसा में प्रेम के अमरत्व व जन्मजन्मान्तरों में भी संयोग की संभावना की भावना बहुविध व्याप्त है। विभिन्न योनियों में जन्म लेने पर भी सच्चे प्रेमी एक दूसरे के प्रति अपने अनुराग में दृढ़ रहते हैं। यह लोक विश्वास ही इस काव्य कथा का मेरु दण्ड है।[4] इसमें हंसावली और वत्स के प्रेम का निरूपण किया गया है।

असाइत एक उदार व्यक्ति थे। उन दिनों जैन व ब्राह्मण दोनों वर्गों में पटती नहीं थी। वे काफी अंश में एक दूसरे के प्रति असहिष्णु से थे। यद्यपि धर्म के नाम पर झगड़ा नहीं थी पर सहनशीलता का अभाव था। असाइत ने अपनी कृति हंसावली द्वारा इतना भाव संतुलन दिखाया कि उसे लोग[5] जैन कवि मानने लग गये। यह

१—जगदीश श्रीवास्तव डिंगल साहित्य—पृ० १२१
२—गुजरात विद्यासभा की हस्तप्रति
३—के० का० शास्त्री कवि चरित—भाग १—पृ० ४
४—गोवर्द्धन शर्मा राजस्थानी कवि भाग १—पृ० ११
५—मो० द० देसाई जैन गुर्जर कविओ—भाग १—पृ० ४१

कृति हंसावली अथवा हंस वच्छ चौपाई एक प्रेम काव्य है। यह जैन व अजैन दोनों प्रकार के सहृदयों या विद्वानों द्वारा समादृत हुई है। मतिशेखर नाम के एक जैन साधु ने इस कथा की मानस प्रसादन क्षमता व मनमोहकता से प्रभावित होकर इसी पूर्व भव चरित नाम से संवत् १५२१ में एक रास ग्रन्थ रचा। जिसमें हंसावली के पूर्व जन्म की कथा कही है। यह उसकी लोकप्रियता का एक उत्कृष्ट प्रमाण है। अपनी कृति में पाटण नगर का वर्णन करते हुए कवि इसी सम्प्रदाय सहानुभूति का परिचय देता है जिसमें वेदाभ्यासी ब्राह्मण व जैन मतावलम्बी श्रावकों का समान वर्णन करता है यथा—

ब्राह्मण वेद तणउ अभ्यासि वरि वाचइ वरणावरि वसि ।
वे सहस जिहां जिम वाणिया, बीय सहस माहि व्यवहारिया ।

असाइत ने 'हंसावली काव्य' की रचना सं० १४२७ में की थी यह बात की निम्न पंक्तियों से ज्ञात होता है-

सं० १४ पऊ बार मुणि वंच बउद्द ढावर चरित समंच ।
श्रावण चीर कथा रस गीत एहु पवाडु असाइत कहिउ ॥

इस दृष्टि से हंसावली हमारे पुराने प्रेमकाव्यों में से है। हिन्दी के भक्ति कालीन काव्यग्रन्थों यथा पद्मावत, रामचरित मानस के चौपाई दोहा पद्धति की परम्परा का अंकुर हमें अपभ्रंश साहित्य में मिलता है। हंसावली इस शृंखला की बीच की कड़ी है। इसमें मुख्यतः चौपाई है-बीच बीच में दोहों का प्रयोग है। तीन विभिन्न स्थलों पर विरहगीतों की रचना करके कवि ने अपनी विदग्धता व भावुकता का परिचय दिया है। ये विरह गीत तीन विभिन्न रागों में रचे गये हैं। उदाहरण के लिए यह गीत—

राग रामगिरी

राजकुमरि हियडु हसिउ पूरव प्रेम प्रसंग ।
जागि रावलिय रही घणी दुख दाझि अंग ।
चीवरि पंखीआ नयण नेह भरलाय ।
जिमि वन भूलि हरणली तिम हुं सामी साथ ।
झिलमिलती वन विचरती वेसी वर बीसाय ।
दीव सामी साहस धीर हु एकली निराश ।
मणि असाइत प्रम बलारि समरि सामणि कंत ।
हंसावली बगली हली, मरि प्रीउ मुखि मन्त ॥

प्रेम काव्य की भाषा सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ की तो निश्चित रूप से मानी जा सकती है यद्यपि कहीं कहीं भाषा में कुछ अपेक्षाकृत नवीनता का बोध होता है। जहां तक विषय वस्तु का प्रश्न है असाइत को नवीनता का श्रेय नहीं दिया जा सकता। 'हंसावली की रचना १४२७ विक्रमाब्द में हुई, किन्तु उससे भी पहले संवत्

१४११ में एक जैन कवि विनयप्रभ ने 'हंसवच्छ चौपाई' लिखी है। इसका अर्थ हुआ कि हंसवच्छ की प्रेमकथा लोक प्रचलित थी उसे ही असाइत ने विकसित किया है। संसार के चिर नवीन और चिर पुरातन प्रधान प्रेम को लेकर चलने वाला यह कथा काव्य अपने में लोक कथाओं के अनेकों तत्व सन्निहित किये है। इस तथ्य से मेरी मान्यता की पुष्टि ही होती है। हंसाउली का पूरा नाम 'हंसवच्छ चरित्र पवाड़ा' है और यह ४४० छन्द में समाप्त हुआ है। समूचा काव्य चार खंडों में विभाजित है। कविता में चमत्कार की प्रधानता नहीं है, अलंकारों की चमक दमक नहीं है किन्तु गम्भीर रसमयी भाषा का प्रवाह है। यथा स्थान कवि ने शृंगार, अद्भुत, हास्य व करुण रसों की सफल अभिव्यंजना की है।

(२) भीम सदयवत्स चरित्र[1]

सम्वत् १४६६ में लिखित कवि भीम विरचित 'सदयवत्स चरित्र' ६७२ कड़ियों का एक प्रेमाख्यान है। इसमें उज्जयिनी के राजा प्रभुवत्स और शालिवाहन की राजकुमारी सावलिंगा की प्रेम कहानी है। अनेक अवान्तर प्रसंगों से युक्त इस प्रेमाख्यान की भाषा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी है। इसी कथानक को लेकर अनेक जैन अजैन लेखकों ने सदयवत्स-सावलिंगा आख्यान लिखे हैं जो इसके लोकप्रिय कथानक के सूचक हैं। इस काव्य का रचयिता कवि भीम दुर्भाग्य से अपने उच्चकोटि के काव्य के अनुरूप प्र द्धि नहीं पा सका, किन्तु यह सब पर्याप्त जानकारी के अभाव में हुआ। यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि कवि भीम प्रणीत 'सदयवत्स चरित्र' काव्य की गणना प्राचीन राजस्थानी के श्रेष्ठ काव्य ग्रन्थों यथा रणमल्ल छन्द कान्हड़दे प्रबंध' 'ढोलामारू रा दूहा', 'माधवानल-कामकंदला आदि के समक्ष की जा सकती है।

कवि के जन्म, मृत्यु, बचपन, निवास, जीवन किसी के सम्बन्ध में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। कवि सहृदय है यह उसकी कविता की सरसता व चित्ताकर्षकता से जान पड़ता है। संस्कृत की अच्छी शिक्षा पाया हुआ था। यह उसके द्वारा रचित ग्रंथ के प्रारम्भ में रचित आर्याओं से जान पड़ता है, क्योंकि उनमें कोई त्रुटि नहीं दीख पड़ती। वह वैदिक धर्मावलम्बी है। ग्रंथ के प्रारम्भ में उसने ओंकार सरस्वती व गणपति की वन्दना की है। कवि का अपनी भाषा पर पर्याप्त अधिकार जान पड़ता है। कविता-कला की दृष्टि से भी वह सफल सिद्ध होता है। उसने प्रारम्भ में अपने काव्य के सम्बन्ध में घोषणा की है —

सिणगार हास करुणा रुद्दो वीरो भयाण बीभत्सो।
अद्भुत सांत नवइ रसि भणु चंपिसु सुदयवच्छस्स॥

कहना न होगा कि इस छोटे से काव्य ग्रंथ में कवि ने अपने कौशल से साहित्य के नवों रसों की उचित उद्भावना की है। कवि की भाषा तत्कालीन 'पुरानी

१—लालभाई दलपतभाई संस्कृति मंदिर की प्रति

२—राजस्थान भारती — भाग १, अंक १ में [illegible]

कृति हंसावली अथवा हंस वच्छ चौपाई एक प्रेम काव्य है। यह जैन व अजैन दोनों प्रकार के सहृदयों या विद्वानों द्वारा समादृत हुई है। मतिसुन्दर नाम के एक जैन साधु ने इस कथा की मानस प्रक्षालन क्षमता व मनमोहकता से प्रभावित होकर 'हंसावली पूर्व भव चरित्र' नाम से सम्वत् १५२१ में एक काव्य ग्रन्थ रचा। जिसमें हंसावली के पूर्व जन्म की कथा कही है। यह उसकी लोकप्रियता का एक उत्कृष्ट प्रमाण है। अपनी कृति में पइठाण नगर का वर्णन करते हुए कवि इसी सम्यक मनोवृत्ति का परिचय देता है जिसमें वेदाभ्यासी ब्राह्मण व जैन मतावलम्बी श्रावकों का समान वर्णन करता है यथा—

ब्राह्मण वेद शास्त्र अभ्यासि चारि वरण वरणोत्तरि वसि।
बे सहस जिहाँ जिन थापिया, बीस सहस माँहि व्यवहारिया।

असाइत ने 'हंसावली काव्य' की रचना सं० १४२७ में की थी, यह ग्रन्थ की निम्न पंक्तियों से ज्ञात होता है—

सं० १४ चउ वत्र सुभि क्षेप वछह सवर चरित मसंध।
वावन वीर कथा रस बीठ एह पवाडु असाइत कहिउ॥

इस दृष्टि से हंसावली हमारे पुराने प्रेमकाव्यों में से है। हिन्दी के भक्तिकालीन काव्यग्रन्थों यथा पद्मावत, रामचरित मानस के चौपाई दोहा पद्धति की परम्परा का अंकुर हमें अपभ्रंश साहित्य में मिलता है। हंसावली इस शृंखला की बीच की कड़ी है। छन्द मुख्यतः चौपाई है—बीच बीच में दोहों का प्रयोग है। तीन विभिन्न स्थलों पर विरहगीतों की रचना करके कवि ने अपनी विदग्धता व भावुकता का परिचय दिया है। ये विरह गीत तीन विभिन्न रागों में रचे गये हैं। उदाहरण के लिए यह गीत—

राग रामगिरी

राजकुंअरि हियडु हसि पूरव प्रेम प्रसंग।
जाति दावानल दही, जसी दुख दासि अ म।
पोयट पंखीया नयन नेह नरनाथ।
जिमि वन भूलि हरणली, तिम हुं सामी साथ।
झिलझिलती वन विचरती बैसी वर बीसास।
दीप सामी साहस बीठ हुं एकली निरास।
मंत्रि असाइत वन अन्तरि सभीर सामणि कंत।
हंसावली बरबी हसी, मांडि प्रीत मुधि मगन्त॥

प्रेम काव्य की भाषा सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ की तो निश्चित रूप से मानी जा सकती है यद्यपि कहीं कहीं भाषा में कुछ अपेक्षाकृत नवीनता का बोध होता है। जहाँ तक विषय वस्तु का प्रश्न है असाइत को नवीनता का श्रेय नहीं दिया जा सकता। हंसावली की रचना १४२७ विक्रमाब्द में हुई किन्तु उससे भी पहले संवत्

१४११ में एक जैन कवि विनयप्रभ ने 'हंसवच्छ चौपाई' लिखी है। इसका अर्थ हुआ कि हंसवच्छ की प्रेमकथा लोक प्रचलित थी, उसे ही असाइत ने विकसित किया है। संसार के चिर नवीन और चिर पुरातन प्रश्न प्रेम को लेकर चलने वाला यह कथा काव्य अपने में लोक कथाओं के अनेकों तत्व सन्निहित किये है। इस तथ्य से मेरी मान्यता की पुष्टि ही होती है। हंसाउली का पूरा नाम 'हंसवच्छ चरित पवाड़ा' है और यह ४४० छन्द में समाप्त हुआ है। सम्पूर्ण काव्य चार खंडों में विभाजित है। कविता में चमत्कार की प्रधानता नहीं है, अलंकारों की चमक दमक नहीं है किन्तु गम्भीर रसमयी भाव का प्रवाह है। यथा स्थान कवि ने शृंगार, अद्भुत, हास्य व करुण रसों की सफल अभिव्यंजना की है।

(२) भीम सदयवत्स चरित[1]

सम्वत् १४६६ में लिखित कवि भीम विरचित 'सदयवत्स चरित' ६७२ कड़ियों का एक प्रेमाख्यान है। इसमें उज्जयिनी के राजा प्रभुवत्स और शालिवाहन की राजकुमारी सावलिंगा की प्रेम कहानी है। अनेक आख्यान्तर प्रसंगों से युक्त इस प्रेमाख्यान की भाषा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी है। इसी कथानक को लेकर अनेक जैन अजैन लेखकों ने सदयवत्स-सावलिंगा आख्यान लिखे हैं जो इसके लोकप्रिय कथानक के सूचक हैं। इस काव्य का रचयिता कवि भीम दुर्भाग्य से अपने उच्चकोटि के काव्य के अनुरूप प्रतिष्ठा नहीं पा सका किन्तु यह सब पर्याप्त जानकारी के अभाव में हुआ। यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि कवि भीम प्रणीत 'सदयवत्स चरित' काव्य की गणना प्राचीन राजस्थानी के श्रेष्ठ काव्य ग्रन्थों यथा 'रणमल्ल छन्द', 'कान्हड़दे प्रबंध', 'ढोलामारू रा दूहा', 'माधवानल-कामकंदला' आदि के समकक्ष की जा सकती है।

कवि के जन्म, मृत्यु, बचपन, निवास, जीवन किसी के सम्बन्ध में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। कवि सहृदय है, यह उसकी कविता की सरसता व लालित्यमयता से जान पड़ता है। संस्कृत की अच्छी शिक्षा पाया हुआ था। यह उसके द्वारा रचित ग्रंथ के प्रारम्भ में रचित आर्याओं से जान पड़ता है क्योंकि उनमें कोई त्रुटि नहीं दीख पड़ती। वह वैदिक धर्मावलम्बी है। ग्रंथ के प्रारम्भ में उसने ओंकार, सरस्वती व गणपति की वन्दना की है। कवि का अपनी भाषा पर पर्याप्त अधिकार जान पड़ता है। कविता-कला की दृष्टि से भी वह सफल सिद्ध होता है। उसने प्रारम्भ में अपने काव्य के सम्बन्ध में घोषणा की है —

सिंगार हास करुणा रुद्दो वीरो भयाण बीभत्सो।
अद्भुत सांत नवइ रसि वसु चंपिसु सुदयवच्छस्स॥

कहना न होगा कि इस छोटे से काव्य ग्रंथ में कवि ने अपने कौशल से साहित्य के नवों रसों की उचित उद्भावना की है। कवि की भाषा तत्कालीन 'पुरानी

१—लालभाई दलपतभाई संस्कृति मंदिर की प्रति

२—राजस्थान भारती – भाग १, अंक १ में नाहटाजी का लेख

पश्चिमी राजस्थानी' है। भाषा के अध्येताओं के लिये यह ग्रंथ बड़े काम का है। तत्कालीन भाषा का बहुत कुछ स्वरूप इसमें सुरक्षित रह गया है। सदयवत्स के पूर्व जन्मों का भी वर्णन किया गया है। ऐसा करने में प्रेम कथा के शृंगार रस से उसका वीर और अद्भुत रस का निरूपण अधिक आगे बढ़ गया है। छन्दों की दृष्टि से दूहा, पद्धरी चौपाई, वस्तु, छप्पय, कुण्डलिया व मौक्तिक दामका प्रयोग किया गया है। कवि की शैली ओज और प्रसाद गुण सम्पन्न है। प्रत्येक छन्द का प्रयोग रस और विषय के अनुरूप किया गया है। अनेक स्थलों पर कवि ने घटनाओं का चित्रोपम सरस वर्णन किया है। ऐसा भान पड़ता है कि मानों हमारे सामने घटना घटित हो रही है।[1]

इतना सब होने पर भी कवि को किसी बात का अभिमान नहीं है—वह कहता है —

गुरु लहुअि केवि कवितज अरगुणरयण गुरुंछंदपमाउ ।
ए कंठठामि सयले करजुअल जोडी पणिमामि ॥

(२) नरपति नाल्ह बीसल दे रास

बीसलदे रास के निर्माता नरपति नाल्ह और उसके रचनाकाल के बारे में विद्वानों में मतभेद है। मोतीलाल मेनारिया विसलदेव रासो के रचयिता नरपति नाल्ह को सोलहवीं शताब्दी के एक गुजराती कवि नरपति से अभिन्न मानते हैं। वे हमारा ध्यान एक नई सम्भावना की ओर आकर्षित करते हैं—मालूम होता है कि मूल ग्रंथ गुजराती में था जिस पर किसी ने बाद में राजस्थानी का रंग चढ़ाया है।[3] और अपनी मान्यता के सिद्ध करने के लिए उन्होंने बीसलदे रासो और गुजराती कवि नरपति की रचनाओं में भाषा और अभिव्यक्ति का साम्य दिखाया है। आचार्य हजारीप्रसाद भी मानते हैं कि मेनारियाजी की मान्यता ठीक है।[4] उधर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और सत्यजीवन वर्मा उन्हें भाट मानते हैं किन्तु अगरचन्द जी नाहटा सेवग। डा० रामकुमार वर्मा नरपति नाल्हकी अपने आलोचनात्मक इतिहास में काफी प्रशंसा करते हैं। मेनारियाजी इसे १६वीं व सत्यजीवन वर्मा १३वीं सदी का कवि ठहराते हैं।

वस्तुतः कवि और उसके समय के बारे में हमारी जानकारी सीमित है और इस सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री के अभाव में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा

१—गोवर्धन शर्मा राजस्थानी कवि—भाग १-पृ० ५६

२—(क) सं० सत्यजीवन वर्मा बीसलदे रास।

(ख) सं० माताप्रसाद गुप्त बीसलदे रास।

३—मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य-पृ० ८८

४—हजारीप्रसाद हिन्दी साहित्य-पृ० ५२

सकता। हां इतना स्वीकार किया जा सकता है कि चौदहवीं सदी में इसकी रचना हो चुकी थी।[1]

इस ग्रन्थ का विस्तार २००० चरणों में है। इसमें चार खण्ड हैं। पहले खंड में ८५ छन्द हैं और मालवा के अधिपति भोज परमारकी लड़की राजमतीका बीसलदे के साथ विवाह वर्णित है। दूसरे खंड में ८६ छन्द हैं जिसमें बीसलदेव की राजमती के प्रति उदासीनता और उड़ीसा की ओर रणयात्रा का उल्लेख है। तीसरे खण्ड में १०१ छन्द हैं जिसमें राजमती का वियोग वर्णन और बीसलदेव का चित्तौड़ागमन है। चौथे खण्ड में ४२ छन्द हैं और भोजराज का आकर अपनी कन्या को ले जाना और बीसलदेव का पुनः राजमती को चित्तौड़ ले जाने का वर्णन है। ग्रन्थ में कुल ३१६ छंद हैं।

कथावस्तु पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कथा गीति रूप में होते हुये भी प्रबन्धात्मकता लिये हुए है। कथावस्तु अनेक प्रकार की घटनाओं से निर्मित है जिसमें वीररस की अपेक्षा शृंगार रस ही प्रधान स्थान प्राप्त कर सका है। भाषा यद्यपि अपने असंस्कृत रूप में है तथापि उसमें साहित्यिक सौन्दर्य की छटा यत्र-तत्र है।

लोकरंजन के लिये 'बीसलदेव रासो' में काव्य का सौन्दर्य मनोवैज्ञानिक ढंग से अनेक प्रसंगों में सजाया गया है। उसमें जीवन के स्वाभाविक विचार, गृहस्थ जीवन के सरस विश्वास अन्धविश्वास शकुन संस्कार, बारहमासा आदि बड़ी सरसता के साथ चित्रित किये गये हैं। स्थानीय प्रथाओं और व्यवहारों का भी बड़ा स्वाभाविक वर्णन है। इस प्रकार इस काव्य में स्थानीय अनुरंजन विशेष मात्रा में है।[3] बीसलदेव रासो के कुछ उदाहरण देखिये

स्थानीय अनुरंजन —

माणिक मोती चउक पुराय।
पीव पधारया राव का। राजमती वरी बीसलदेव।
हुई सोपारी मनि हरष्यो छइ राव। बाजिन बाजइ नीसांणी घाव।
मढ़ मांहि गूडी ऊछली। घरिघरि मंगळ तोरण भ्यारी ॥[3]

(४) कल्लोल ढोला मारूरा दूहा।

कुछ विद्वान 'ढोला मारूरा दोहा' नामक काव्य के रचयिता के रूप में कल्लोल को ग्रहण करने के लिये तत्पर नहीं हैं। उनकी धारणा में 'कल्लोल' नामक कवि शायद ही हुआ हो।[4] वहां दूसरी ओर डा० मोतीलाल मेनारिया इस काव्य

१—रामकुमार वर्मा हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० १४९
२—रामकुमार वर्मा हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० १४९
३—सत्यजीवन वर्मा बीसलदे रासो—पृ० ८-९
४—ठाकुर, स्वामी व पारीक ढोला मारू रा दूहा
५—ठाकुर, स्वामी व पारीक ढोला-मारू रा दूहा-भूमिका-पृ० २८

के रचयिता को 'कल्लोल' नाम से स्वीकार करते हैं।[1] 'ढोला-मारू रा दूहा' के सम्पादक तो यहां तक मानते हैं, कि यह किसी एक कवि की कृति नहीं है—'कल्लोल' की कवि रूप में कल्पना करना अनुचित है। किन्तु मेनारियाजी निम्न दोहे की साक्षी पर इस लोकप्रिय काव्य के कर्ता को 'कल्लोल' ठहराते हैं।

> गाहा गूढा गीत रस, कवित कथा कल्लोल।
> चतुर-तण मन रीझवै, कहिया कवि कल्लोल॥

मेरी तो निश्चित मान्यता है, चाहे हम इस ग्रन्थ को 'कल्लोल' रचित मानें या न मानें, किन्तु इसे किसी कवि की रचना तो मानना ही होगा। 'ढोला-मारू रा दूहा' में अनेक लोकगीत परम्पराओं और लोकवार्ताओं की विशेषताओं का पालन हुआ है, किन्तु केवल इसी आधार पर हम इसे किसी कवि की कृति होने से रोक नहीं सकते। यह आधार इतना लचर है कि इसे सही मान लेने पर हमें समूचे सूफी प्रेमाख्यानों को भी किसी कवि द्वारा रचित मानने से इन्कार करना पड़ेगा। ऐसा करना कितनी भयंकर भूल होगी, इसे समझा जा सकता है। और फिर कालान्तर में ऐसी भूल का परिमार्जन होना भी दुष्कर हो जाता है। ढोला मारू रा दूहा के विद्वान सम्पादकों के अनुसार 'ढोला-मारू' की प्रेम गाथा को किसी व्यक्ति विशेष की कृति न मान कर भी हमको यह कल्पना करने में कठिनाई नहीं होती कि यह काव्य मौखिक परम्परा के प्राचीन काव्य युग की एक विशेष कृति है—और अन्त में मौखिक परम्परा से चला आता हुआ यह काव्य हमको किसी विशेष कवि की कृति के रूप में नहीं मिला, बल्कि जनता के काव्य के रूप में उपलब्ध हुआ है और अपनी मान्यता की पुष्टि बड़े सुन्दर ढंग से तर्क संगत व्याख्या की है। 'ढोला-मारू रा दूहा' मौखिक परम्परा में होने मात्र से लोकगीत परम्परा में नहीं आ जाते। जायसी के पद्मावत को फकीर गाते फिरते थे और नागमती के विरहवर्णन को एक भिखारी से सुन कर ही अमेठी के राजा ने जायसी को सम्मान दिया था। अतः वियोग वर्णन अथवा बारहमासा को आसानी से मौखिक परम्परा के अन्तर्गत माना जा सकता है। पर इससे कैसे इन्कार किया जा सकता है कि यह एक कवि विशेष की कृति नहीं है। अतः हम इस प्रसिद्ध काव्य के रचयिता के रूप में कल्लोल को ही सम्मान देंगे।

कवि कल्लोल स्वयं बड़ा गुणी था। वह साहित्य-शास्त्र को भली प्रकार समझता था और अपने समय से पहले की साहित्यिक रचनाओं से परिचित था। साहित्यिक परम्पराओं व अपभ्रंश प्राकृत कविताधारा का उसने भली प्रकार अवगाहन किया था। उसकी रचनाओं में हमें ऐसी रूढ़ियां मिलती हैं, जो एक ओर कवि की साहित्यिक परम्परा प्रवीणता की उद्घोषणा करती हैं और उसे अपभ्रंश काव्य पद्धति से पूर्ण परिचित सिद्ध करती हैं वहां दूसरी ओर उसे लोकमानस में अप्रतिम स्थान दिलाने की घोषणा करती है। यही कारण है कि 'ढोला-मारू रा दूहा' कुशल कवि

1—मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ० १०१

के काव्य-कौशल से जहां एक ओर लोकवार्ता से अभिप्रता स्थापित करने का यत्न करता है वहां दूसरी ओर शास्त्रीय काव्यों की अनेक बातों में बराबरी करता है। जान पड़ता है कि कवि का साहित्यिक अध्ययन गहरा था। उसने प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश व देशभाषा साहित्य की भावना को भला प्रकार समझा था। कवि के अनेक उपमान मौलिक होते हुये भी परम्परा के तर्कसंगत विकास के रूप में लिये जा सकते हैं। कवि ने अनेक स्थलों पर कवि-समयों व काव्य प्रसिद्धियों का प्रयोग किया है, जो इसके सुशिक्षित व काव्यकला प्रवीण होने का परिचायक है। अपनी मान्यता की पुष्टि के निम्न दोहे विचारार्थ प्रस्तुत कर रहा हूं —

मारवणी इम बीनवई, घणी आघूणी राति।
गाहा-गूढा-गीत-गुण सहि का नवली भाति।
गाहा-गीत-विनोद रस सगुणां दीह लियंति।
कइ निद्रा, कइ कलह करि मूरखि दीह गमंति॥

'मारवणी ढोला से यों विनय करती है कि आपकी रात भग्न है। आज कोई गाथा या पहेली गीत या सुभोक्ति, या कोई नवीन कथा कहिये क्योंकि गुणवान मनुष्यों के दिन गाथा गीत और विनोद के रस में बीतते हैं और मूर्ख या तो नींद में या कलह में दिन बिताते हैं। काव्य विनोदों से समय बिताने की कल्पना कोई नई नहीं है। कादम्बरी से लेकर अपभ्रंश-काव्यों तक इस परम्परा के दर्शन होते हैं।[1] अत कल्लोल द्वारा रचित ये दो दोहे उसको सुशिक्षित काव्य शास्त्र का ज्ञानी और परम्पराओं का सजग प्रहरी सिद्ध कर देते हैं। कल्लोल मध्ययुगीन व्यवस्था का द्योतक है और इसीलिये जीवन के विस्तृत क्षेत्र को काव्य विषय के रूप में चुन कर भी उसने थोड़े प्रसंगों पर लिखा। उसे वर्ण्यवस्तु को सरस बनाना आता था। अत प्रसंगों को चित्रित करने पर भी वह जीवन और विषय-वस्तु के साथ न्याय कर सका। 'ऋतुवर्णन की अपनाई गई परिपाटी भी उसकी कविता को निष्प्राण नहीं बना सकी। 'कल्लोल' कविता के अभावों व उपलब्धियों से परिचित था। अत वह अनेक दोषों को बचा गया और अनेक विशेषताओं को अपनी कविता में गूंथ गया। उसने वर्णन के फेर में पड़ कर तत्कालीन कवियों की भांति वस्तुओं की दीर्घ सूचियों का प्रणयन नहीं किया। मानव के दुख-सुख, प्रेम-तृषा व्यंग-विनोद संयोग-विरह अनुराग-जलन, भावुकता कर्तव्य रोष-दया आदि अनेक भावनाओं की अभिव्यक्ति कवि की सबसे बड़ी विशेषता है। इसीलिये 'ढोला-मारू रा दूहा' भाव प्रवणता, सरसता और मार्मिकता आदि अपने विशिष्ट गुणों के कारण जनजीवन में उच्चासन पा सके हैं। सैंकड़ों व्यक्तियों की जिह्वा पर आज भी ये दोहे आसीन हैं। उसके जनसम्पर्क ने उसे बहुमुख अन्तर्दृष्टि दी जिसके फलस्वरूप उसका काव्य राजस्थान का जातीय काव्य बन गया है। स्थानीय परिस्थितियां भौगोलिक स्थिति राजस्थानी जीवन की महानता मानव स्वभाव की यथार्थता देशकाल, वातावरण और सबसे बढ़ कर प्रभाव-ऐक्य ने उसकी कविता को सर्वग्राह्य बना दिया है। कल्लोल निसंदेह

1—हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्यका मर्म—पृ० ११

राजस्थानी का सबसे अधिक लोकप्रिय काव्य है। उसने अनेक कवियोंको प्रभावित किया है। उसकी कथा को आधार बना कर अनेक चित्रमालायें तैयार की गई हैं। अनेक लोकगीत गायकों ने 'ढोला-मारू' के गीत युग-युग से गाये हैं। यहां तक कि शिल्पकारों ने ढोला-मारू' की मूर्तियां तक गढ़ी हैं। राजस्थानी वातावरण की जीवित झांकी हमें 'ढोला-मारू रा दूहा' में मिल जाती है।

(५) कुशल लाभ ढोला-मारू चउपई, माधवानल कामकंदला

अनेक जैन आचार्यों द्वारा राजस्थानी साहित्य की अमर सेवा की गई है। ऐसे ही एक जैन आचार्य कुशललाभ थे, जिन्होंने राजस्थानी भाषा और साहित्य की अपूर्व सेवा की। उसकी गोद अमर कृतियों से भरी और बदले में स्वयं चिरस्थायी यश के स्वामी बने। कुशललाभ का जन्म कहां हुआ? शिक्षा कहां मिली और उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर आचार्यत्व कब ग्रहण किया, इस सम्बन्ध में अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के अभाव में निश्चित तौर पर कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। अनुमान लगाया जा सकता है कि आपका जन्म विक्रम संवत् १५८० के लगभग हुआ होगा। इसी प्रकार से इनकी भाषा की भंगिमा के आधार पर कल्पना की जा सकती है कि इनका जन्म मारवाड़ में हुआ होगा। ये खरतर गच्छ के उपाध्याय अभयधर्म के शिष्य थे ऐसा इनके ग्रन्थों की पुष्पिकाओं से ज्ञात होता है। किन्तु इनकी शिष्य परम्परा को जानने योग्य सूत्र प्राप्त नहीं है।

जैन कवियों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होंने बहुधा बोलचाल की भाषा में ही अपनी कविता रची है। इस प्रकार जहां एक ओर उन्होंने जनसाधारण के लिये उन्हीं की रोजमर्रा की भाषा में सुन्दर रचनायें प्रस्तुत की, उसी प्रकार अनजाने ही भाषा विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण तत्कालीन भाषा के स्वरूप की भी रक्षा की है। कुशल लाभ ने बोलचाल की भाषा में तो सुन्दर, सजीव रचनाएं लिख कर अपने पांडित्य और भाषा चातुर्य का परिचय दिया ही है, किन्तु उन्होंने 'पिंगलशिरोमणि' ग्रंथ की रचना कर तत्कालीन साहित्यिक भाषा डिंगल पर अपने अधिकार की भी साक्षी प्रस्तुत कर दी है। यथावधि प्राप्त ग्रन्थों की सूची निम्न है (१) ढोला मारूरी चउपई (२) माधवानल काम कंदला चउपई (३) तेजसार रास (४) अगड़दत्त चउपई (५) स्तंभन पार्श्वनाथ स्तवन (६) पीढ़ी छन्द (७) नवकार छंद (८) भवानी छंद (९) पूज्य वाहण गीत (१०) जिन पालित जिन रक्षित संधि गाथा (११) पिंगल शिरोमणि (१२) देवी सातसी [१३] धणु पयसंघ विवरण।

कुशल लाभ के जीवन का अधिकांश समय राजस्थान और निकटवर्ती प्रदेशों सौराष्ट्र-गुजरात आदि में ही बीता होगा, ऐसा इनकी भाषा के आधार पर कहा जा सकता है। इनकी भाषा में गुजराती का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है जो एक जैन आचार्य होने के नाते स्वाभाविक ही था। 'ढोला-मारू री चउपई' और 'माधवानल कामकन्दला चउपई' इनकी बहुत लोकप्रिय रचनायें हैं। ये दोनों रचनायें परम्परा प्रथित प्रेमाख्यान हैं और प्रकाशित हो चुके हैं। 'ढोला मारू री चउपई' का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'ढोला-मारू रा दूहा' में परिशिष्ट

के रूप में हुआ है। इसी प्रकार 'माधवानल कामकन्दला चउपई' का प्रकाशन 'प्राच्य संस्थान, बड़ौदा' से प्रकाशित कवि गणपति विरचित 'माधवानल कामकन्दला के परिशिष्ट रूप में हो चुका है। 'पिंगल शिरोमणी' का एक अंश परम्परा के डिंगल कोष अंक में निकल चुका है। 'स्तंभन पार्श्वनाथ स्तवन और पुण्यवाहण गीत' भी गुजराती विद्वानों द्वारा सम्पादित व प्रकाशित किये जा चुके हैं। शेष रचनाएँ अभी अप्रकाशित हैं।

जैसलमेर के रावल मालदेव के युवराज हरराज के लिए इन्होंने संवत् १६१७ में राजस्थान की प्रसिद्ध प्रेमकथा 'ढोलामारू' को चौपाईबद्ध किया। इसी प्रकार 'माधवानल कामकन्दला' की रचना भी इन्हीं युवराज के लिए की गई। प्रस्तुत दोनों कृतियाँ बड़ी सरस और गतिमान हैं। इन्हें पढ़कर समता है कि कुशल लाभ को कहानी कहना आता था और ढंग से आता था। कथा प्रवाह अक्षुण्ण बना रहता है। रोचकता में कमी नहीं आती। भाषा समतल आन पड़ती है, जो कवि के भाषा पर अच्छे अधिकार की द्योतक है। तीसरी महत्त्वपूर्ण कृति पिंगल शिरोमणि ग्रन्थ है। प्रस्तुत रचना अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यह अनूठा ग्रन्थ मारवाड़ी भाषा—में तत्कालीन साहित्यिक भाषा में लिखा गया है और नाहटाजी के मतानुसार अद्यावधि प्राप्त मारवाड़ी भाषा के छन्द ग्रन्थ के रूप में सर्वप्रथम है और इसमें एक प्रकरण 'डिंगल नाममाला' का भी है। यह प्रयोग (सत्रहवीं शताब्दी तक मारवाड़ी के लिए 'डिंगल' का उपयोग शुरू हो गया था) इस ओर संकेत करता है और इस प्रकार से विद्वानों की इस धारणा का कि डिंगल का प्रथम प्रयोग संवत् १८७१ में मिलता है[२] खण्डन करता है। इन सब दृष्टियों से कुशल लाभ की रचनाओं का महत्त्व असाधारण है।

इसी परम्परा में कवि जान के प्रेमाख्यान कुतबदीन का लीलावती रास आदि रचनायें ग्रहीत की जा सकती हैं। अस्तु।

हम पहले देख आये हैं कि डिंगल साहित्य में मुक्तक रचनाओं की बहुलता है। कुछ मुक्तक पद एक ही विषय से सम्बन्धित होने के कारण एक साथ संग्रहीत होकर कथा नाम पा लेते हैं—जैसे ईसरदास का हालां झालांरा कुण्डलिया सूर्य्यमल कृत वीरसतसई, बांकीदास की बवक पच्चीसी आदि। ऐसी ही एक रचना ढोलामारू रा दूहा का परिचय हम पा चुके हैं। इनके अतिरिक्त बहुत बड़ी तादाद में सारी कविता लिखी गई है जिसमें डिंगल गीतों के माध्यम से राजस्थानी जनजीवन और इतिहास मुखर हो उठा है। डिंगल मुक्तक काव्य परिमाण शैली और वैविध्य में इतना अधिक है कि वह एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है।

जहाँ तक डिंगल गीतों के अध्ययन का प्रश्न है उसका विकासात्मक ऐतिहासिक और रूपात्मक अध्ययन चौथे अध्याय में विस्तारपूर्वक किया गया है। इनका

१—मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० ११

२—सीताराम शर्मा राजस्थानी कवि, भाग २, पृ० २१-२२

इनका शास्त्रीय अध्ययन परिशिष्ट एक में प्रस्तुत है अतः उस पर यहां विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। अब हम प्रमुख डिंगल के मुक्तक कवियों एवं उनकी प्रमुख रचनाओं का परिचय प्राप्त करेंगे।

बारठ आसा

इनका जन्म संवत् १५६१ के लगभग हुआ।[1] इनके पिता का नाम सीधा था जो जोधपुर राज्य के भाद्रेस गांव के निवासी थे। ये जोधपुर के राव मालदेव के कृपापात्र थे। इनकी लिखी निम्न रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं।

(१) रावल माला रो गुण
(२) सखमनामण
(३) गोगाजी री पेड़ी
(४) गुण निरंजन प्राण
(५) उमादे भटियाणीरा कवित्त
(६) राव चन्द्रसेणरा रूपक
(७) बाघजी रा दूहा

'रावल मालारो गुण' में कवि ने ८७ छन्दों में राव मल्लीनाथका गुणगान किया है। 'राव चन्द्रसेणरा रूपक अंबर लंक गु जामे बारठरा कह्या' एक अनोखी रचना है। इसमें कवि ने २६ विभिन्न छन्दों में राव चन्द्रसेन के सम्बन्ध में लिखा है। एक प्रकार से प्रस्तुत रचना २६ छन्दों का कोष है। गुण निरंजन प्राण एक भक्ति-रस की रचना है। इसमें भगवान् की महिमा उसके निराधि-निर्गुण रूप-रूप तथा सांसारिक असारता का निरूपण है। उमादे भटियाणीरा कवित्त-मारवाड़ की प्रख्यात रूठी रानी—उमादे के सम्बन्ध में रचे गये मुक्तक हैं। एक नमूना देखिये—

सज सोळै सिणगार, सत्तवत अंग समाहि।
बारह बार मुख ऊग, नीर, गंगाजल नाहि।
चीर पहर चढ़ गई मुकट मेली सिर छूटी।
देती परदखिणाह हंस गत रानी हूती॥
गुर मूषण पैस लीधा सरण साम तणो मन रंजियो।
अखणी राव सू, भटियाणी इम भंजियो॥

सोलह शृंगार सजाकर शरीर में सत्यव्रत को धारण किये हुए जिसके मुख से मानो बारह सूर्य उगे हैं ऐसी भटियाणी उमादे ने गंगाजल से स्नान किया। वस्त्र पहन घोड़े पर सवार हो शिरोभूषण चोटी और बालों को खोल प्रदक्षिणा देती हुई हंस की गति से चलकर रानी स्वर्ग में पहुँची। स्वामी मालदेव का मन प्रसन्न हुआ। इस प्रकार उमादे ने राव मालदेव से अपना रूठना दूर किया।

१—किशोरसिंह हरिरस-महात्मा ईसरदास का जन्मकाल-निर्णय निबन्ध के अन्तर्गत

बाघजीरा दूहा—इनके मित्र बाघा कोटड़िया की मृत्यु पर लिखे इनके हार्दिक उद्गार हैं। अपनी मर्मस्पर्शिता में ये अद्भुत हैं। आज भी इनका करुणरस आँखें आर्द्र कर देता है।

ईसरदास —

ईसरदास का जन्म सम्वत् १५९५ की चैत्र सुदी नवमी को जोधपुर राज्य के अन्तर्गत भाद्रेस नामक गाँव में एक चारण परिवार में हुआ। इनके पिता का नाम सुजाजी व माता का नाम अमर बाई था। डिंगल के प्रौढ़ कवि आशानन्द, जो अपनी चतुराई के लिये मारवाड़ नरेश राव मालदेव के बहुत प्रिय थे इनके चाचा और काव्यगुरु थे। ईसरदास के जन्म को लेकर निम्न दोहा प्रचलित है, जिससे उक्त कथन का समर्थन होता है —

पनरासो पिच्यासवे, जनम्यां ईसरदास।
चारण वरण चकार में, उण दिन हुओ उजास॥

तत्कालीन सामाजिक वातावरण के अनुरूप ही चवदहवें वर्ष में ही इनका विवाह कर दिया गया था। बालक ईसरदास अपना बाल्य भी नहीं समाप्त पाया था कि उसके माता पिता का देहान्त हो गया। ईसरदास के चाचा आशानन्द स्वयं बड़े कवि थे और डिंगल में प्रौढ़ कविता किया करते थे। ऐसे गुणी चाचा की छत्रछाया में ईसरदास काव्यशिक्षा व जीवनोपयोगी व्यावहारिक शिक्षा भी पाते रहे। इक्कीस वर्ष की आयु में इनकी पत्नी देवलबाई का देहान्त हो गया। देवलबाई के समान पति-भक्ति-परायण पत्नी के स्वर्गवास से इन्हें बड़ी ठेस पहुँची और संसार के सभी सुखों के प्रति इनके मन में विरक्ति हो उठी।

और एक दिन ईसरदास अपने काका आशानन्द के साथ द्वारका यात्रा को निकले। मार्ग में जामनगर में पड़ाव डाला गया। रावल जाम उस समय जामनगर में अधिपति थे। उन्होंने डिंगल के इन दोनों कवियों का अच्छा सम्मान किया। द्वारका यात्रा से लौट आने पर ईसरदास को तो रावल जी ने जामनगर में ही रोक लिया। उन्हें करोड़ पसाव व कुछ गाँव दिये और अपना पोल पोत बना लिया। यथा—

कोड़ पसाव ईसर कियो, दियो सचाणो गाम।
दाता सिरोमण देखियो जगसर रावल जाम॥

यहीं पर रावल जी के आग्रह और प्रयत्नों से इनका दूसरा विवाह भी हो गया। जामनगर दरबार में पीताम्बर भट्ट नामक राजपण्डित थे जो संस्कृत के बड़े अच्छे जानकार और दर्शन धर्मशास्त्र पुराण आदि के अच्छे ज्ञाता थे। ईसरदास ने ऐसे गुणवान प्रकाण्ड पण्डित के सम्पर्क में आकर बहुत सी बातें सीखीं। अपने 'हरि-रस' नामक ग्रन्थ में इन्होंने अपने गुरु पिताम्बर भट्ट का आभार प्रदर्शित किया है —

लागू हूं पहली लुलै, पीताम्बर गुर पाय।
भेद महारस भागवत, प्रम्यूं जाह पसाय॥

अर्थात् जिनकी प्रशंसा (कृपा) से मैंने भगवत् सम्बन्धी महारस का भेद प्राप्त किया उन्हीं पीताम्बर गुरु के चरणों को मैं सबसे प्रथम शुरू कर स्पर्श करता हूं।

रावल नाम के अतिरिक्त, इनका संबंध मारवाड़िया बीका गुलावत, जोडेचा जाडा हरदमलोत, झाला रायसिंह आदि से भी रहा है। इसका पता इनके विभिन्न बिखरे हुए डिंगल गीतों से लगता है।[1] इनके निम्नलिखित ग्रन्थ बताये जाते हैं।[2]

[१] हरिरस [२] छोटा हरिरस [३] बाललीला [४] गुण भागवत हंस [५] गरुड़ पुराण [६] गुण आगम [७] निंदा स्तुति [८] देवियाण [९] गुण वैराट [१०] सभापर्व (११) हालां झालां रा कुण्डलिया (१२) रास कैलास और (१३) दानलीला।

कुछ और रचनाओं का भी पता चलता है यथा—गुण सभापर्व करणाख्यान तथा रासलीला। प्रतीत होता है 'गुण सभापर्व' और सभापर्व एक ही रचना है। इसी प्रकार रासलीला संभवतः रासकैलास से अभिन्न होगी। छोटा हरिरस जैसा कि नाम से विदित होता है, स्वतंत्र ग्रन्थ प्रतीत नहीं होता अपितु हरिरस का ही संक्षिप्त संकलन ग्रन्थ होना चाहिए। सात पदों वाले एक छोटे हरिरस का प्रकाशन भी हो चुका है। इनके अतिरिक्त दो प्रकार की फुटकर रचनाएं और मिलती हैं। पहले प्रकार में कवि के विभिन्न ऐतिहासिक गीत और दूसरे में भक्ति सम्बन्धी फुटकर पद और गीत आदि सम्मिलित हैं। इनमें हालां झालां रा कुण्डलिया और ऐतिहासिक तथा फुटकर पद और गीत आदि सम्मिलित हैं। इनमें हालां झालां रा कुण्डलिया और एतिहासिक तथा फुटकर रचनाओं को छोड़ कर शेष सभी रचनाएं एक प्रकार से स्तोत्र काव्य हैं।

हालांझालां रा कुण्डलिया

यह ५० कुण्डलियों का एक संकलन ग्रन्थ है, जिसका सम्पादन डा० मोतीलाल मेनारिया ने किया है। यह रचना हलवद नरेश झाला रायसिंह और ध्रोल राज्य के ठाकुर हाला जसा जी के बीच हुए युद्ध की स्मृति-स्वरूप रची गई है। रायसिंह जी जसा जी के भानजे थे। डा० मेनारिया ने इस विषय में प्रचलित एक कहानी का उल्लेख किया है। एक बार रायसिंह जी जसा जी से मिलने ध्रोल आये। दोनों चौपड़ खेल रहे थे कि इतने में नगाड़े की आवाज सुनाई दी। जसा जी ने क्रोध से कहा कि ऐसा कौन जोरावर है जो मेरे गांव की सीमा में नगाड़ा बजा रहा है? जब पता लगा कि नगाड़ा दिल्ली के किसी मठाधीश 'मकनभारती' की हिंगलाज यात्रा को जाती हुई जमात का बज रहा है तब बोले 'कोई हर्ज नहीं बजने दो। यह सुन कर रायसिंह जी बोले कि गांव के रास्ते में नगाड़ों का बजना तो बिल्कुल स्वाभाविक है यह तो वीर जमातका नगाड़ा है यदि किसी राजा का होता तो आप क्या कर

१—नरोत्तम स्वामी राजस्थानी वीर गीत-भाग १ में
२—झवेरचन्द मेघाणी चारणो अने चारणी साहित्य-पृ० १८६

लिते ? बसा जी ने तुरन्त उत्तर दिया कि ऐसी हालत में मैं उनको छोड़ कर भिजवा देता। यह बात रायसिंह जी को भी चुभ गई। बोले-ठीक है यहां मेरा नगाड़ा बजेगा और वे उठ कर हजबर चले आये। कुछ समय पश्चात् रायसिंह जी ने दलबल सहित बोस में जाकर नगाड़ा बजाया। रायसिंह जी को बसा जी ने समझाया, पर सब व्यर्थ। अन्त में बसा जी को रणभूमि में उतरना पड़ा। और युद्ध में, बसा जी काम आए और रायसिंह जी भी घायल हुए। युद्धारम्भ से पहले रायसिंह जी और बसाजी दोनों ने कवि ईसरदास से युद्ध का आंखों देखा वर्णन करने की प्रार्थना की थी, जिसके फलस्वरूप इस काव्य का प्रणयन हुआ। यह लड़ाई संवत् १६२० में हुई थी। इतिहास से इस लड़ाई का तो समर्थन होता है, किन्तु उसके कारणों के सम्बन्ध में मतभेद है।

यह वीररस की फड़कती हुई रचना है और राजस्थानी भाषा की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में इसका स्थान है। इसकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि बहुत से छन्दों के पहले चरणों में कोई सिद्धान्त-वाक्य कह कर बाद के चरणों में दृष्टान्तस्वरूप में, उसे युद्ध में लड़ने वाले वीरों पर घटा कर दिखाया है। कुछ ऐसे वाक्य नीचे दिए जाते हैं —

(१) एकौ सावां माग में सीह कही के सोम।
सूरां केपी कोड़ियो कलहन कैपी होम ॥ ८ ॥

(२) साहूळी भाषा समी दिवी न कोय निर्वत।
हाक विडाणी किम सहै, घन गजियै मरंत ॥ ९ ॥

(३) सीहणि हेकौसहि जणि छापरि मंडै आणि।
दूध विटाळण कापुरस बोहला जणै सियाणि ॥ १० ॥

कवि का हरिरस तो आज भी अनेक घरों में गीता की तरह पवित्र माना जाता है। उसका नियमित रूप से पाठ होता है।

दुरसा आढ़ा

सोजत परगने के धूंदला नामक गाँव में सं० १५९२ में बालक दुरसा का जन्म हुआ। इनके पिता बहुत गरीब थे और जब दुरसा ६ वर्ष के ही थे, इनका देहान्त हो गया। कहते हैं पितृ-संरक्षा-विहीन दुरसा को बगड़ी के ठाकुर ने पढ़ाया लिखाया और योग्य बनाया। कवि दुरसा ने स्वयं स्वीकार किया है —

माथै धावीबाई बलम तणी ज्यावर तिती।
सोहड़ सुकवावां ह, पालनहार प्रताप सी ॥

(वीरों और सुकवियों का पालन करने वाले हे प्रतापसिंह ! बगड़ी के ठाकुर ! माता के जन्म दान देने के समान मेरे सर पर तेरा अहसान है।)

डिंगल के अन्यान्य कवियों की भाँति ही दुरसा आढ़ा कलम और तलवार दोनों के धनी थे। वे कुशल योद्धा थे। सुना जाता है कि सं० १६४० में जिस समय

सम्राट अकबर ने सिसोदिया जगमाल की सहायता के लिए जोधपुर के रायसिंह और दांतीवाड़ा के कोलीसिंह की अध्यक्षता में सिरोही नरेश सुरताण के विरुद्ध सेना भेजी तो दुरसा आढ़ा भी वहीं सेना के साथ थे। दत्ताणी नामक स्थान पर भयंकर युद्ध हुआ। कवि आढ़ा ने इस अवसर पर युद्ध चातुर्य का शानदार प्रदर्शन किया, परन्तु वे घायल हो गये। घायल अवस्था में ही रावसुरताण की आज्ञानुसार एक व्यक्ति इन्हें मारने के लिए आगे बढ़ा तो इन्होंने अपने प्राणों की भिक्षा एक चारण के नाते मांगी। राव सुरताण ने जांच के बाद जब पाया कि दुरसा स्वयं चारण भी है, तो वह उन्हें उठा अपने साथ ले गया और उसने उनकी चिकित्सा की समुचित व्यवस्था कर दी।

कवि ने बहुत लम्बी उम्र पाई थी, अतः अनुमान किया जा सकता है कि इन्होंने प्रचुर परिमाण में लिखा होगा। अभी तक इनकी विरुद्ध-छिहत्तर की ही अधिक चर्चा हुई है, किन्तु खोज करने पर इनकी कुछ बड़ी रचनाओं का और पता चलता है। ये सभी फुटकर रचनाएं हैं। कवि की कुछ अपेक्षाकृत बड़ी रचनाओं के नाम ये हैं —

(१) विरुद्ध छिहत्तरी।
(२) किरतार बावनी।
(३) राव श्री सुरताण रा कवित्त (११ कवित्त)
(४) दूहा सोलंकी वीरमदेजी रा (१० दोहे)
(५) झूलणा रावत मेघारा (१७ छन्द)
(६) गीत राजि श्री रोहितास जी रौ (10 गीत, १ कवित्त और २ दोहे)
(७) झूलणा राव श्री अमरसिंह जी गजसिंहोत रा (६४ छन्द)
(८) श्री कुमार अज्जाजी नी भूचर मोरी नी गजगत। इसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

इनके अतिरिक्त इनकी अनेक फुटकर रचनाएं विविध छन्दों और गीतों के रूप में विभिन्न हस्तलिखित पुस्तकों के संग्रहालयों में मिलती हैं। एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता की हस्तलिखित प्रतियों में ६० के लगभग गीत भी मिलते हैं।

सूर्यमल्ल

महाकवि सूर्यमल्ल का जन्म चारणों की मिश्रण शाखा के एक प्रतिष्ठित कुल में संवत् १८७२ में बूंदी में हुआ। इनका परिवार बूंदी नरेशों का कृपापात्र था और इसीलिये महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण को एक बना बनाया आश्रय मिल गया। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि देव की भांति इन्हें इधर उधर भटकना नहीं पड़ा।

सूर्यमल्ल का शास्त्रीय ज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा था। वे संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश, डिंगल आदि अनेकों भाषाओं के विख्यात विद्वान थे। वे छन्द शास्त्र, धर्मशास्त्र चौदह विद्याओं मीमांसा व्याकरण न्यायशास्त्र शालिहोत्र, दर्शन इतिहास आदि विषयों के अच्छे जानकार थे। बूंदी नरेश रामसिंह जी की आज्ञा से इन्होंने विक्रम

संवत् १८९७ में 'वंश भास्कर' नामक एक बृहदाकार काव्यग्रन्थ रचा था जिसमें बूंदी राज्य का इतिहास वर्णित है। इस इतिहास में प्रसंगवश राजस्थान की अन्य रियासतों से सम्बन्धित इतिहास भी थोड़ा बहुत आ गया है। भारतीय कवि इतिहास को प्रायः गम्भीर दृष्टि से नहीं लेता। ऐतिहासिक घटनाओं के शुष्क कंकाल को अपनी कल्पना की तूलिका से और काव्यानुभूति से सजीव पुतला बना कर हमारे सामने रख देता है ऐसा करने में प्रायः ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना हो जाती है। हमारे अधिकांश वीर काव्यों में यथा-पृथ्वीराज रासो, हम्मीर रासो आदि में हमें यही प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। पर 'वंश भास्कर' इसका अपवाद है। यह शुद्ध ऐतिहासिक मूल्यों पर ठीक उतरता है। 'वंश भास्कर' की भाषा को लेकर विद्वानों में कुछ मतभेद रहा है। वस्तुतः इसकी भाषा पिंगल है जो कृत्रिम डिंगल का अनुकरण करती ज्ञात होती है।

उनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वीर सतसई' है और अपूर्ण है। यह डिंगल का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। 'वंश भास्कर' उत्कृष्ट इतिहास ग्रन्थ होने पर भी कवि की प्रतिनिधि रचना के रूप में गृहीत नहीं किया जा सकता। इस सम्मान की अधिकारी तो हमारी 'वीर सतसई' ही है। लगभग ३०० दोहों में कवि ने जिस कौशल और नैपुण्य के साथ राजस्थान की वीर भावना को व्यक्त किया है, वह आश्चर्यजनक है। राजस्थान की परम्पराओं वीरों के उत्साह कायरों की आशंका, क्षत्रियों की भावनाएं और तत्कालीन परिस्थितियों का इससे अधिक ज्वलंत चित्र शायद ही कहीं मिले। उनका भावानुरंजित और ओजपूर्ण वर्णन निसंदेह उच्चकोटि का है। भाषा प्रवाह युक्त और प्रांजल है। अभिव्यक्ति सहज है। कवि हमारे मर्मस्थल को मानों प्रभावित करता चलता है। इनका तीसरा ग्रन्थ 'बलवन्त विलास' है जिसमें रतलाम नरेश बलवन्तसिंह के चरित का वर्णन है। चौथी रचना छंदोमयूख नामक एक छंद शास्त्र है। कहा जाता है कि इन्होंने 'सातुरूपावली' तथा 'सती रासो' नामक दो ग्रन्थ और भी रचे थे परन्तु ये ग्रन्थ मिल नहीं पाये हैं।

अन्य मुक्तक रचयिताओं में केशोदास गाडण बलसूजी कृपाराम करमानंद मेहा हरसूर आदि प्रख्यात है इन मुक्तक रचयिताओं को लेकर यह उक्ति प्रसिद्ध है—

कविते अलू दूहे करमानन्द पात ईसर विद्या चौ पूर।
छंदे मेहो झूलणे मालो सूर पदे गीत हरसूर॥

अब हम ऐसी कुछ रचनाओं पर विचार करेंगे जो पिंगल में रची जाने पर भी स्थान स्थान पर डिंगलयुक्त हो जाती हैं। इन रचनाओं ने डिंगल प्रबन्ध काव्यों की पद्धति को ही अपनाया है। अतः काव्यरूपों के विकास और डिंगल काव्य की प्रवृत्तियों को समझने के लिए यथावश्यक इन ग्रंथों से भी सहायता ली गई है। ऐसी चार प्रमुख रचनाओं का संक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत है।

(१) पृथ्वीराज रासो —

चन्दबरदायी द्वारा लिखित कहा जाने वाला यह महाग्रन्थ एक इतिहास अनुभूति और तर्कजाल की पहेली बन गया है। विद्वानों का विवाद भी रासो के

साहित्यिक महत्त्व के सम्बन्ध में उतना नहीं है, जितना उसकी प्रमाणिकता और ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में है। ग्रन्थ में हिन्दुओं के अन्तिम सम्राट पृथ्वीराज का चरित्र वर्णित होने के कारण प्रारम्भ में विद्वानों को इससे पृथ्वीराज तथा उसके सम्पर्क में आने वाले राजाओं के बारे में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होने की आशा थी।[1] पर यह तो एक विकसनशील महाकाव्य है कोई इतिहास ग्रन्थ नहीं।[2] फलतः उन्हें निराश होना पड़ा।

जिस रूप में 'पृथ्वीराज रासो' आज उपलब्ध है उसके विकास स्वरूप को देखते हुए रूप की दृष्टि से कुछ निश्चित कह सकना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार अंग्रेजी के आदि काव्य 'ब्युवुल्फ' के विषय में निश्चयात्मक रूप से कह सकना, अंग्रेजी आलोचकों के लिए कठिन बना हुआ है। अस्तु पृथ्वीराज रासो उसी रूप में महाकाव्य की ओर झुकता हुआ काव्यरूप है, जिस भांति अंग्रेजी का यह काव्य 'ब्युवुल्फ'। प्रस्तुत प्रबन्ध काव्य 'पृथ्वीराज रासो' में चन्द का प्रधान लक्ष्य अनेक वीर कृत्यों के वर्णन द्वारा अपने नायक के चरित्र को ऊंचा उठाना ही रहा है। इस प्रकार जिस रूप में इसमें ऐतिहासिक बातों और काव्य का सम्मिश्रण हुआ है उसमें संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की छाया भी मिलती है, किन्तु साथ ही संस्कृत के सर्गबद्ध काव्यों की झलक भी। ६९ समयों का विभाजन इसमें बहुत कुछ उसी सर्गबद्ध शैली में ही हुआ है। साथ ही अपभ्रंश के चरित काव्यों की भांति यहां भी काव्यारम्भ वंदना आदिदेव गुरु, वाणी, गणपति पुरनाथ आदि को संबोधित कर मंगल-सूचक पदों से ही हुआ है।

॥ साटक ॥ छ ॥

आदीदेव प्रनम्य नम्य गुरयं वानीय वंदे पयं।
सिष्टं धारन धारयं वसुमती लच्छीस चर्नाश्रयं ॥१॥
(पृथ्वीराज रासो पृ० १)

इसके पश्चात् कवि धर्म-स्तुति कर्मस्तुति तथा पूर्व कवियों की स्तुति करता है। अपनी लघुता का यहां वर्णन भी है तथा दुर्जन और सज्जन स्वभाव वर्णन भी यहां हुआ है। यह शैली अपभ्रंश के चरित-काव्यों का तो स्मरण कराती है पर साथ ही संस्कृत के महाकाव्यों की शैली को भी सामने ला खड़ा करती है।

'रासो' में पुराण शैली का पुट भी मिलता है जो अनेक अवतारों की कथा के वर्णन में स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। दूसरे 'समय' में तो अनेक अवतार कथाएं नियोजित हुई हैं।

इतिहास प्रसिद्ध बातों में यहां उसी प्रकार अनमेल बातों का योग मिलता है जैसा हम संस्कृत के परवर्ती ऐतिहासिक काव्यों में देख चुके हैं। किन्तु काव्यत्व की

१—व्रजविलास श्रीवास्तव पृथ्वीराज रासो में कथानक रूढ़ियां—पृ० १
२—शम्भूनाथ सिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० २७८ २८१

और कवि सचेष्ट भी है। यथा स्वान सन्ध्या, प्रभात रात्रि, मृगया, आखेट, ऋतु, वन, युद्ध संयोग वियोग आदि अनेक प्रसगों का सन्निवेश प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य में हुआ है। युद्ध के प्रसंगों में कवि का कौशल अपूर्व है। यहां शब्दों द्वारा भाव्यमूर्त-विधान भी अनुपम ढंग से हुआ है।

॥ छन्द भुजंगी ॥

बजं बाय पंती प्रथीराज भू म। करीसम्म सेना विरच्चं विरम्मं॥
बजे ताल काल महा मस्त बीरं। बुढ़ं बांह सेना विर जं सुधीरं॥
—आठवां समय, पृ० १७७

शब्दों की जितनी अधिक विविधता 'रासो' में मिलती है उतनी अन्य काव्यों में कम दिखाई पड़ती है। प्रक्षिप्त अंशों के कारण यह विविधता और भी बढ़ गई है। इसी के कारण भाषा में भी कहीं अति प्राचीनता, कहीं अर्वाचीनता और कहीं विदेशी शब्दों का प्रयोग भी हो गया है। छन्दों में प्राकृत के 'गाथा अपभ्रंश के 'दूहा' से लेकर छप्पय, साटक अरिल्ल, मोटक तोमर, आर्या, भुजंग प्रयात पद्धरि कवित्त त्रिभंगी मोतीदाम आदि अनेक छंद प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार भाषा में अरबी फारसी, प्राकृत अपभ्रंश आदि सभी का पुट मिलता है।[1]

(२) राजविलास —

मान कवि द्वारा रचित राजविलास हिन्दी का एक प्रमुख ग्रन्थ है। ये मेवाड़ के निवासी और विजयगच्छ के जैन यति थे। महाराणा राजसिंह अपने समय के विख्यात हिन्दू नेता थे। ऐसे वीर सेनानी का जीवन चरित जिस तल्लीनता से लिखा जाना चाहिए वैसी ही तल्लीनता से इसमें लिखा गया है। सचमुच यह हिन्दी का गौरव ग्रन्थ है।[2]

कवि मान कृत राजविलास नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है। इसमें मेवाड़ के महाराणा राजसिंह (प्रथम) का जीवन चरित वर्णित है। इसकी रचना का प्रारम्भ सं० १७३४ में हुआ था —

सुभ संवत दस सात बरस चौतीस बधाई।
उत्तम मास असाढ़ दिवस सत्तमि सुखदाई॥
विमल पाप बुधवार सिद्धि वर योग संपत्ती।
हरपकार रिपि हस्त रासि कन्या ससि रत्ती॥
तिम जोग माय त्रिपुरा सुमति कीनो ग्रन्थ मंडान नवि।
श्री राजसिंह महाराणा को रचियहि जस ज्यों चन्द रवि॥

इसमें अठारह खण्ड हैं। ये विलास कहे गये हैं। इसकी छंद संख्या १५२७ है। प्रथम विलास में सरस्वती-वंदना के अनन्तर चित्तौड़ के मोरी राजा चित्रांगद

१—शकुन्तला दुबे काव्यरूपों के मूलस्रोत और उनका विकास-पृ० १२ ११
२—मोतीलाल मेनारिया राजस्थान का पिंगल साहित्य-पृ० १११

और बापा रावल का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है जो दन्तकथाओं पर आधारित है। द्वितीय विलास में बापा रावल से लेकर महाराणा राजसिंह तक के मेवाड़ के राजाओं की वंशावली दी गई है। यह वंशावली अशुद्ध है और इतिहास में दी हुई वंशावली से मेल नहीं खाती। तदुपरान्त १४८वें छंद से महाराणा राजसिंह का जीवन-वृत्तान्त प्रारम्भ होता है जो ठेठ अन्तिम विलास तक चला गया है। यह समूचा वृत्तान्त बहुत रोचक एवं काव्यगुणों से ओतप्रोत है और इसमें ऐतिहासिक तथ्यों का बहुत संरक्षण किया गया है। महाराणा राजसिंह की प्रशंसा में कहीं-कहीं अत्युक्ति अवश्य हुई है। जैसे —

अजमेरह अम्मरी धाक दिल्ली धर धुज्जै।
रिनं भइ रतलमी सम्भि लाहौर लुटिज्जै॥
खुरासान कंधार ठाट मुलतान धरक्कै।
चन्देरी चलचलम भीति उज्जैनि भरक्कै॥
झंखइ धार धरती मिलय कुसय देस गुजरात हर।
मोरंक साहि औरंग अति राण सबल राजेस वर॥

परन्तु यह राजाश्रित कवियों की परम्परागत काव्य शैली का अनुकरण मात्र है। इस प्रकार का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन चन्द, भूषण इत्यादि हिन्दी के और भी कई कवियों ने किया है।[1]

राजविलास की भाषा ब्रजभाषा है। परन्तु इसमें डिंगल भाषा के शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है।

(३) हम्मीर रासो —

हम्मीर रासो के रचयिता जोधराज आदि गौड़ कुलोत्पन्न ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम बालकृष्ण था। ये अलवर राज्य के नीमराणा ठिकाने के जागीरदार चन्द्रभान् के आश्रित थे और अपने आश्रयदाता की आज्ञानुसार इन्होंने हम्मीर रासो का निर्माण किया। कवि अपनी वंश परम्परा के अनुरूप ही ज्योतिष व काव्य शास्त्र का अच्छा जानकार था। एक बार नीमाराणा के ठाकुर चन्द्रभान् ने अपने दरबार में कहा कि मैंने 'हम्मीर रासो' का नाम मात्र सुना है किन्तु उसे सुनने का अवसर नहीं मिला। अपने आश्रयदाता की इस अभिलाषा को पूरा करने के लिए जोधराज ने स्वयं 'हम्मीर रासो' की रचना की। इस कार्य के लिए उन्हें अपने आश्रयदाता से पर्याप्त धन-सम्पत्ति और सम्मान मिला। कवि ने स्वयं आभार प्रकट करते हुए कहा है कि राजा ने उन्हें 'अयाची' बना दिया।

नृप करी कृपा तिहि वर अपार।
　　　　धन धरा वाजि गृह वसन सार॥
वाहन अनेक सतकार भूरि।
　　　　सब भांति अयाची कियौ मूरि॥
　　　　　　　　　　(हम्मीर रासो पृ० ३)

१—मोतीलाल मेनारिया राजस्थान का पिंगल साहित्य-पृ० ११२

जोधराज का एक मात्र उपलब्ध प्राप्त ग्रन्थ 'हम्मीर रासो' ही है जिसको संवत् १७८५ में कवि ने पूर्ण किया था इसमें कुल ९६९ पद हैं। प्रारंभ में गणेश तथा सरस्वती की वन्दना की गई है। तदुपरान्त पृथ्वीराज के कुल में उत्पन्न चंद्रभान का वर्णन करते हुये कवि ने अपना परिचय दिया है। परंपरागत पद्धति का अनुकरण करते हुए कवि ने हम्मीर की वंशावली दी है। 'हम्मीर रासो' काव्य का चरित नायक राव हम्मीर अनेक अनुश्रुतियों और लोक कथाओं का जन्मदाता रहा है। 'तिरिया तेल हम्मीर हठ, चढ़ै न दूजी बार' की कहावत का आलंबन राव हम्मीर बड़ा वीर, निर्भीक और साहसी पुरुष था। उसको लेकर अनेक किम्वदन्तियों का प्रचलन हो गया है। ऐसे लोकप्रिय चरित्र को लेकर कवि ने अपने नैपुण्य का भली भांति निर्वाह किया है। महत् चरित्रों को लेकर कविता लिखना बड़ी टेढ़ी खीर है। कवि ने इतिहास की मांग की परवाह नहीं की किन्तु लोक-रुचि और काव्य की आवश्यकताओं को समझा और उनका पालन किया। यही कारण है कि उसके इस ग्रन्थ में स्थान स्थान पर सबल और रस सिद्ध पंक्तियां दीख पड़ती हैं। यथा—

हठ तो राव हमीर को और रावण की टेक।
सत राजा हरिचन्द को, अर्जुन बाण अनेक॥
• • •
यही टेक छांड़े नहीं, जीभ चोंच जरि जाय।
मीठो कहा अंगार को ताहि चकोर चुगाय॥

हम्मीर रासो' एक वीर रस का काव्य है। कवि ने इसमें पूरी सफलता पाई है। अक्षेय मेनारिया जी के जोधराज की कविता मनोहर और वीरोत्साहिनी है। भाषा शैली सरस और चित्ताकर्षक है। किन्तु कवि को वीर के अतिरिक्त अन्य रसों में भी अच्छी सफलता मिली है। ग्रन्थ के आरंभ में पद्मऋषि की तपस्या भंग होने की कथा के बहाने कवि ने षड्ऋतु वर्णन और प्रसंगवश प्रकृति चित्रण की परिपाटी का पालन किया है किन्तु यह महज परिपाटी का निर्वाह मात्र ही नहीं है। वीर काव्य प्रणेता अन्य कवियों की तुलना में जोधराज को इस क्षेत्र में भी अभूतपूर्व सफलता मिली है। शृंगार रस में भी कवि बिना किसी विशेष प्रयास के ही सफल हुआ है। जोधराज की भाषा पिंगल' है किन्तु अपभ्रंश शब्दों का भी आवश्यकता के अनुकूल उपयोग किया गया है। भाषा का प्रयोग प्रसंगानुकूल हुआ है। वीर रस के प्रसंगों में डिंगल की परंपराओं का भरपूर उपयोग किया गया है तो शृंगार के अवसर पर व्रजभाषा के सहज माधुर्य की रक्षा भी की गई है। कवि का वास्तव में भाषा पर विपुल अधिकार था। भाषा का सहज अकृत्रिम स्वरूप सरस प्रवाह, रचना सौष्ठव सभी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। डा० उदयनारायण तिवारी ने लिखा है हम्मीर रासो' का अध्ययन कर लेने पर यह विश्वास हो जाता है कि कवि जोधराज का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। और उसे भावानुकूल बनाने की कला में वे निष्णात थे। 'भाषा की दृष्टि से निर्सदेह हम्मीर रासो एक सफल रचना है।

(४) वंशभास्कर —

वंशभास्कर के रचयिता वीररसावतार महाकवि सूर्यमल डिंगल के अन्तिम महाकवि थे। इनका संक्षिप्त परिचय हम वीरसतसई पर विचार करते समय बता चुके हैं। यह ग्रन्थ संवद् १८९७ में लिखा गया। टीका समेत ४१६८ पृष्ठों में छपा है। मूल ग्रन्थ प्रायः २५०० पृष्ठों का है। इसमें विविध छंदों द्वारा मुख्यतया बूंदी राज्य का वर्णन है और गौण रूप से अनेकानेक विषयों एवं कथाओं के सांगोपांग भारी कथन है। यह ग्रन्थ महाचम्पू है। वंशभास्कर की कविता में प्रसाद गुण नहीं है, अत्यन्त गूढ़ और क्लिष्ट है, यहां तक कि टिप्पणी से भी आशय सुगमता से नहीं खुलता। इसका एक बहुत बड़ा कारण सूर्यमल्ल जी की भाषा की क्लिष्टता है। कहीं कहीं तो इन्होंने अपने लिख के बहुत शब्द गढ़ लिए हैं जो असाधारण रूप से पाठक को चक्कर में डाल देते हैं।[1]

वंशभास्कर की भाषा के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद चला आ रहा है। श्री सूर्यकरण जी पारीक ने इसे कृत्रिम डिंगल कहा है। श्री मेनारिया जी ने वंशभास्कर की भाषा को न शुद्ध डिंगल माना है, न शुद्ध पिंगल। उसे वे चारणों की खिचड़ी भाषा मानते हैं, जिसमें संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, अपभ्रंश, ब्रजभाषा आदि कई भाषाओं के शब्दों का प्रयोग हुआ है और क्रियापद संयोजक शब्द कारक-विभक्ति भी डिंगल और पिंगल दोनों के मिलते हैं।[2]

वस्तुतः वंशभास्कर की भाषा डिंगल है और उसमें यथावसर अन्य भाषाओं का उपयोग भी है। गीत तो शुद्ध डिंगल में रचे गये हैं। वंशभास्कर के युद्ध वर्णन बड़े रोचक हैं। जिस समय सूर्यमल युद्ध का वर्णन करना आरंभ करते हैं, वे किसी भी बात को अधूरी नहीं छोड़ते, युद्ध सम्बन्धी किसी विषय को अछूता से नहीं देखते। सेनाओं की मुठभेड़, वीरों का मयमार कायरों की भगदड़, घायल वीरों का करुणा क्रन्दन इत्यादि के सिवा जिस समय योद्धा वार करता है उसकी तलवार कैसी सीध पड़ती है, रक्त की सरिता किस प्रकार बल बल शब्द करती हुई समर स्थली में प्रवाहित होती है और मांस के लोभ से लाशों पर बैठे हुए गीध दूर से कैसे चील पड़ते हैं आदि बातों का नाना प्रकार की उपमा-उत्प्रेक्षाओं द्वारा वे एसा सुन्दर, ऐसा स्पष्ट और ऐसा सजल मजमून बांधते हैं कि पढ़ते ही हृदय सहसा हिल जाता है।

यहां तक राजस्थानी गद्य के विवेचन का प्रश्न है उसे हम चौथे अध्याय में विस्तारपूर्वक ले चुके हैं। अतः यहां उस पर विचार नहीं किया जायेगा।



१—शहूल गोड व आसिया वीर सतसई-भूमिका-पृ० ६४
२—मोतीलाल मेनारिया डिंगल में वीररस-पृ० ८९

४

डिंगल : प्रवृत्तियाँ और काव्यरूप

डिंगल काव्य अन्य भाषा के काव्यों की तरह ही प्रबन्ध और मुक्तक के रूप में विभाजित किया जा सकता है, फिर भी इसमें अन्य काव्य रचनाओं से बहुत अंतर है। प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य और खण्डकाव्य गृहीत किए जाते हैं परन्तु डिंगल में रासो, प्रकाश विलास, रूपक, छंद, वेलि, प्रबन्ध आदि नामों से अनेक प्रबन्ध काव्य मिलते हैं। रासो नामक रचना महाकाव्य भी हो सकती है।[1] वह खण्डकाव्य भी हो सकती है।[2] यही बात अन्य ऊपर लिखे नामों की रचनाओं के सम्बन्ध में लागू होती है। इन सब कृतियों में वस्तु सम्पादन, शिल्प विधान, और शैली में नगण्य-सा ही अन्तर रहता है, जैसा कि आगे चल कर हम देखेंगे।

डिंगल प्रबन्ध काव्य

प्रबन्ध काव्यों के रूप में अपभ्रंश काल से आज तक अनेक ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं। ग्रन्थालयों, उपाश्रयों व अनेक चारणभाटों के संग्रहों में ऐसे अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। वैसे तो इन प्रबन्ध काव्यों में विषय और अभिव्यक्ति की दृष्टि से काफी भिन्नता दीख पड़ती है परन्तु मोटे तौर पर सबमें कुछ सामान्य विशेषताएं मिल जाती हैं।[3] ये प्रबन्ध काव्य किसी राजा, सामंत अथवा कवि के उपास्य देव के चरित्र को उपजीव्य बना कर लिखे गए हैं। कुछ काव्य ग्रन्थों को अपवाद स्वरूप छोड़ कर, हम सभी प्रबन्ध काव्यों में विषय वस्तु के ऐतिहासिक आधार यथार्थ जीवन, वास्तविक भावभूमि और सहज अभिव्यक्ति का अभाव पाते हैं। इन प्रबन्ध काव्यों में तथ्य और कल्पना, इतिहास और रोमान्स का विचित्र समन्वय है।[4] ऐसा करने में कवि को वीर रस का वर्णन करने के लिए अनेक कल्पित युद्धकारणों की

१—पृथ्वीराज रासो, रामरासो राजरूपक, खुम्माणरासो आदि

२—राउ जैतसीरो रासो, वेलि क्रिसन रुकमणीरी, नागदमण, वीरमायण, बीसलदे रासो आदि।

३—शम्भूनाथ सिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० १९७-२००

४—हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृ० ७१

उद्भावना करनी पड़ी है। सुन्दर राजकुमारियों का हरण और ऐसा करने में युद्ध वह कवि को अपने चरित नायक के शौर्य प्रदर्शन का अवसर मिल ही तो गया। उसकी उदात्त कल्पना और काव्यकौशल अजीब सा समां बांध देता है। हमारे विद्वान इन वर्णनों में ऐतिहासिकता ढूंढने की भयंकर भूल कर बैठे।[1] उन्हें निराश होना पड़ा और फिर वे लोग एक स्वर से इन काव्य ग्रन्थों को महत्वहीन समझने लगे। बम्बूल से आम के फल की उम्मीद करना चतुराई नहीं कही जा सकती। अस्तु—

विवाहों के बाद ऐश आराम। इससे कवि की शृंगारिक प्रवृत्ति को खुल कर खेलने का मौका मिलता था। वह मृगया, उत्सव, संयोग और वियोग शृंगार, बारहमासा, षड्ऋतु वर्णन आदि अनेक परम्परागत वस्तु विन्यास का आश्रय ले लेता था, और अपने काव्य को अधिक रमणीय बना देता था।[2] इस समय के साहित्य की कथानक रूढ़ियों और मुख्य प्रवृत्तियों पर अन्यत्र विचार किया गया है, अतः अभी हम इस विषय को नहीं उठायेंगे।

प्रायः सभी प्रबन्ध काव्यों में चरित नायक की वंशावली दी गई है। इन वंशावलियों का प्रारम्भ बहुधा किसी दिव्यगुणोत्पन्न महापुरुष या देवी, देवताओं से जोड़ा जाता है। ऐसा करने में कवि कोई अनौचित्य नहीं देखता। उदाहरण के लिए रासो के चरित नायक का जन्म 'अग्नि से उत्पन्न वंश' विशेष में बताया गया है।[3] और 'सूरज प्रकाश' में कवि करणीदान ने राज-वंशावली का प्रारम्भ ब्रह्मा से किया है।[4] इस परिपाटी का निर्वाह प्रायः सभी ग्रन्थों में किया गया है।

कथा तत्व में दृढ़ता और रोचकता लाने के लिए कवि ने अनेकों बार अति प्राकृत प्रसंगों की भी अवतारणा की है। किसी भी ऐसी असंभाव्य घटनावली की उद्भावना करने में कवि को कोई हिचक अनुभव नहीं होती थी, जो उसके आश्रयदाता के शौर्य, साहस, चतुराई, दानशीलता आदि उच्च गुणों को प्रदर्शित करने में अथवा अपने बहुलौकिक ज्ञान का परिचय देने में सहायक हो सकती थी। अतः सभी प्रबन्ध काव्यों में अतिप्राकृत प्रसंगों की उपलब्धि होती है।[5]

रास, रासक, रासो, रासा, राशो, रासउ रसायन, रायसो रासु आदि नामों से पुकारे जाने वाले काव्य ग्रन्थों की बहुत बड़ी संख्या डिंगल साहित्य में उपलब्ध है। कभी कभी यह प्रश्न उठता रहता है कि इन सबमें भेद है अथवा ये सभी शब्द पर्याय हैं। नरोत्तम स्वामी की धारणा है कि वीर रस प्रधान काव्य को रासो संज्ञा दी जाती थी और वीर रसेतर काव्य रास कहलाते थे।[6] किन्तु डा० दशरथ ओझा ने

१—हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य—पृ० २९

२—हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृ० ७२-७३

३—कविराव मोहनसिंह पृथ्वीराज रासो—पृ० १६

४—मोतीलाल शर्मा प्राचीन राजस्थानी कवि-खण्ड २ पृ० ६१

५—मोतीलाल शर्मा प्राचीन राजस्थानी गीत-भाग ६—भूमिका—पृ० ९

६—डा० दशरथ ओझा रास और रासान्वयी काव्य—पृ० १

प्रमाण सिद्ध किया है कि स्वामी जी की यह धारणा भ्रममूलक नहीं है।[1] रास रासक रासो एकार्थवाची शब्द हैं। इनमें कोई भेद नहीं है। इसके पहले कि हम रासो के क्रमिक विकास का अध्ययन करें हम इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों को जान लें, उचित होगा। रासो के विकास के सम्बन्ध में निम्न प्रमुख मत हैं—

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बीसलदेव रास में प्रयुक्त रसायण शब्द से रासो की उत्पत्ति मानी है।[2]

२—फ्रांसीसी विद्वान गार्सीं द तासी के अनुसार इसकी उत्पत्ति राजसूय से है।[3]

३—रामचन्द्र वर्मा इसे रहस्य से उत्पन्न मानते हैं।

४—मुंशी देवीप्रसाद के अनुसार रासे के मायने कथा के हैं। यह रूढ़ी शब्द है एक वचन रासो और बहुवचन रासा।[5]

५—ग्रियर्सन राजादेश से रायसो की उत्पत्ति मानते हैं।[6]

६—गौरीशंकर ओझा के अनुसार रासा शब्द ही उपयुक्त है और इसकी उत्पत्ति संस्कृत रास से है।[7] इस मत को डा० दशरथ ओझा उचित नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि रास शब्द वस्तुतः संस्कृत भाषा का नहीं है, प्रत्युत देशी भाषा का है जो संस्कृत बन गया है।[8]

७—पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के अनुसार हिन्दी रासो शब्द संस्कृत रास अथवा रासक से उत्पन्न है।

८—मोतीलाल मेनारिया के अनुसार चरित्र काव्यों में रासो ग्रन्थ मुख्य है। जिस काव्य ग्रन्थ में किसी राजा की कीर्ति विजय, युद्ध वीरता आदि का विस्तृत वर्णन हो, उसे रासो कहते हैं।[10]

९—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र रासो की उत्पत्ति के लिए रासक शब्द को आधार मानते हैं।[11]

१—डा० दशरथ ओझा रास और रासान्वयी काव्य—पृ० २

२—रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० २८

३—गार्सीं द तासी हिन्दुई साहित्य का इतिहास—डा० माहेश्वरी द्वारा उद्धृत

४—रामचन्द्र वर्मा प्रामाणिक हिन्दी कोश—पृ० ९११

५—मुंशी देवीप्रसाद सरस्वती—भाग ३—पृ० ९८

६—वही—पृ० ९७

७—सम्मेलन पत्रिका भाग ११, संख्या १२—पृ० ९७

८—दशरथ ओझा हिन्दी नाटक उद्भव और विकास—पृ० ७०

९—सम्मेलन पत्रिका—भाग ११, संख्या १२—पृ० ९७ पर उद्धृत

१ —मोतीलाल मेनारिया राजस्थान का पिंगल साहित्य—पृ० २४

११—विश्वनाथप्रसाद मिश्र हिन्दी साहित्य का अतीत—भाग १

१०–कुछ लोग रासकपद्धवाली रचना को रासो मानने के पक्ष में हैं, किन्तु यह मत एकांगी है।

११–रासो, रायसो का अर्थ झगड़ा, पचड़ा या उद्यम को लेकर इस आधार पर भी रासो की व्युत्पत्ति ढूंढने की चेष्टा की गई है।[1]

१२–गुजराती साहित्य के विद्वान के० का० शास्त्री के अनुसार रास या रासक मूलतः नृत्य के साथ गाई जाने वाली रचना विशेष है।[2] इसी मत का समर्थन संस्कृत विद्वान डोलरराय मांकड भी करते हैं।

१३–हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रासो और रासक को पर्याय मानते हुए हेमचन्द्र के काव्यानुशासन के आधार पर इसे भिन्न गेय-रूपक माना है।[4]

१४–कुछ विद्वान गुजराती लोकगीत–नृत्य गरबा को रास का उत्तराधिकारी मानते हैं। रास बहुधा गेय तत्वों से युक्त, दोहा चौपाई आदि मात्रिक छंदों में लिखा जाता था।[5]

१५ डा० माताप्रसाद गुप्त के शब्दों में विविध प्रकार के रास, रासावलय रासा और रासक छंदों, रासक और नाट्य-रासक उपनाटकों रासक, रास तथा रासो-नृत्यों और नृत्यों से भी रासो प्रबन्ध परम्परा का निकट का सम्बन्ध रहा है यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। कदाचित् नहीं ही रहा है।[6]

१६–मं० र० मजूमदार के अनुसार पहले धर्मोपदेश ही रासाओं का मुख्य हेतु था। फिर उपदेश में कथा तत्व और चरित्र संकीर्तन आदि तत्वों का समावेश हुआ। साहित्य-स्वरूप की दृष्टि से रासक एक नृत्य काव्य अथवा गेय रूपक है।[7]

१७–डा० विजयराय वैद्य रास या रासो को छन्द, राग, धार्मिक कथा आदि विविध तत्वों से युक्त देखते हैं।[8]

१८–डा० दशरथ शर्मा के अनुसार रास के नृत्य अभिनय और गेय वस्तु इन्हीं तीनों अंगों से समय पाकर परस्पर मिलते जुलते किन्तु साहित्य की दृष्टि से विभिन्न तीन प्रकार के रासो की उत्पत्ति हुई। कुछ नृत्य विशेष रास कहलाये–इसी प्रकार अन्य रास और रासक उपरूपक बने।[9]

१–वैजनाथ खेतान साहित्य सन्देश–वर्ष १२–अंक ११–पृ० ४५०
२–के० का० शास्त्री आपणा कविओ भाग–१ पृ० १४३–१५२
३–लेखक से हुई निजी चर्चा में तथा भारती–दीप २००४ में प्रकाशित उल्लेख।
४–हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आदिकाल–पृ० ५९
५–कैटलाग आफ गुजराती एण्ड राजस्थानी मैन्युस्क्रिप्ट्स इन इण्डिया आफिस।
६–माताप्रसाद गुप्त हिन्दी अनुशीलन–वर्ष ४–अंक ४
७–मं० र० मजूमदार : गुजराती साहित्यना स्वरूपो–पृ० ६९-७१
८–विजयराय क० वैद्य गुजराती साहित्यनी रूपरेखा–पृ० १९ २०
९–दशरथ शर्मा साहित्य संदेश–जुलाई १९५१–अंक १

१९–डा० हरिवल्लभ भायाणी ने सन्देश रासक में प्रयुक्त 'रासा' नामक छंद की चर्चा की है। अपने मत की पुष्टि में वे विरहांक के वृत्तजाति समुच्चय के रासक और स्वयंभूछंदस् के रासा छंदों का हवाला देते हैं।[1] इसी प्रकार डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी ने पृथ्वीराज रासो में पांच स्थलों पर रासो छन्द प्रयुक्त होने की सूचना दी है। उनके अनुसार इतना तो कहा ही जा सकता है कि एक समय रासा या रासो काव्य में अनेक विशिष्ट छन्दों का व्यवहार इष्ट होकर शास्त्रोक्त हो गया था।[2] छन्द प्रभाकर[3] और हिन्दी छन्द प्रकाश में रासक और रास को एक छन्द विशेष बताया गया है।

२०–कई विद्वानों का यह भी मत है कि रस पूर्ण होने से यह रचना रास कहलाई। अपने मत के समर्थन में वे शालिभद्रसूरि रचित 'भरत-बाहुबलि रास' का निम्न उल्लेख देते हैं[5]—

रासह रसायणु पुणीज्जई।

निसंदेह रास रसमय और रोचक काव्य रूप था इसी से जैनों ने रसमय वाणी में धर्मोपदेश देने के हेतु रासा' की रचना की।[6] इसी मान्यता को क० मा० झवेरी मानते हैं।[7]

२१–भागवत् में रास शब्द का प्रयोग गीत-नृत्य के लिए हुआ है[8] जिसमें ध्रुपद आदि अनेक रागों का भी प्रयोग किया जाता था।[9]

२२–रास खेले जाते थे, इसके उल्लेख अनेक स्थान पर मिलते हैं। आगे चल कर इस दृष्टि से विस्तृत विचार किया जायेगा। शारदा तनय ने भावप्रकाश में तीन प्रकार के रासक बताये हैं[10] और उपरूपकों के अन्तर्गत 'रासक' नामक गेय-नाट्य

१–भायाणी सन्देश रासक–अंग्रेजी भूमिका छन्द विवेचन।
२–विपिनबिहारी त्रिवेदी रेवातट समय–भूमिका–११४ ११६
३–जगन्नाथप्रसाद भानु छन्द प्रभाकर–पृ० २९
४–रघुनन्दन शास्त्री हिन्दी छंद प्रकाश–पृ० २४६
५–गुर्जर रासावली गायकवाड़ ओ० सिरीज में प्रकाशित।
६–चन्द्रकान्त मेहता मध्यकालना साहित्य प्रकारो–पृ० १०७
७–के० एम० झवेरी माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर।
८–श्रीमद्भागवत्–दशमस्कंध–अध्याय ३३–श्लोक ३
रासोत्सव सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डल मंडित।
९–श्रीमद्भागवत्–दशमस्कंध–अध्याय ३३–श्लोक १०
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्मै मानं च बह्वदात्।
१०–शारदा तनय भावप्रकाश–गायकवाड़ ओ० सिरीज
लतारासक नाम स्याद्रसतोषा रासकमेव्
दण्डरासकमन्यत् तथा मण्डल रासकम्॥

का उल्लेख किया है।[1] हेमचन्द्र,[2] वाग्भट, व कविराज विश्वनाथ का भी यही मत है।[3] रासक एक ऐसा कोमल और उद्धत-प्रेम-रूपक है जिसमें अनेक नर्तकियाँ होती हैं, अनेक प्रकार के ताल और लय होते हैं और चौसठ तक के युगल होते हैं।[4] हिन्दी में भी इसे उपरूपकों में से एक माना गया है।[5]

२१—हिन्दी साहित्य कोश में लिखा है कि रासो नाम से अभिहित कृतियाँ दो प्रकार की हैं—एक तो गीत नृत्य परक है और दूसरी छन्द वैविध्य-परक है। नृत्य-गीत परक धारा पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात में विशेष रूप से समृद्ध हुई और छन्द-वैविध्य-परक धारा पूर्वी राजस्थान तथा शेष हिन्दी प्रदेश में अधिक विकसित हुई।[6]

इन सब उल्लेखों से निम्न तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं —

१—प्रारम्भ में रासक नृत्य-गीत-परक अभिनेय रचना थी।

२—कालान्तर में उसके इन तीनों रूपों का विकास हो उठा फलस्वरूप रास या रासा जो शुद्ध गीत-नृत्यपरक रचना है, रास या ध्यान भी नाट्यरूपक है और रासो या काव्यात्मक रास ग्रन्थ जो श्रव्यकाव्य और साहित्यिक रूप ग्रहण कर बैठे।

३—रासो की उत्पत्ति रासक आदि नृत्य-गीतादि से ही हुई।

अब हम रासा के इन तीनों प्रकारों के विकास को—एवं काव्यरूप को समझने की चेष्टा करेंगे।

रासक शब्द नाट्य शास्त्रों में नृत्य और नाट्य दो रूपों में व्यवहृत हुआ है। अग्निपुराण के अध्याय ३२८ में नाटक के २७ भेदों में रासक नाम का उल्लेख मिलता है, किन्तु उस स्थान पर न तो उसे उपरूपक की संज्ञा ही दी गई है और न उसके

१—शारदातनय भावप्रकाश काव्यं च प्रेक्षणं नाट्य रासकं रासकं तथा
उल्लोप्यकं च हल्लीसकम् दुर्मल्लिका पि च ॥

२—हेमचन्द्राचार्य काव्यानुशासनम्
गेयं-डोम्बिका भाण-प्रस्थान-शिङ्गक-भाणिका प्रेरण रामाक्रीड-
हल्लीसक रासक-गोष्ठी-श्री गदित राग काव्यादि ॥

३—विश्वनाथ साहित्य दर्पण ६।६
नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्य रासकम्
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा ॥

४—वही —
अनेक नर्तकी योज्यं चित्र ताल लयान्वितम् ।
आचतुःषष्टि युगला रासकं मसृणोद्धतम् ॥

५—सीताराम चतुर्वेदी समीक्षा शास्त्र-पृ० ८९९

६—हिन्दी साहित्य कोश-पृ० ६२६

सवालों पर प्रकाश ही डाला गया है। अग्निपुराण से पहले नाट्यशास्त्र में लास्य के दस अंगों का वर्णन मिलता है पर वहाँ भी रासक का उल्लेख गायब है। जो इस बात का द्योतक है कि अग्निपुराण की रचना के समय तक रासक को पेय-रूपक का स्थान नहीं मिल पाया था।

यद्यपि दशरूपक में नृत्य के सात भेदों का नामोल्लेख है किन्तु इन्हें कहीं भी उपरूपक की संज्ञा नहीं दी गई है। इसी तरह अभिनव भारती में रासक का उल्लेख है किन्तु उसे उपरूपक नहीं माना गया है।[1] हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में गेयकाव्यों के अंतर्गत रासक नाम मिलता है। तात्पर्य यह है कि हेमचन्द्र तक आते-आते नृत्य के एक भेद रासक ने गेयकाव्य की स्थिति प्राप्त कर ली। शारदातनय के मत को हम पहले बता ही चुके हैं। आगे चल कर विश्वनाथ ने रासक को स्पष्टतया उपरूपकों की कोटि में परिगणित किया है। (उद्धरण संख्या ४३ ४४ देखिये।)

हिन्दी नाटकों का उद्भव और विकास ऐसे ही रासो से हुआ इस धारणा के विरोध में डा० गौरीशंकर व्यास हैं। वे इसको निराधार कल्पना मानते हैं।[2] इसमें तो कोई संदेह नहीं है कि रास संज्ञक रचनाएं खेली जाती थीं। रेवन्तगिरी रास में रास की अभिनेयता का उल्लेख है[3] —

रंगहिए रमए जो रासु, सिरि विजय सेणिसूरि निम्मविउए।

नाल्ह की रचना बीसलदेव रासो में एक उद्धरण ऐसा मिलता है जिसके आधार पर रास के खेल में नृत्य वाद्य एवं गीत के प्रयोग का प्रमाण पाया जाता है। —

सरसति सामणी करउ हुउ पसाउ।
रास प्रगासउं बीसलदे राउ ॥
खेलां पइसइ मांडली।

इसी रास में दूसरा उद्धरण विचारणीय है[4] —

गावणहार मांडइ भर माहि।
रास कइ समचइ वंसली वाइं ॥
ताल कई समचइ धू घरी।
मांहिली मांडली खीणा होइ ॥
बारली मांडली सांचणा।
रास प्रगास ईणी विधि होइ ॥

१—दशरथ ओझा राम और रासान्वयी काव्य—पृ० ३
२—गौरीशंकर व्यास हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग १ पृ० ४१४
३—दशरथ ओझा राम और रासान्वयी काव्य पृ० ११४
४—सत्यजीवन वर्मा बीसलदेव रासो—पृ० ४
५—सत्यजीवन वर्मा बीसलदेव रासो—पृ० ५

उपर्युक्त उद्धरण के अनुसार रास के गायक अपना स्वर ठीक करके बाँसुरी बजा बजाकर ताल के साथ नर्तन करते हुए रास का अभिनय करते हैं। मध्य की रासमंडली कम सघन होती है और बाहर की मंडली सघन है। इस प्रकार रास का प्रकाश होता है।

चौदहवीं शताब्दी में रास के अभिनय का प्रमाण 'सप्तक्षेत्रि'[1] रासु' के आधार पर इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है —

बइसइ सहूइ श्रमणसंघ सावय गुणवंता ।
जोयइ उच्छवु जिनह भुवणि मनि हरष धरंता ।
तीछे तालाराम पड़इ बहु भाट पढ़ंता ।
अनइ लकुटरास जोइई खेला नाचंता ॥

इस उद्धरण में भी भाटों के द्वारा ताला रास का पढ़ना वर्णित है किन्तु साथ साथ ही नाचते हुए लकुटरास का खेलना भी दिखाया गया है। यही पद्धति सभी लोक नाटकों की है। जिन्होंने कभी रास-भान का अभिनय देखा होगा उन्हें ज्ञात होगा कि एक ही कथानक को गीत एवं नर्तन के द्वारा युगपत् किस प्रकार किया जाता है।

रास के गेय रूपकत्व में क्रमिक विकास हुआ है। इस विषय में पत्र पत्रिकाओं में समय समय पर लेख प्रकाशित होते रहे हैं। यहाँ संक्षेप में प्रो० मं०र० मजूमदार[2] के मत का सारांश दे देना पर्याप्त होगा।

साहित्य-स्वरूप की दृष्टि से 'रासक' एक नृत्य काव्य या गेयरूपक है। संस्कृत नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में 'रासक' और 'नाट्य रासक' नाम से दो उपरूपकों की टिप्पणी प्राप्त होती है। कुछ लोग इस उपरूपक को 'नृत्यकाव्य' कहते हैं और हेमचन्द्र इसे गेयरूपक मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि (१) इसमें संगीत की मात्रा अधिक होती है। (२) पूर्णकथावस्तु छंदों के माध्यम से वर्णित होती है। (३) सभी गेय पद पूर्ण अभिनेय होने चाहिए।

प्रो० मजूमदार 'संदेश रासक' की अभिनेयता का परीक्षण करते हुए लिखते हैं—'संदेश रासक' के सभी छंद गेय हैं और इसकी समस्त कथावस्तु अभिनेय है इसलिए यह गेयरूपक है और यह नाटक की भाँति प्रत्यक्ष दिखाने के लिए ही लिखा गया था ए सा तो उसकी टीका से ही स्पष्ट दिखाई देता है। प्रथम गाथा के आरंभ में

'प्रथमप्रारम्भे अभीष्ट देवता प्रणिधानप्रधाना प्रेक्षकाः ।
प्रवृत्तिरित्यौचित्यात् सूत्रस्य प्रथम नमस्कार गाथा ।

इस उद्धरण में ग्रन्थ लेखक के लिए प्रेक्षावत् शब्द का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि टीकाकार इसे रूपक का ही एक प्रकार मानते हैं। आगे चल कर बहुरूपियों के

१—द्रष्टव्य प्राचीन गुर्जरकाव्य संग्रह-पृ० ५२
२—मं०र० मजुमदार गुजराती साहित्यना स्वरूपो—पृ० ७१

द्वारा इस काव्य का पढ़ा जाना यह सिद्ध करता है कि यह केवल श्रव्यकाव्य नहीं अपितु बहुवेश धारण करने वाली नारि॰ के द्वारा इस गाया भी जाता था।

डा॰ दशरथ ओझा की मान्यता है कि रास का मूल अर्थ है गर्जना। उसके बाद उसका अर्थ हुआ मात्रिक छंद में विरचित रचना। उसके बाद एक दो छंदों में विरचित रचना रास कहलाने लगी। तदुपरांत इसने स्वतंत्र गेय उपरूपक का अर्थ धारण किया। सामूहिक गेयरूपक होने पर रस अनिवार्य बन गया। इसीलिए रास काव्य रसायन कहे जाने लगे। रसपूर्ण होने के कारण ही यह रचना रास कहलाई ऐसा भी एक मत है।[1]

रास के इस गेयरूपकत्व के सम्बन्ध में इतने अधिक प्रमाण हैं कि शंका की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। प्राचीन रासस्वाली के अनेक रासग्रंथ उपरूपक कहे जा सकते हैं। वे गेय हैं लघु हैं और एक प्रकार से प्रमाणमय हैं। चूंकि डिंगल के रासोग्रंथ काव्यग्रंथ अधिक है उपरूपक कम हम रासो के इस पहलू पर अब और अधिक विस्तार में नहीं जायेंगे।

यह तो हुआ रासक या रासो के विकास का एक पहलू। अब हम उसके दूसरे रूप को देखेंगे।

संस्कृत-काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त विरहांक कृत 'वृत्त जाति समुच्चय' एवं स्वयंभू कृत 'स्वयंभूच्छन्दस् (९वीं शताब्दी) में रासक को एक छंद विशेष एवं एक काव्य प्रकार के रूप में हम देखते हैं –

> अडिलाहि दुवहएहिव मत्ता रड्डाहि तह अडोलाहि।
> बहुएहिं जो रइज्जई सो भरणइ रासओ णाम॥

जिस रचना में मत्ता अडिला, दूहा, मात्रा रड्डा और ढोसा आदि छंद आयें वह रासक कहलाती है। (वृत्त जाति समुच्चय ४ ३८)।

स्वयंभू के अनुसार जिस काव्य में घत्ता छड्डणिया पद्धडिया तथा अन्य सुन्दर छंद-बद्ध रचना हो जो जनसाधारण को मनोहर प्रतीत हो वह रासक कहलाती है।

(स्वयंभू छंदस् ८।४२——)

इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर अपभ्रंशकाव्य काल अथवा पुरानी-हिन्दी-युग में रास नामक नृत्य से विकसित होकर रासक उपरूपक की कोटि में विराजमान हो गए थे। जब हम 'संदेश रासक' का अध्ययन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में भी रास या रासक दो रूपों में प्रचलित थे। एक स्थान पर तो वह नृत्य के रूप में वर्णित है किन्तु दूसरे स्थान पर वह हेमचन्द्र के गेय रूपक की परिधि में आसीन है। हेमचन्द्र ने रामाक्रीड आदि गेय 'रूपकों के अभिनय के लिए 'आम्यते' शब्द का प्रयोग किया है, जो इस प्रकार मिलता है —

१—दशरथ ओझा रास और रासान्वयीकाव्य—पृ॰ ११

ऋतु-वर्णन संयुक्तं रासकादेषु भाष्यते ।[1]

ठीक इसी प्रकार का वर्णन संदेश रासक[2] में मिलता है —

कह व ठाइ चउवेइहि वेउ पयासियइ,
कह बहुरूवि णिबद्धउ रासउ भासियइ ॥

अर्थात् किसी स्थान पर चारों वेदों के ज्ञाता वेद की व्याख्या करते हैं कहीं विविध रूपों से निबद्ध रासक पढ़े जाते हैं ।

यहाँ रासक का पढ़ा जाना स्वयं ही उसके श्रव्यकाव्य की ओर विकसित होने की सूचना देता है । यह तो हम देख ही चुके हैं कि 'रास' नामक रचनायें नृत्य में गाई जाती थीं और उनका सस्वर पाठ होता था । प्राचीन रास मात्रिक छंदों में रचित हैं, जबकि इसके बाद की रचनाओं में देशी या शास्त्रीय लेखकों का भी कहीं कहीं समावेश मिल जाता है ।[3] पन्द्रहवीं शती पूर्व एवं बाद के रासाओं में और भी अनेक अन्तर विचारणीय हैं । लगता है कि पन्द्रहवीं शती तक जैन रासाओं का स्वरूप निर्माण हो रहा था । उनमें या तो धार्मिक स्थलों की—तीर्थ स्थानों की प्रशस्ति होती थी जैसे रैवतगिरीरास,[4] आबूरास,[5] कच्छूली रास[6] सप्तक्षेत्रि रास[7] आदि अथवा किसी महापुरुष, दिव्य पुरुष, तीर्थंकर अथवा धर्मवीर पुरुष की प्रशस्ति होती थी जैसे भरत और बाहुबलि[8] जम्बूस्वामि नेमिनाथ[9] जैसे देवी देवताओं या पेथड़[10] समरसिंह[11] जैसे धर्मवीरों की । चौदहवीं शती के रासाओं में पौराणिक और काल्पनिक कथाओं का समावेश होने लगा । पौराणिक कथाओं में नलदमयंती[12] राम,[13] आदि की कथाओं को लेकर रास रचे गये । इसी प्रकार रासो के वस्तुतत्व में लोककथाएँ निजंधरी कथाएं और जनविश्वास भी कालान्तर में प्रवेश पाते गये ।[14] इस प्रकार पन्द्रहवीं शती बाद के रासाओं में वस्तुतत्व में विकास तो दिखता ही है किन्तु रचनातत्व की दृष्टि

१—काव्यानुशासनम्-अ०८सू०४, ११ पृ० ४४९
२—संदेश रासक—द्वितीय प्रक्रम-पद ४३
३—के०का० शास्त्री आपणा कविओ—खं० १-पृ० १४९
४—प्रकाश प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में सम्पादित
५—दशरथ ओझा रास और रासान्वयी काव्य-पृ० १२१ १२८
६—वही-पृ० १११ ११७
७—प्रकाश प्राचीन गुर्जरकाव्य संग्रह में सम्पादित
८—मुनिजिनविजय भरतेश्वर बाहुबलिरास
९—दशरथ ओझा रास और रासान्वयी काव्य-पृ० ९९ १०५
१०—प्रकाश प्राचीन गुर्जर काव्य में सम्पादित
११—ओझा रास और रासान्वयी काव्य पृ० २१७ २४२
१२—सांडेसरा नलदवदंती रास
१३—ओझा रास और रासान्वयीकाव्य पृ० ४०७-४१०
१४—चंद्रकान्त मेहता मध्यकालना साहित्य प्रकारो—पृ० १११

से भी अंतर है। प्राचीन जैन रास मात्र एक ही वस्तु का आसेवन करते थे, शान्तरस की प्रधानता रहती थी, पात्रों के विकास की सम्भावना नहीं थी किन्तु बाद के रासाओं में अनेक अन्तरकथाओं तीर्थवर्णनों, समकालीन जीवन के शब्दचित्रों, उपदेश सूत्रों, कथानक रूढ़ियों सूक्तियों आदि के संयोग से जटिलता आ गई। अनेक रसों को अभिव्यक्ति मिलने लगी। इन सब कारणों से परवर्ती रासाओं का आकार बढ़ता चला गया। उनमें कथातत्व भी महत्व पाने लगा। प्रारम्भिक रासाओं का विस्तार सीमित और कोमलकाय जान पड़ता है, वहाँ बाद की रचनाएं महाकाव्य की परिधि स्पर्श करने लगी। एक अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है। जहाँ प्रारम्भिक ग्रंथों में मात्र धार्मिक दृष्टि का प्राधान्य था महापुरुषों या देवी देवताओं की स्तुति थी वहाँ बाद की रचनाओं ऐतिहासिक व्यक्तित्वों का प्रवेश हो गया।[1]

ऐतिहासिक प्रसंगों को लेकर रचित गद्य-पद्य मय कृतियां अपभ्रंश संस्कृत में मिल जाती हैं। मेरुतुंगाचार्य कृत प्रबंध चिन्तामणि[2] तथा राजशेखर की चतुर्विंशति प्रबन्ध ऐसी ही कृतियां हैं जिनमें भोज, कुमारपाल सिद्धराज, रामकदेवी, मुंज इत्यादि ऐतिहासिक पात्रों के जीवन-प्रसंगों का उल्लेख है। परवर्ती रासो रचनाएँ वस्तु संगठन वर्णन विस्तार, शैली तथा कथानिरूपण की दृष्टि से प्रबंध की कोटि में आ जाती हैं। डा० चंद्रकान्त मेहता ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि रास और प्रबंध ये दोनों एक दूसरे के पर्याय के रूप में पन्द्रहवीं सदी के बाद प्रयुक्त होते थे।[3] यहो नहीं एक ही कृति को चरित, प्रबंध, चुपई, पवाड़ु और रास नाम से पुकारा गया है। पद्मनाभ विरचित कान्हडदे प्रबन्ध ही काहानदेव चुपइ, कान्हडदे पवाडउ कान्हड चरित्र रास कान्हडदे पवाड़ु रास आदि नामों से पुकारा गया है। के०का० शास्त्री समराराम्‌ को प्रबंध मानने के पक्ष में हैं।[5] यही हाल पेथडरास का भी है। मजुमदार उसे भी ऐतिहासिक प्रबंध की कोटि में रखते जान पड़ते हैं।[6] इस सबसे ज्ञात होता है कि कालान्तर की रास, रासु रासो प्रबंध पवाड़ु, बेलि छंद विलास रूपक प्रकाश चउपइ तथा चरित आदि ग्रंथ साहित्यिक रचनाएं हैं और प्रबंध काव्य की कोटि में आती हैं। इनमें तात्विक अंतर का अभाव है। हजारीप्रसाद जी ने लिखा है—जिस प्रकार 'विलास' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए, 'रूपक' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए, 'प्रकाश' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए, उसी प्रकार 'रासो' या 'रासक' नाम देकर भी चरितकाव्य लिखे गए। जब इन काव्यों के लेखक इन

१—चंद्रकान्त मेहता मध्यकालना साहित्य प्रकारो-पृ० १११
२—मुनि जिनविजय द्वारा सिंघी ग्रंथमाला में प्रकाशित
३—डा० चंद्रकान्त मेहता मध्यकालना साहित्य प्रकारो-पृ० ११६
४—के० बी० व्यास कान्हडदे प्रबंध-अंग्रेजी भूमिका-पृ० ९०
५—के०का० शास्त्री आपणा कविओ-पृ० २११ २२१
६—मं०र० मजुमदार गुजराती साहित्यनां स्वरूपो-पृ० ८४
७—वही-पृ० ८०

शब्दों का व्यवहार करते होंगे तो अवश्य ही उनके मनमें कुछ न कुछ विशिष्ट काव्यका रहता होगा। राजपूताने के डिंगल साहित्य में परवर्ती काल में ये शब्द साधारण चरितकाव्य के नामान्तर हो गए हैं। बहुत से चरितकाव्यों के साथ 'रासो' नाम जुड़ा मिलता है—जैसे रायमलरासो, राणारासो, रतनसिंघरासो रतनरासो इत्यादि। इसी प्रकार बहुतेरे चरितकाव्यों के साथ 'विलास' शब्द जुड़ा हुआ है—जैसे, राजविलास, जयविलास विजयविलास, रतनविलास भीमविलास भीमविलास। विलास शब्द भी कुछ क्रीड़ा कुछ खेल आदि की ओर इशारा करता है। इसी प्रकार कुछ काव्यों के नाम के साथ 'रूपक' शब्द जुड़ा हुआ है—जैसे राजारूपक गोगादेरूपक रावरिणमलरूपक, पर्वतसिंघजीरूपक इत्यादि। स्पष्ट ही रूपक शब्द किसी अभिनेयता की ओर संकेत करता है। ये शब्द केवल इस बात की ओर संकेत करके विरत हो जाते हैं कि ये काव्यरूप किसी समय, गेय और अभिनेय थे। रासक का तो इस प्रकार का लक्षण भी मिल जाता है। परन्तु धीरे धीरे ये भी कथाकाव्य या चरित काव्य के रूप में ही याद किए जाने लगे। इनका पुराना रूप क्रमशः भुला दिया गया, परन्तु पृथ्वीराज के काल में यह रूप सम्पूर्णरूप से भुलाए नहीं गए थे। इसीलिए पृथ्वीराज रासो में कथा-काव्यों के भी लक्षण मिल जाते हैं और रासक रूप के भी कुछ चिन्ह प्राप्त हो जाते हैं।[1]

इस प्रकार हमने देखा कि रासो संज्ञक रचनाओं की दो धाराएं स्पष्टत जान पड़ती हैं। एक तो नृत्य-गीत-परक और दूसरी छंद वैविध्य-परक। पहली धारा का उद्भव रास और रासक से हुआ यह हम देख चुके हैं। जैनों की अधिकांश अपु कृतियां इसी धारा में गिनी जा सकती हैं—जैसे आबूरास समरारासु पंचपाण्डवरास बुद्धिरास आदि। दूसरी प्रकार की धारा का दर्शन अपभ्रंश कालीन साहित्य में देखा जा सकता है। अपभ्रंश छंदशास्त्रियों ने रासक और रासाबंध काव्यों के लक्षणों का निर्देश किया है[2] जिसका विवेचन पहले ही किया जा चुका है। इसी परम्परा में पृथ्वीराजरासो हम्मीररासो राउ जैतसी रोरासो रामरासो आदि की गणना की जा सकती है। इस प्रकार की कृतियों में धीरे-धीरे आख्यानक बातों का प्रवेश होने लगा और साहित्यिक रूढ़ियां बढ़ती चली गई।

अब हम रासो काव्यों की विशेषताओं पर गौर करें। यहां रासो का अर्थ मात्र रासो संज्ञक रचनाओं से न लेकर हम विस्तृत अर्थ लेंगे जिसके अन्तर्गत सभी प्रकार की प्रबंधात्मक कृतियां गृहीत की जा सकती हैं।

प्रत्येक रासो या प्रबंध का प्रारम्भ मंगलाचरण या स्तुति से हुआ है। जैनों ने अपने उपास्य तीर्थंकरों की वंदना से भी ग्रंथों की शुरुआत की है। कुछ उदाहरण देखिये –

१—हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृ० ६० ६१

२—मुनि जिनविजय भरतेश्वर बाहुबलिरास—आरम्भ

रिसह जिणेसर पय पणमेवि
सरसति सामिणि मनि समरेवि ।[1]

—शालिभद्रसूरि–भरतेश्वर बाहुबलिरास

अम्बदेव ने समरारासु में आदीश्वर की वंदना करने के बाद सरस्वति की वंदना की है ।[2]

पहिलउ पणमिय देव आदीसरसे तुधसिहरे ।
अनु अरिहंत सब्बे वि आराहउ बहुभत्ति भरे ॥१॥
तउ सरसति सुमरेवि सारयससहर निम्मलीय ।
जसु पयकमल पसाय मुरुख माल्हइ मन रलिय ॥२॥

—अम्बदेव–समरारासु

हीरानंद सूरिकृत कलिकाल–रास का प्रारम्भ भी जिनवीर की अभ्यर्थना से तत्पश्चात सरस्वती की वंदना से होता है[3] —

पहिलं धुरि पणमेई, सिरि वीर जिणंद ।
सरसति मनि समरेई आणिय मनि आणंद ॥१॥

— हीरानंदसूरि — कलिकालरास —

पद्मनाभ ब्राह्मण कवि था, अत उसने अपने कान्हडदे प्रबंध में सबसे पहले गणपति और सरस्वति की वंदना की है ।

गौरीनंदन वीनवूं ब्रह्मसुता सरसत्ति ।
सरस बंध प्राकृत कवूं, थउ मुझ निर्मलमत्ति ॥१॥

—पद्मनाभ कान्हडदे प्रबंध

इसी तरह से कवि ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपने आराध्य को स्मरण करते रहते थे । रतनू वीरभाण ने राजरूपक का प्रारम्भ यों किया है ।[5]

कमल–नयन मंगलकरन, श्री राधा घनश्याम ।
कवि भ्रम–भ्रमर न सोच कर, सिमरि नाम अभिराम ॥१॥

काजी बाबर मुसलमान था फिर भी उसने ग्रन्थारम्भ में सरस्वती की ही वंदना की है ।[6]

१—मुनि जिनविजय भरतेश्वर बाहुबलिरास — प्रारम्भ
२—दलाल प्राचीन गुर्जर काव्य — पृ० २७
३—हिन्दी अनुशीलन — वर्ष १० अंक १ पृ० ५५
४—के० बी० व्यास कान्हडदे प्रबंध — पृ० १
५—रामकर्ण आसोपा राजरूपक — पृ० १
६—लक्ष्मीकुमारी चूंडावत वीरवाण पृ० १

सुमत समापो सारदा, आपो उकती आप ।
करणी मज परगल करूँ, तुम महर परताप ॥१॥

—बारठ बीरदान

किसना जी आढ़ा ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रघुवर जस प्रकाश' में गणेश जी की स्तुति इस प्रकार की है।[1]

श्री लम्बोदर परम संत सुदंत परम सिधिवर ।
भाल फरस ओपंत, विमल-जल हुंत अंबर ॥
मद कपोल महक्क, मधुप भ्रामंत गंधमय ।
मंद महेसुर मन निमंत, हित ध्यावंत हर ॥
सधरंत 'किसन' कवि मन सरज, तन अभंत अनति सुमत ।
जानकी-कंत असरण सुसरण, एकदंत दीजे उकत ॥ १ ॥

—किसना जी आढ़ा रघुवर जस प्रकाश

राम के चरित्र को आधार बना कर चलने वाले मंसाराम सेवक मंगलाचरण में श्रीराम की जय मानते हैं।[2]

श्रीमिध जावमयायं, आरिजनवर्गं च ज्यानकी वल्लभ ।
अखिल जगत आधारं, शरणधरण नामो जनमस ॥१॥

—कविमंसा-रघुनाथरूपक

राठौड़ कवि पृथ्वीराज की वेलिका मंगलाचरण इस प्रकार है[3] —
परमेसर प्रणवि प्रणवि सरसति पुणि, सदगुरु प्रणवि त्रिण्हे ततसार ।
मंगल रूप गाइ जै माहव, चार सु ए ही मंगल चार ॥ १ ॥

—राठौड़ प्रिथीराज वेल क्रिसन रुकमणीरी

इस प्रकार हम देखते हैं कि पृथ्वीराज रासो से लेकर परवर्ती डिंगल काव्यों में भी प्रारम्भ में मंगलाचरण अवश्य रहा है।

डिंगल प्रबंधकाव्यों में बहुधा ग्रंथ के प्रारम्भ में अथवा अन्त में कवि अपना परिचय वंश विवरण गुरु का उल्लेख और कभी कभी ग्रंथ की महत्ता का निर्देश कर देता है। रचनाकाल का संकेत भी कभी स्पष्टतः और कभी प्रतीक पद्धति से कर दिया जाता है। वैसे अपवाद रूप में ऐसी रचनाएं भी उपलब्ध हैं, जिनके रचयिता के सम्बन्ध में जानकारी नहीं मिलती। कभी-कभी प्रतियों के खंडित होने के कारण और कभी अपेक्षित कारणों से यह अभाव है, इसमें सन्देह नहीं। इस मान्यता के प्रमाण में निम्न उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं —

१— सीताराम लालस रघुवरजस प्रकाश — पृ० १
२— महताबचन्द रघुनाथ रूपक गीतां रो-पृ० १
३— आनन्दप्रसाद दीक्षित वेलि क्रिसन रुकमणीरी-पृ० १

रघुवरजसप्रकासकार किसना जी आढ़ा ने अपनी कृति के अन्त में अपने समूचे वंश का संक्षिप्त परिचय दे दिया है[1] —

> दुरसा' घर विसैखि किसन घर सुकवि महेसुर।
> सुत 'महेस' 'पूमान 'साँम साहिब सुत जिम घर॥
> 'साहिब घर 'पनसाह' 'पना' सुत 'दुलह सुकव दुम।
> 'दुलह घरे घट दुत 'दोल 'बस' 'किसन 'बुधी' भ्रम॥
> साकब 'अमन' गुरधर उजम, प्रगट नगर पाँचेटियौ।
> कारण जादी आढ़ा विमत 'किसन सुजस नियम कियौ॥१५॥

कवि के नाम की छाप तो प्रायः मिलती ही है। रचना काल का भी उल्लेख मिल जाता है। पर प्रायः सभी ग्रन्थों की महत्ता अवश्य वर्णित मिलती है। कभी यह असमर्थ वर्णित होती है कभी साथ ही उदाहरण के लिए वेलि क्रिसन रुकमणीरी की निम्नपंक्तियाँ देखिए।[2]

> करि मवचे दिन रात कंठ करि
> पामै स्त्री फल मगति अपार॥ १०१॥

रघुनाथ रूपककार कहता है[3] —

> उर आण भगती नीत उपजै चातुरीं अह चोजसू।
> अवमेव विरदां हुवै वाकब मिलै सरगत मोजसू॥
> इण ग्रन्थ मो रघुनाथ गुण अत मेव कविता भाखियो।
> इण हित कारण नाम ओ रघुनाथ रूपक राखियो॥

यहाँ कवि न केवल उसकी महत्ता ही प्रदर्शित करता है, किन्तु नामकरण का आधार भी प्रस्तुत कर देता है। प्राचीन जैन रासो में इस परिपाटी का कट्टरता से पालन किया गया है। हाँ साहित्यिक कृतियों में यह परिपाटी इतनी अनिवार्य नहीं है। जो विशुद्ध लौकिक काव्य हैं उनके कर्ता भी इस रूढ़ि पालन से नहीं बच सके। कई कवियों ने तो ऐहिकतापरक रचनाओं को भी धार्मिक महत्ता से मंडित कर दिया है जैसे पद्मनाभ ने अपनी रचना कान्हड़दे प्रबंध के अन्त में अनेक पुण्य कार्यों की गणना कराई है और कहा है कि कान्हड़दे चरित्र को पढ़ने और सुनने वाले दोनों अपार पुण्य के भागी होते हैं।[4] यथा

> एकचित्ति जे नर साँभलइ, तेह तणां सवि दुःकृत टलइ।
> जे फल सामइ दीजइ दानि ते फल गंगा तणइ सनानि॥१४५

१—सीताराम लालस रघुवर जस प्रकास पृ० १४०
२—नरोत्तम स्वामी क्रिसन रुकमणीरी वेल पृ० १२९
३—महताबचन्द्र रघुनाथरूपक गीतांरो पृ० २८४
४—डा चन्द्रकान्त मेहता मध्यकालना साहित्य प्रकारो पृ० १२१
५—के०बी० व्यास कान्हड़दे प्रबन्ध पृ० २१२ २११

जे फल हुइ तप कीधइ घणा, ते फल हुइ दरसंनि मरधणा ।
जे फल सत्य वचन प्रमाण, ते फल हुइ सांभलीइ पुराण ॥१४६
जे फल पामइ तपसी सर्व, जे फल हुइ बांध धोइये ।
जे फल पामइ कीधइ यांघि, जे फल भेट्यां हुइ प्रियाचि ॥१४७
जे फल पामइ बंधाहारि, जे फल हुइ भंडि केदारि ।
जे फल हुइ दिवा ज्यद्री, जे फल भेट्यां गोदावरी ॥१४८
जे फल नारायण बीठइ नैमि जे फल हुइ दानि कुरुखेत्र ।
जे फल पामइ साहवि सती, जे फल हुइ नाह्यां गोमती ॥१४९
जे फल लहइ द्वारिको प्रभाति, जे फल भेट्यां हुइ प्रभाति ।
जे फल हुइ मुगतिपुरी साति, रामनाम उच्चरइ प्रभाति ॥१५०
कान्हडचरित जि को नर भणइ एकचिति जि को नर सुणइ ।
तीरथफल बोलमु येतलू, पामइ पुण्य सवे तेतलू ॥१५१

इसी प्रकार असाइत ने हंस-वच्छ चौपाई या हंसाउली नामक प्रेम कथा की महत्ता बताते हुए कहा है[2] —

भणता बोप बरिद्र तनि टलि मनि बछाहित बाछला फलि ।
ममि भणवि गित पुणि मवनवि आवि आविनि ॥१७॥

चंद बरदायी के पृथ्वीराज रासो की ये पंक्तियाँ तो प्रख्यात ही है[3] जिसमें वह रासो की प्रशंसा करता है —

कावि समंद कवि चंद कृत मुगति समप्पन ज्ञान ।
राज नीति बोहिथ सुफल पार उतारण मान ॥२२॥

यही परम्परा विभिन्न डिंगल प्रबंध काव्यों में देखने को मिलती है। इसी महत्ता प्रदर्शन की परम्परा का एक रूप कृति में क्या क्या है आदि पर विस्तृत प्रकाश डालता है। उदाहरण के लिए पृथ्वीराज रासो से बंशभास्कर तक इस अविच्छिन्न परम्परा को देखा जा सकता है। यहाँ स्थानाभाव से मात्र एक दो उदाहरण ही अलम् होंगे।

राठौड़ पृथ्वीराज अपनी वेलिको गुढार्थी घोषित करते हुए कहते हैं कि सामान्य व्यक्ति उसे समझ नहीं पाता। उसे ठीक से समझने के लिए ज्योतिषी वैद्य पुराणों का विद्वान, योगी संगीतज्ञ, तार्किक व्याकरणशास्त्री कवि, भाषाविद् और चारण भाट आदि सभी को एकत्र होकर विचार करना पड़ेगा। तात्पर्य यह कि वेलि में ये सब ज्ञान मौजूद है।[4]

१—गोवर्धन शर्मा प्राचीन राजस्थानी गीत भाग ६-पृ० २१
२—कविराव मोहनसिंह पृथ्वीराज रासो सं० १-पृ० १०
३—नरोत्तमदास स्वामी क्रिसन रुकमणीरी वेलि पृ० १६६

जोतिषी वयद पउराणिक, जोषी
संगीती, तारकिक सहि ।
चारण, भाट, सुकवि, भाखा चष,
करि जेकठा त बरन कहि ।

हम आगे चल कर इस दिशा में और अधिक प्रकाश डालेंगे ।

डिंगल के प्रबन्ध काव्यों की एक विशेषता वस्तु-वर्णन है । नगरवर्णन प्रकृति-वर्णन, स्त्री-पुरुष वर्णन, युद्धवर्णन, घोड़ों, वृक्षों, योद्धाओं के नामों की परिगणना आदि कवि के अनिवार्य कर्तव्य हैं । यह सम्भव है कि जिस भोज का वर्णन हो रहा है, उसमें कवि स्वयं सम्मिलित न हो सका हो या जिस युद्ध का चित्र खींचा जा रहा है उसमे वह स्वयं भ प्रत्यक्ष न रहा हो, परन्तु इस प्रकार के अनेक भोज और अनेक युद्ध उसने अपनी आँखों से देखे हैं, अत अपनी प्रतिभा से वह पाठक के सामने एक ऐसा चित्र बनाता है जिसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों का ब्यौरा तथा भेदोपभेदों सहित प्रत्येक वस्तु का यथाक्रम नाम आता चला जाता है ।[1] जिस चित्र के लिए दूसरे कवि अलौकिक कल्पना तथा अलंकारों की सहायता लिया करते हैं उसका मनोहर रूप रासाकाव्यों में स्थूल सत्य तथा नाम परिगणना से ही निखर उठता है । रासो काव्यों में प्रस्तुत सामग्री ही इतनी सम्भावनातीत है कि अप्रस्तुत की आवश्यकता नहीं होती । गिरनार पर्वत की वनराजिका सौन्दर्य देखिये[2] —

चमुप (?) अंजन अंबिलीय, अंबाडय अ कुल्लु ।
स बर स बर आमलीय आगड अखोय बहुल्लु ॥ १५
करबर करपट करमातर (?) करवंसी करवीर ।
कुडा कडाह कयंब कड करब कदलि कंपीर ॥ १६
वेयलु वंजलु बउल बडो वेडस वरण विडंग ।
वासु तो बीरिणि बिरहु, अंसियालि बन बंग ॥ १७
सीसमि सिंबलि सिर (स) समि, सिंधुवारि सिरखंड ।
सरल सार साहार सय, सींगु सिमु (?) सिण संड ॥ १८
पल्लव-फुल्ल-फलुल्लसिय रेहइ ताहि [?] वणराइ ।
तहि उज्जिल-तलि धम्मियह उल्लटु अ गि न माइ ॥ १९

यहां वृक्षों की एक दीर्घसूची दे दी गई है । यमक और अनुप्रास के चतुराई के साथ किये गये प्रयोग से वृत्त में सजीवता आ जाती है । पृथ्वीराज रासो के ६१वें समय में (काशी नागरी प्रचारिणी सभा के बृहद् संस्करण के पृष्ठ १९९० से २००० तक) पकवान मिठाई वर्णन अचार-वर्णन, तरकारियों और भोरसवर्णन अचारवर्णन आदि का इसी प्रकार का भांडार है ।[3] राजस्थान में लड़ने वाले सैनिकों व सामन्तों

१—ओम्प्रकाश हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य – पृ० ११
२—रेवंतगिरि रासु – रास और रासान्वयी काव्य में पृ० १०१
३—ओम्प्रकाश हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य पृ० २०

के नामों की पीर्घ सूचियां हैं। समूचा चवालीसवां प्रकाश ऐसा ही है।[१] राजविलास में वस्तुओं की कीर्तनामावली प्रस्तुत की गई है।[२] इसी प्रकार कवि घोड़ों के प्रकारों की परिगणना कर उठता है।[३]

(ख) ऐंराक बारवी बस्न ऐ न,
सोभंत भवन सुन्दर सुनें न।
काश्मीर देस कांबोज कच्छि,
पय पंथ पौन पप कम लच्छि ॥८॥
बंगाल आदि के वाजि राज
काबिल सुकेक हय भूप काज।
कंधार उत्तन केहिं खुरासान
बपु ऊ च तेज बर विविध बान ॥९॥
हय हींस करत के जाति हंस
कबिले सु किल्हाड़े भौरं बंस।
किरड़िए सुराड़े के सु रत्त,
पीसड़ कैक सीले पवित्त ॥१०॥

डिंगल रासा ग्रन्थ विविध छन्दों में लिखे गये हैं। हम पीछे देख ही चुके हैं कि वृत्तजाति-समुच्चय एवं स्वयंभूछन्द दोनों ने रासाबन्ध काव्यों में विविध छन्दों का समावेश किया है। छन्द वैविध्य के साथ-साथ काव्यग्रन्थों का प्रकाश समय, प्रस्ताव उल्लास खण्ड पल्लव, विलास आदि में विभाजन भी मिलता है। दधवाड़िया माधोदास विरचित रामरासो में गाहा दोहे पाघड़ी कवित्त रसावला चौपाई मूलना मोतीदाम बंधावली श्लोक तथा वे अक्खरी छन्द मिलते हैं।[४] पाडन पसाइत रचित गुण जोधायण राव जोधाजी की प्रशंसा में लिखा गया वीररस का छोटा सा काव्य है जिसमें दोहा, कवित्त सुर्भगप्रयात और पाघड़ी सब मिलाकर ७५ छन्द हैं।[५] पद्मनाभ के कान्हड़दे प्रबन्ध में भी अनेक देवी रागरागिनियों में निर्मित पद चौपाई, दोहे सवैये आदि छन्द हैं।[६] पृथ्वीराज रासो वंशभास्कर आदि में यह वैविध्य अद्भुत है।

बहुधा कवि जन अपने द्वारा प्रयुक्त छन्दों की सूचना या संख्या भी दे देते हैं। बादर ने लिखा है[७] —

१—रामकर्ण आसोपा राजरूपक ४४ प्रकाश
२—मोतीलाल मेनारिया राजविलास-दूसरा विलास-पद १०९ ११२
३—वही छठा विलास
४—हीरालाल माहेश्वरी राजस्थानी साहित्य पृ० १७०
५—पुस्तक प्रकाश जोधपुर की हस्तप्रति
६—के०बी० व्यास कान्हड़दे प्रबन्ध
७—लक्ष्मीकुमारी चूंडावत वीरवाण पृ० ९१

सत बीस गीतांबोमा, ऊपर पाँच सवाय ।
एक गीत इतरा दूहा भणीया गुण सुभ भाय ॥ १७२
मवगुण पुणा तीन सो, बीरवाण बखवार ।
सुध वाचीजो सकवीयां वाधर कही विचार ॥ १७३
सवासे गीतांणीयां, दूहा पुण सत दोय ।
गीत एक इण ग्रन्थमें, समझहु वाचक सोय ॥ १७४

चन्द भी कहता है[1]—

छंद प्रबन्ध कवित्त जति साटक, गाह दुहत्थ ।
लहु गुरु मंडित खंडि यहि पिंगल अमर भरत्थ ॥

अर्थात् उसके रचे छंदों की जातियाँ-कवित्त (छप्पय), साटक (शार्दूल विक्रीडित) गाह (गाथा), दुहत्थ (दोहा जिनके रूप सोरठों को भी इसी में माना ही है) इनके अतिरिक्त संस्कृत श्लोकों का प्रयोग भी किया गया है ।

सभी रासाकाव्यों में अर्थालंकारों और शब्दालंकारों का विशेष प्रयोग है । वीरकाव्यों के सौन्दर्यपक्ष का अध्ययन करते हुए हमको दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं–एक का उद्गम संस्कृत साहित्य से है और दूसरी का लोकसाहित्य से संस्कृत का प्रभाव शृंगार आदि कोमल रसों में अधिक मिलता है क्योंकि इनकी भोगभूमि कदाचित् राजसभा रही होगी अन्यत्र 'प्राकृत प्रभाव है क्योंकि वह जन सामान्य की वस्तु थी । संस्कृत में पंडित परम्परा से सौन्दर्य सम्बन्धी ऐसे नियम बने हुए थे जिनका पालन कवियों का कर्तव्य हो जाता था उदाहरण के लिए किस अंग के वर्णन के लिए किस अप्रस्तुत का उपयोग होना चाहिए, यह निश्चित था । रासो काव्यों ने इस प्रवृत्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार को अधिक अपनाया है और जैसा कि स्वाभाविक है शरीरांगों के वर्णन में सम्भावना का आधार वस्तूत्प्रेक्षा ही है । महाकवि चन्द ने पद्मावती के रूप का वर्णन इसी शैली पर किया है और गजनी की सुन्दरियों के चित्र भी इसी प्रकार के हैं —

समीर कोर रत्तियं । वसन्त ते सुभत्तियं ॥
मनो कि डार पक्किय । अनार ते बरक्किय ॥
डुलैं अबक्क लंबियं । उरोज सो बिलम्बियं ॥
मनो कि ते उरग्गियं । कली कुमुद सग्गियं ॥ (६७वां समय)

यहाँ पर दांत केश उरोज आदि के लिए जिन अप्रस्तुतों का उपयोग हुआ है वे संस्कृत साहित्य में परम्परा से प्रसिद्ध थे ।[2]

रुक्मिणि की वय सन्धि का वर्णन करते हुए पृथ्वीराज की मौलिकता दर्शनीय है । वे कहते हैं[3] कि वयःसन्धि के आरम्भ होते ही–प्रथम रुक्मिणी का मुख धवल हो

१—मोहनसिंह पृथ्वीराज रासो सम्पादकीय पृ० १
२—ओम्प्रकाश हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य पृ० २०–२१
३—आनन्दप्रसाद दीक्षित वेलि क्रिसन रुकमणीरी पृ० ४

गया, मानों पूर्व दिशा में सूर्योदय के समय लालिमा छा गई हो। कुच युगल भी ऐसे उभत हो गये है, मानों उस राग को देख कर उसे पूर्व दिशा में उदित सूर्य का राग समझ कर ऋषिगण भी सन्ध्या वन्दन करने के लिए जाग उठे हों –

पहिलो मुख राग प्रगट थयी प्राची
अरुण कि अरुणोद अम्बर।
पेखे फिरि जागिया पयोहर
संझा वन्दण रिखेसर ॥ १६ ॥

यहाँ सौन्दर्यवर्णन में एक अनूठी ताजगी है। मात्र परम्परा पालन ही नहीं है। अब हम एक लोक परम्परा का उदाहरण लेंगे। संस्कृत साहित्य के परे जनता में प्रचलित उपमानों का प्रयोग भी यथावसर हुआ है। रतनारी आँखें और मूंगफली-सी सुन्दर पंगति-नरपति से प्रशंसा पाती हैं। कवि ने रानी की शोभा यों वर्णित की है[1] —

ससि-वदनी बीरयौ मात-गयंद।
लावडीया — रतनालियाँ॥
मोहरा जांणे भमर भमाय।
मू ग फली सी आंगुली॥
कुसम-कली कर-नख बीसा।
कनक कू डल बन सोहइ कान॥

यहाँ इन उपमानों का जनजीवन से सान्निध्य चिन्तनीय है।

दूसरी प्रवृत्ति का आभास नाम गिनाने वाली शैली में ऊपर मिल चुका है। सौन्दर्य-वृद्धि के लिए इन काव्यों ने एक प्रकार की अत्युक्ति को अपनाया है जिसके कई रूप हैं जिनमें से मुख्य है 'संख्यात्मक अत्युक्ति' जिसमें वर्णन करते हुए वर्ण्य वस्तु की ठीक-ठीक माप या मात्रा बतलाई जाती है। रासो काव्यों में इस अत्युक्ति का उपयोग वैभव-वर्णन युद्धवर्णन तथा भोजवर्णन तीनों ही स्थलों पर किया गया है। 'पृथ्वीराज रासो' के ६१वें समय में रावल जी की खातिरदारी में कितना अन्नादि व्यय हुआ यह कवि ने ठीक-ठीक बतला दिया है[2], अम्मन बब्बर की लड़ाई के समय लूट में क्या-क्या और कितना-कितना मिला इसकी[3] चर्चा है, तो कवि नर

१—सत्यजीवन वर्मा बीसल देव रासो पृ० ६६

२— सीधो मन सै पंच साक पक्कव तैसारत्तम।
दही-दूध अनपाह घत मन असी अनोपम।
मैदा मन पंचास बीस मन बेसन दीनौ॥ (पृ० रा० २११८)

३— एक लक्ख वाजित्र सहस दीनइ मय मत्तह।
लक्ख एक लोकार, तेज एँ राकी तत्तह।
आराबी हुजिनी, सत्त सै सत्त सु भारिय। (११४)

पति नाल्ह यही बतलाते हैं कि राजा बीसलदेव के अभियान के समय उनके साथ कितने पैदल थे, कितनी पालकियाँ थीं, और कितने हाथी थे —

आठ सहस नेजा-बन्धी, पालकी बैठा सहस पचास ।
हाथी चाल्या डोडसौ, असीय सहस चाल्या केकाण ॥

अत्युक्ति का दूसरा रूप 'चित्रात्मक अत्युक्ति' में मिलता है यहाँ न तो संख्या बतलाई जाती है और न उसकी सहायता लेनी पड़ती है, केवल वर्ण्य-वस्तु का चित्र खींच कर उसकी अभिव्यंजना पर जोर दिया जाता है। युद्ध की विकरालता का वर्णन यह बतलाकर भी किया जा सकता है कि उसमें इतने व्यक्ति इतने हाथी-घोड़े मरे और यह बतलाकर भी किया जा सकता है कि रक्त के नाले बहने लगे।[1] प्रथम को संख्यात्मक अत्युक्ति कहेंगे और दूसरे को चित्रात्मक क्योंकि इसमें पाठक के सामने एक वास्तविक चित्र रूप आ जाता है जिसके द्वारा अभीष्ट अभिव्यंजना पर पहुँचना कठिन नहीं होता। चित्रात्मकता में यदि खींचतान की जावे तो ऊहा बन जाती है जैसी कि फ़ारसी के प्रभाव से आगे हिन्दी साहित्य में स्थान स्थान पर दिखलाई पड़ी।

अत्युक्ति का सहारा लेते-लेते हमारे कवि कभी-कभी कल्पनालोक में जा पहुँचते हैं उस समय उनको इस संसार की विषमताओं तथा मात्राओं का ध्यान नहीं रहता। 'रावल जी की खातिरदारी' वाले उदाहरण में कवि को यह ध्यान नहीं रहा कि जिस भोज में पाँच मन आटा पचास मन मैदा तथा बीस मन बेसन लगा होगा उसमें मक्खी मन भी नहीं लग सकता। इसी प्रकार 'आल्हखंड' में[2] आल्हा-ऊदल की खिचड़ी में जितनी हींग पड़ती बतलाई गई है उस पर विश्वास तो होता ही नहीं पढ़कर केवल हँसी आती है। परन्तु ऐसे उदाहरण इन काव्यों में अधिक नहीं है। हाँ वैभव के वर्णन में ये कवि स्वर्ण चन्दन हीरा तथा पन्ना के बिना[3] चलना ही नहीं सीखे[4]।

अत्युक्ति के अनन्तर वीरकाव्यों का दूसरा प्रिय साधन वह है जिसको आज कल व्यंग्यार्थव्यंजना कहा जाता है इसका व्यवहार भी अपभ्रंश काव्यों में पर्याप्त मात्रा में मिलता है, दोनों ही स्थलों पर शृंगार रस में भी और वीर रस में भी। युद्धस्थल में उत्साहित करने के लिए सिंहनाद कितना काम करती है इसे सभी जानते

---

१ लोहान तनी बज्जै लहरि कोउ झुल्ले कोउ उत्तरै।
परनाल रुधिर चल्लै प्रबल, एक घाव एकहु मरै॥

२ आल्हा-ऊदल की खिचड़ी मां परिगै सवा लाख मन हींग।

३ (क) चंदन काठ को मांडहो, सोना की चोरी, मोती की माल।
(बीसलदेव रासो २२)

(ख) चन्दन पाट कपाट हैं चन्दन।
चुन्नी पन्ना प्रवाली खम्भ (११) वैदि किसन रुकमनीरो।

४ ओम्प्रकाश' हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य—पृ० २१ २१

हैं और खड़गों की खटखटाहट, बाणों की सरसराहट एवं घोड़ों की हिनहिनाहट का भी प्रभाव सर्वविदित है, दूसरी ओर सभी रसिक जानते हैं कि नूपुरों की छन छन, पायल की झन-झन तथा किंकणी की कन-झन में क्या संदेश छिपा रहता है। रासोकाव्य नाद को अधिक पहचानता था, इसलिए उसमें नाद के द्वारा ही अर्थ तक पहुंचाने वाली सर्वजन-सुलभ ध्वन्यर्थव्यंजना की शैली के असंख्य उदाहरण मिलते हैं।

(१) झनं झननं भम नूपुरयं।
झननं-झम चूरिय भूरि भयं ।। (परमालरासो-श्रृंगार)

(२) हुहकंत कूकंत नंचे कमंधं। कड़क्कंत बज्जंत छुट्ट त संधं।
चहुचक्कंत मूटंत तुट्टंत भूमं। मुक्कंते चुकंते दोऊ बग्ग सूमं ।।
(पृ० रा० २११०)

कड़कंत' 'बजकंत, 'तुटंत' आदि ऐसे शब्द हैं जिनको सुनकर ही उनकी क्रिया का चित्र नैनों के सामने आ जाता है, इनसे मिलते-जुलते-शब्द 'हुहक त (हाहाकार करते हुए), बज्जंत (बजते हुए) आदि भी अपेक्षित भाव की उत्पत्ति में सहायक हैं[1]।

डिंगल काव्यों में बीच बीच में आने वाले मुक्तकों सुभाषितों, सूक्तियों आदि का प्रयोग भी एक विशेषता है। अनेक स्थानों पर इन्होंने लोकप्रिय कहावतों का स्थान ग्रहण कर लिया है—यथा

भावी गति आपन्न विपति को मेटन समरथ्थ।
राम युधिष्ठिर और नल तिन में परी अवथ्थ ।।
(पृथ्वीराज रासो–पृ०१९८५)

भावी गति और विपत्ति को मिटाने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है। राम युधिष्ठिर और नल जैसे नरपुंगवों पर संकट आ पड़े।

दवका दाधा कूपली मेल्ही।
जीभ का दाधा नु पांगरई।   —बीसलदे रासो -पृ० १७

दावाग्नि में जला वृक्ष फिर से पल्लवित हो जायेगा किन्तु जीभ से जला-बुझित व्यक्ति कभी चैन नहीं पाता।

विण बंधव सवि संपइ ऊणी।
जिम विण लवण रसोइ अलूणी ।।८१।।
—भरत बाहुबलि रास—

बांधवों के बिना सारी सम्पत्ति और ऐश्वर्य उसी प्रकार का न्यून है जिस प्रकार नमक के बिना रसोई।

---

१ ओमप्रकाश हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य—पृ० ६४

डूंगर-केरा बाहला, ओछां-केरा नेह ।
बहता बहइ उतावला, झटक दिखावइ छेह ॥११८॥
—ढोला मारूरा दूहा

पहाड़ी नाले और ओछे पुरुषों का प्रेम बहते समय तो बड़ी तेजी से बहते हैं, परन्तु तुरन्त ही छेह-अन्त दिखा देते हैं।

दुर्बल नई बल रायनं, मूरख नई बल मौन्य।
बालक बल रोवा तणू, तस्कर बल नइ थोम्य।
—माधवानल कामकंदला

दुर्बल का राजा का, मूर्ख को मौन का, बालक को रुदन का और चोर को शून्यता का बल रहता है।

डिंगल के प्रबन्ध काव्यों में सामयिक झलक मिल जाती है। यद्यपि बहुधा कवियों ने अपने मूल लक्ष्य को ही निभाने की कोशिश की है फिर भी प्रसंगानुकूल अवसर मिलने पर अन्य जानकारी देने की भी उनकी चेष्टा रही है। कवि के सामने अपने प्रबन्ध काव्यों के विषय और पाठक, दोनों ही रहते थे। समकालीन राजा का तो वह वर्णन करता था और यह वर्णन होता था सामन्तों तथा प्रजाजनों के लिए[1]। इसीलिए डिंगल रचनाओं में शास्त्रीय परम्परा और लोकवार्ताओं का विचित्र समन्वय पाया जाता है। इसी से उनमें विभिन्न कथानक रूढ़ियों का बहुलता से प्रयोग होने लगा[2]। ये काव्य किसी शास्त्रीय परम्परा के रूप मात्र नहीं हैं, वे दरबारी होते हुए भी यथार्थवादी हैं। काल्पनिक होते हुए भी ऐतिहासिक हैं, ज्ञान प्रदर्शन करते हुए भी पाण्डित्य से दबते नहीं पड़ते तथा राजा विशेष से सम्बन्ध रखते हुए भी युग प्रतिनिधि हैं, वे राजकवियों के द्वारा लिखे गये थे फिर भी जनता के जीवन से उनका निकट सम्बन्ध है[3]।

हम पहले देख ही चुके हैं कि कान्हड़दे प्रबन्ध को कवि पद्मनाभ ने स्वयं एक जगह कान्हड़दे पवाड़ू कहा है। यह पवाड़उ पवाड़ा क्या है? मेरी दृष्टि में पवाड़े का अर्थ है किसी वीर का प्रशस्ति काव्य वीर के पराक्रम विधानों की बुद्धिमत्ता तथा किसी व्यक्ति विशेष के सामर्थ्य गुण कौशल आदि का काव्यात्मक गेय वर्णन पवाड़ा कहा जा सकता है। पवाड़ों को प्रवाड़े अथवा परवाड़ों की संज्ञा से भी संबोधित किया जाता है। डा० सहल के अनुसार 'पाबूप्रकाश' में कवि ने परवाड़ा शब्द का प्रयोग अलौकिक वीर कृत्य के रूप में किया जान पड़ता है[4]। डा० सत्येन्द्र ने पवाड़ों के उद्भव के सम्बन्ध में विचित्र कल्पना की है[5]। उन्होंने

१ ओम्प्रकाश· हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य—पृ० २
२ हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृ ७१-७५
३ ओम्प्रकाश· हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य—पृ० १८
४ परवाड़ा कीधी प्रथी, मारवाड़ा अवनीप। पाबूप्रकाश पृ० २९
५ सत्येन्द्र ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन—पृ० १४८-४९

लिखा है—पंवारा के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि यह शब्द कहाँ से निकला। पंवारा ब्रज के मुहावरे में तो झंझट, झगड़े अथवा युद्ध का पर्याय हो गया है, विशेष कर ऐसा झंझट जो समाप्त ही न होने पाये। 'इस पवाड़े से बचो', 'यह कहाँ का पवाड़ा फैला दिया है?'-ऐसा बहुधा कहा जाता है। बुन्देलखंड में पवाड़े का अर्थ लम्बी कथा का भी होता है। मराठी में यह शब्द वीर गाथा' के लिए प्रयुक्त होता है। ये सभी अर्थ 'पंवारे' के वाच्यार्थ अथवा मूल अर्थ नहीं। ये दूसरे अर्थ हैं जो प्रयोग के कारण इसे मिले हैं। यह बात किसी सीमा तक उचित प्रतीत होती है कि इन गीतों में पहले पंवार-परमार क्षत्रियों की वीर गाथायें गायी जाती होंगी। वे लम्बी होती होंगी और लड़ाई झगड़ों से परिपूर्ण होती होंगी। फलतः परमारों के गीत होने के कारण 'पंवारे' कहलाये। पंवारों की कथावस्तु पूर्णतः ऐतिहासिक भले न हो पर कथा वस्तु का बिन्दु अवश्य ऐतिहासिक होता है।' कहना न होगा कि यह कल्पना समीचीन नहीं जान पड़ती। प्राकृत भाषा में प्रशस्ति, स्तुति अथवा कीर्ति स्तोत्र के लिए 'पवाड़' शब्द मिलता है। किसी की कीर्ति, महत्व अथवा महिमा को जोर शोर से प्रगट किया जाय, उसे पवाडउ कहा गया है। संस्कृत प्रवाद अथवा संस्कृत मूलक्रम प्रवृद्ध से प्राकृत पवडढ-पवडउ पवाडो का विकास अधिक संभव जान पड़ता है। 'हिन्दी शब्द सागर'-कार ने पंवाडे शब्द को संस्कृत प्रवाद से ही व्युत्पन्न माना है।

मराठी ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी' में इस शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है—यथा

है मारिले ते नर जोहे
आजीक ही शाजीव माडे।
भग मादेन पवाड़े मेकलाचि मी।

इस शब्द का मराठी में बहुत उल्लेख मिलता है। मुगलकालीन महाराष्ट्र में शौर्य व पराक्रम की एक नवीन लहर उठी उस समय पवाडे अथवा पोवाड़ों की बहुसंख्यक रचना हुई। इन रचनाओं को गाने वाला एक दल विशेष उत्पन्न हो गया और आज भी उसकी परम्परा के सूत्र उपलब्ध हैं। श्री कोलकर ने मराठी में ऐतिहासिक पोवाड़ा नामक संग्रह दो खंड में प्रकाशित भी कराया है। जिसमें ऐसी ही रचनाओं को एकत्र किया गया है।

पन्द्रहवीं सदी में रचित एक ग्रन्थ त्रिभुवन दीपक प्रबन्ध' अथवा 'प्रबोध चिन्तामणि' में पवाड़ा शब्द तीन स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है वहाँ इस शब्द का प्रयोग आख्यान अथवा किसी गीत विशेष के रूप में हुआ है यथा—

(१) पुत्र पवाड़ा सम्मली आणन्दिउ मरनाह।
(२) मन दिग्विजय करन्ता त्रिभुवन गिट्ठो बाइ लिखि फाड़ा
आलण नइडं केहउ केतला सुख मानसि पवाड़ा ?
(३) मुवनंड सुभट मड संगर, चडिय पवाडइं चंचर।

इस जन-काव्य का उद्भव कब से हुआ, यह कहना कठिन है। इनका जन्म तब हुआ होगा जब कि काव्य, संगीत व कथा में अन्तर न था। तब कथा और कविता का आपस में मेल था। कहानी विषय वस्तु को निर्मित करती थी और कविता उसके रूप-तत्व को, संगीत उसकी देह में प्राणप्रतिष्ठा करता था। पवाड़ों की रचना किसी एक व्यक्ति द्वारा की गई है अथवा जनसमुदाय द्वारा, इस विषय पर हमें विभिन्न मत दिखाई पड़ते हैं। प्रोफसर चाइल्ड के अनुसार पवाड़े में लोक-मानस व लोक-हृदय की अभिव्यक्ति होती है लेखक के व्यक्ति का प्रस्फुटन उसमें नहीं होता। अतः पवाड़े के रचयिता को कोई महत्व नहीं दिया जाता। पवाड़ा वस्तुप्रधान रचना है, व्यक्तिप्रधान नहीं[1]। फिर भी उसकी रचना किसी एक लेखक के द्वारा की जाती है। प्रोफेसर किटरिज व जैम्सग्रिम यह मान कर चले हैं कि कोई एक लेखक पवाड़े की सूत्रपात भर करता है, सम्पूर्ण पवाड़े की रचना उसका एकान्तिक कार्य नहीं होता जन समुदाय के साहचर्य से वह पवाड़े को आगे बढ़ाता है। वे 'फोक इज वि औथर' को मानते हैं[2]। दोनों धारणाओं में सत्य का कुछ अंश है। पवाड़े को केवल जनकाव्य ने ही अपनाया हो ऐसी बात नहीं है। अनेक कवियों ने भी अपने काव्यग्रंथों में 'पवाड़े' काव्य रूप का प्रयोग किया है। पवाड़ों में भी मात्राओं का ध्यान रखा गया है, यद्यपि मौखिक परम्परा द्वारा उपलब्ध होने के कारण उनमें अनियमितता व नियम शिथिलता है। ये सब तथ्य संकेत करते हैं कि पवाड़ों का रचयिता कोई एक व्यक्ति हो था। जिस प्रकार अजन्ता व एलिफेंटा गुफाओं के मूर्तिकारों व चित्रकारों की नामावली के अभाव में भी हम उन कलाकृतियों के निर्माताओं के व्यक्तित्व व अस्तित्व में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करते उसी प्रकार पवाड़ों के निर्माताओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

ईसा की तेरहवीं शताब्दी में पवाड़ों का प्रचार महाराष्ट्र गुजरात राजस्थान पंजाब व ब्रजप्रदेश में था ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं।[3] सिद्धपुर निवासी कवि असाइत (सं० १४२७) ने तत्कालीन देशभाषा (प्राचीन मरु-गुर्जर) में 'हंसावलि पुस्तक लिखी है। हंसावलि का वास्तविक नाम हंसवच्छ चरित्र पवाड़ो जान पड़ता है। काव्य की समाप्ति पर कवि ने कहा है[4]—

संवत १४१ चउद मंड मुनि संख
वच्छहं स वर चरित्र असंख।
बामण और कपारव, जोर,
यह पवाड़ असाइत कहिउ।

---

१ ढोलामारू रा दूहा (भूमिका) पृ० १४ पर उद्धृत।

२ वही, पृ० १५।

३ माचवे मराठी और उसका साहित्य पृ० २१

४ के० का० शास्त्री कविचरित्र पृ० १

उसी प्रकार सांयाजी झूला नामक चारण कवि द्वारा भी पवाड़ै का प्रयोग मिलता है। इसी कवि के (१६३२ १७०३ वि०) 'नाग दमण' व 'रुक्मणिहरण' दो काव्य ग्रन्थ मिलते हैं।[1] नागदमण एक छोटा सा खंडकाव्य है जिसमें कालिय-मर्दन की कथा कही गई है। इसमें १२९ छंद हैं—१२४ भुजंग प्रयात, चार दोहे और एक छप्पय। इसके मंगलाचरण के दोहों में उन्होंने प्रकट किया है कि मैंने 'जदुपतिनाथ के चरित्र' को पवाड़े के रूप में गाया है—यथा वीर कृत्य के वर्णन के रूप में—

विधिया सारदा विमल, सद्गुरु करूं पसाय।
पवाड़ो पन्नगा-सिरे, जदुपति कीनो जाय॥

इन सभी उदाहरणों से ज्ञात होता है कि 'पवाड़े का अर्थ' एक ऐसी गेय रचना से लिया जाता रहा है जो किसी वीर के कृत्यों से संबंधित हो। पवाड़े निश्चय ही वीर गीत हैं। पराक्रम व अद्भुत कार्यों का वर्णन ही इनका उपजीव्य रहा है। छंद के संबंध में पर्याप्त विविधता रही है। अपभ्रंश की 'हंसावलि (हंस वच्छ चरित पवाड़ो)' का मुख्य रस अद्भुत है। 'नागदमण' तो कृष्ण के विचित्र, साहसिक व अद्भुत कृत्य का काव्य है ही। पाबूजी के पवाड़े तो उनके अलौकिक पराक्रम की गाथा गाते हैं। अतः जहाँ तक विषय-वस्तु का प्रश्न है सभी में पराक्रम व अलौकिक कार्यों का स्तुतिपरक वर्णन है किन्तु यह समानता की भावना छंदों में नहीं है, 'हंसावलि (हंस वच्छ चरित पवाड़ो)' चौपाई छंद में है। पाबूजी के सभी पवाड़ों में एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। एक छन्द में प्रयोग के कारण कथा का प्रवाह अक्षुण्ण बना रहता है, जो प्रबंध काव्य के लिए आवश्यक व वांछनीय है।[2] डा० सहल के मत में पवाड़ों का छन्द मात्रिक अतुकान्त छन्द है, जिसके प्रथम व तृतीय चरणों में १६ तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में क्रमशः ११ व १३ मात्रायें होती हैं। अपनी मान्यता की पुष्टि में उन्होंने निम्न उदाहरण दिया है—

आठै ई परणीजो राणी ।१६।
बासी तीम्बू लोक ।११।
(कोई) आंको तो टालेडो ए जो ।१६।
रामचरण हू ना दम्यो ।१३।

उनके द्वारा संपादित सतियों के पवाड़े में यही क्रम है। किन्तु श्री नरोत्तम स्वामी द्वारा संपादित सोढ़ी की रो-पवाड़ो का छन्द-विन्यास बिल्कुल भिन्न है। यथा—

हाल्या हाल्या छाती परला द्वार ।१६।
(कोई) पावनड़ी तो मुड़की बिछिया बाजिया ।ए मोती सहया। ।२१।

---

१ मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ० ११२ ११
२ 'मरुभारती' वर्ष १, अंक १, डा० सहल का लेख पृ० २६

यहाँ उन्नीस और इक्कीस मात्राओं का क्रम है। पर इसमें बहुत अपवाद भी मिलते हैं जो स्वाभाविक ही है। 'पाबूजी रा पवाड़ा'[1] में तो बहुत अधिक विषमता है। इन सब तथ्यों को ध्यान में रख कर कहा जा सकता है कि छन्द की दृष्टि से 'पवाड़ों' की संज्ञा से अभिहित किए जाने वाले काव्य-रूप के लिए कोई निश्चित नियम नहीं है। हां सभी छंद मात्रिक है। गेय हैं अतः उनके लिए मात्रिक होना ही अधिक सम्भव व स्वाभाविक है। रचना तत्व की दृष्टि से पवाड़ों की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है[2] कि जिसमें मुख्यतः चौपाई बंध हो उसमें अन्य प्रकार के छंद अथवा दोहे आवें कि न आवें। इसी प्रकार अलग-अलग राग में गाने के पद आवे चाहे न आवें। गेय, रास काव्यों यथा कड़वा रास, ठवणी, ढाल की तरह ही पवाड़ा भी एक गेय काव्य-स्वरूप है जो कथा को लेकर चलता है।

सर यदुनाथ सरकार ने वीर गीतों (लोक) के सम्बन्ध में निम्न विशेषतायें बताई हैं। प्रबन्ध की द्रुत गति, सरल विन्यास की सादगी, विश्वव्यापक मर्मस्पर्शी प्राकृतिक और आदिम मनोराग, सूक्ष्म भावविश्लेषण के बजाय व्यापार की प्रधानता स्थूल किन्तु प्रभावोत्पादक चरित्र चित्रण क्रीड़ास्थली अथवा देशकाल का स्थूल अंकन, साहित्यिक कृत्रिमताओं का न्यूनातिन्यून प्रयोग या सर्वथा बहिष्कार सच्चे लोकगीत की ये नितांत आवश्यक विशेषतायें हैं[3] पवाड़ों में ये सब विशेषताएं हैं। पृथ्वीसिंह मेहता का मत है कि पवाड़ा शब्द का प्रयोग संस्कृत श्लोक अर्थ में हुआ जान पड़ता है और व्युत्पत्ति के विचार से यदि हम इसे संस्कृत शब्द प्रवर्णन या प्रवर्णना का अपभ्रंश माने तो शायद अधिक युक्ति संगत होगा। कुछ भी हो कालान्तर में इसी गेय काव्यरूप ने प्रबंधात्मक स्वरूप धारण कर लिया।

डिंगल में छन्द नाम से पुकारी जाने वाली रचनायें भी उपलब्ध होती हैं यथा श्रीधर का रणमल्ल छंद वीठू मेहाका पाबूजीरा छन्द बीठूसूजा कृत छन्द राव जैतसी रो। इन छंद संज्ञक रचनाओं का गठन दो प्रकार है। छोटी रचनाओं में कभी कभी एक ही छंद प्रयुक्त होता है, किन्तु अनेक बार भिन्न-भिन्न छन्दों का समुच्चय भी छंद नाम से पुकारा जाता है।[4] रणमल्ल छंद में वेसी राग छंद दोनों का प्रयोग है। पाबूजीरा छंद में गाहा मोटक और कलस छंदों का उपयोग किया गया है। राव जैतसीरा छन्द में ४ १ बंध है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि छंद संज्ञक रचनाओं में कोई ऐसी विशेषता नहीं है, जो उन्हें डिंगल प्रबंध काव्यों से जुदा करें। आख्यान नाम से पुकारी जाने वाली रचनाएं आख्यायिका और चरित्र दोनों का मिश्रण है।[5] हम देख ही चुके हैं कि डिंगल की रचनाओं में कथा और चरित्र

---

१ मरुभारती अंक १-४ पृ० १२१ ११
२ मजुमदार गुजराती साहित्यनां स्वरूपो—पृ० १९५
३ बी० एस० सिंघी राजस्थानी लिटरेचर में उद्धृत।
४ मजुमदार. गुजराती साहित्यनां स्वरूपो पृ० १०४
५ वही—पृ० १४९ १४०

दोनों का समन्वय है। प्रकास, विलास, रूपक, आदि भी ऐसी ही रचनायें हैं। अब इनके रूप विधान में कोई विशेष अन्तर नहीं रहा। इस प्रकार रास, रासो, प्रबंध आख्यान, विलास, प्रकास, छंद, रूपक, विवाहलो, वेलि, पवाड़ा, आदि सभी काव्य डिंगल प्रबंध काव्यों की कोटि में आते हैं।

प्रबंधकाव्यों से सर्वथा भिन्न किन्तु एक विशेष प्रयोजन को लेकर चलने वाले भी अनेक काव्य ग्रन्थ डिंगल में पाए जाते हैं। इनमें से कुछ तो एक ही विषय को लेकर लिखे गये मुक्तकों के संग्रह ग्रन्थ हैं और कुछ ऋतुकाव्य हैं। बांकीदास की रचनाएं पहले प्रकार की हैं[1] और फागु, बारामासी, सवैयो आदि काव्य प्रकार दूसरे ढंग की रचनायें हैं।[2]

पहले प्रकार की रचनाएं डिंगल में बहुत बड़ी संख्या में हैं, यह हम तीसरे अध्याय में देख ही चुके हैं। कवित्त दूहा छप्पय, कुंडलियां समान आदि मुक्तकों में एक विषय को लेकर काफी वर्षों से लिखा जाता रहा है। इनमें वस्तु-ऐक्य का झीना-सा आवरण मात्र है अतः प्रत्येक रचना अपने आप में स्वतंत्र मुक्तक है। डिंगल के महाकवि सूर्यमल्ल रचित 'वीर सतसई' को लीजिए। इसमें वीरों से संबंधित दोहों का संग्रह मात्र है। हाला-झाला रा कुण्डलिया में यद्यपि हाला और झाला सरदार के युद्ध का वर्णन है किन्तु प्रत्येक कुंडलिया अपने आप में स्वतंत्र मुक्तक है। चुगलमुख चपेटिका में बांकीदास रचित चुगलखोरों की भर्त्सना के दोहे हैं। अस्तु। इन सब पर डिंगल मुक्तकों के अंतर्गत ही विचार किया जाना चाहिए। हमने भी वैसा ही किया है।

फागु, धमाल, बारहमासा आदि रचनाएं स्पष्टतः ऋतुकाव्य हैं, यह इनके नामों से ही मालूम हो जाता है। मूलतः फागु और धमाल बसन्त ऋतु में गाये जाने का काव्य है। जिस प्रकार नवरात्रि और शरद पूर्णिमा के अवसर पर रास गाये जाते थे और तालिरास अथवा लकुटरास के रूप में खेले जाते थे, उसी प्रकार फाल्गुन चैत्र में बसन्त के आगमन पर भी फागु गाये और खेले जाते थे। फाग के समय में खेले और गाये जाने के कारण इसका नाम फागु पड़ा।[3] वैसे फागु रास का ही रूप है। इन काव्यों में मिलन और विरह दोनों आते हैं। प्रवृत्तियों और काव्यशैली के आधार पर विद्वानों ने फागु की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से बताई है—यथा
१—डा० सांडेसरा फागु की व्युत्पत्ति संस्कृत फल्गु से बताते हैं—फल्गु-फग्गु-फागु।[5]
२—के० बी० व्यास भी संस्कृत फाल्गुन से फग्गु और फिर फागु इस विकास को मानते

१ धवलपच्चीसी, संतोषबावनी, मावड़िया मिजाज कायर बावनी आदि
२ बसन्त विलास फागु, नेम-राव संवाद, बसन्त फागु आदि
३ मजुमदार गुजराती साहित्यना स्वरूपो—पृ० २००
४ हीरालाल माहेश्वरी राजस्थानी साहित्य—पृ० २४१
५ डा० भोगीलाल सांडेसरा प्राचीन फागु संग्रह—पृ० ५१

है। फाल्गुन में बसन्त ऋतु अपने पूर्ण यौवन पर होती है। हर्षोन्माद भरे इस समय के गान फागु कहलाते हैं। अक्षय चन्द्र शर्मा इसे मधु महोत्सव सभी गेय रूपक मानते हैं।[१ – २]

ऐसा प्रतीत होता है कि फागु का मूल उद्भव तो गेय-रूपक काव्य में बसन्तो त्सव मनाने से हुआ। इसी से फागु के मूल में लोक साहित्य का गीत स्वरूप है।[३] इसी सरस लोक काव्य का विकास कालान्तर में शिष्ट काव्य के रूप में हुआ। शैली और विषय के आधार पर विवेचन करते हुए भी लालचंद गांधी इसे विविध तत्वों से युक्त रचना देखते हैं।[४] फागबंध रचना को यमक अनुप्रासमयी शैली में रचित होना चाहिए ऐसा आदर्श भी स्थापित हुआ।[५] कुछ भी हो आंतरिक उल्लास से युक्त गेय काव्य फागु है।

डिंगल के मुक्तक काव्य में दो प्रकार की रचनाएं उपलब्ध हैं। एक तो वे जो गीत के नाम से पुकारी जाती हैं और दूसरी वे जो दोहों कवित्त कुण्डलियाँ तथा अन्य छन्दों में रचित हैं। राजस्थानी साहित्य का, राजस्थानी संस्कृति और लोकमानस का प्रतिनिधित्व यदि कोई काव्य रूप कर सकता है तो वह यही है।

डिंगल के कवियों ने तत्कालीन प्रसिद्ध और लोकप्रिय छन्दों का प्रयोग किया। उन्होंने संस्कृत-हिन्दी में प्रयुक्त गाथा (गाहा) पद्धरि मुक्तादाम तोमर भुजंग प्रयात त्रोटक आदि प्रसिद्ध सभी छन्दों का प्रयोग करने में कोई हिचक अनुभव नहीं की उसी प्रकार अपभ्रंश का दोहा भी बड़े प्रेम से अपनाया। कवित्त, कुण्डलियां और अन्य तुकान्त छन्दों का उपयोग भी बहुत हुआ फिर भी इन सभी छन्दों के अतिरिक्त 'गीतों' की रचना की गई, और बड़े परिमाण में की गई। डिंगल गीतों का अपना निजी विधान है। 'गीत शब्द से प्रायः हम ऐसी कविता का अर्थ लेते हैं जो गेय हो अर्थात् गाई जा सकती हो। सूर, मीरां अथवा कबीर के पद जिस प्रकार गाये जाते हैं उस तरह डिंगल के गीतों गाया नहीं जा सकता। ये गीत वास्तव में डिंगल के अपने छन्द हैं, जो गाये नहीं जाते विशेष ढंग से पढ़े जाते हैं।

राजस्थानी लोक मानस में एक बात आज भी प्रचलित है कि मनुष्य का नाम गीतड़ा के भीतड़ा रहता है अर्थात् मनुष्य का यश, उसकी प्रसिद्धि गीतों के रूप में लिखी जाकर अमरत्व पा लेती है अथवा दुर्ग कोट देवल महल हवेली आदि बनवाने से स्थायित्व ग्रहण करती है। यह धारणा डिंगल गीतों के लिए शक्तिशाली प्रेरक रही है और इसीलिए अनेक प्रकार के इन डिंगल गीतों की रचना सहस्त्रों की

१ के बी० व्यास बसन्त विलास–अंग्रेजी भूमिका–पृ० १८
२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका–वर्ष ५६ अंक १, पृ २५
३ मजुमदार. गुजराती साहित्यनां स्वरूपो–पृ २०१
४ जैन सत्य प्रकाश–वर्ष ११ अंक ७ पृ० २१२
५ अ० प्रे० शाह. जैन सत्य प्रकाश–वर्ष १२, अंक ५ ६ पृ १६५

रचना में हुई। विषय वस्तु के अनुरूप गीतों की रचना की जाती रही है और वीर गीतों के अतिरिक्त भक्ति, शृंगार, करुण आदि विषयों पर भी गीत रचे गये हैं। आगे चल कर हम इस पर विचार करेंगे।

'डिंगल गीत' वस्तुतः एक छंद विशेष है। इन गीतों के कई भेद हैं। डिंगल के भिन्न-भिन्न रीति ग्रन्थों में इनकी अलग अलग संख्यायें दी गई हैं। गुजराती भाषा में दीवान रणछोड़ जी द्वारा संग्रहीत और प्रकाशित 'रण पिंगल' नामक ग्रन्थ, जो तीन भागों में है, ग्रंथ क्या है मानों छन्द का एनसाइक्लोपीडिया है। इसके प्रथम भाग में लौकिक छन्द, दूसरे में पिंगलानुसार छन्दों का विस्तार, तीसरे में वैदिक, डिंगल तथा अरबी फारसी के छन्दों को लिया गया है और उनकी तुलनात्मक समीक्षा की गई है। छन्दों के संबंध में ऐसा गम्भीर अध्ययन बहुत कम हुआ है। इस ग्रंथ में डिंगल के ७४ गीतों का उल्लेख और विवेचन किया गया है। रघुनाथ रूपक डिंगल के छन्दों का दूसरा ग्रंथ है। जिसमें गीतों की संख्या ७२ है। यह ग्रंथ जोधपुर के महाराजा मानसिंह के दरबारी कवि मंछाराम ने लिखा है और नौ विलासों में विभक्त है प्रथम दो विलासों में वर्ण गण, दग्धाक्षर, गणागण, पचाक्षरी, [illegible] वयण सगाई, जथा, उक्ति व दोषों के लक्षण-नाम भेद आदि बातों पर प्रकाश डाला गया है। शेष सात विलासों में डिंगल काव्यों में प्रचलित ७२ जाति के गीतों का विस्तृत विवेचन है। किसन जी आढ़ा जो डिंगल के प्रसिद्ध दुरसाजी आढ़ा के वंशज और स्वयं अच्छे कवि थे उन्होंने अपने ग्रंथ 'रघुवर जस प्रकास' में डिंगल के ६४ प्रकार के गीतों का उल्लेख किया है। बूंदी के कवि मुरारिदान जी ने अपने 'डिंगल कोष' में भी गीतों पर प्रकाश डाला है। अस्तु।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है डिंगल गीत गाये नहीं जाते विशेष प्रकार से पढ़े जाते हैं इनको ठीक recite करना आसान काम नहीं यदि इन गीतों को किसी चारण और योग्य व्यक्ति के मुंह से सुना जाय तो कहीं इनके सौन्दर्य को समझा जा सकता है। कागज पर उतर कर ये छन्द अपनी ध्वनि सम्बन्धी विशेषता खो बैठते हैं और फिर इन गीतों के वास्तविक सौन्दर्य और चमत्कार का अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। श्री रामदेव जी चोखानी ने एक बार डिंगल गीतों को विश्वकवि रवीन्द्र को सुनवाया था। कहा जाता है कि कवि उन्हें सुन कर झूम उठे। उन्होंने एक जगह लिखा भी है 'कुछ समय पहले कलकत्ता में मेरे कुछ राजस्थानी मित्रों ने रण सम्बन्धी कुछ राजस्थानी गीत सुनवाये। मैं तो उनको सुनकर मुग्ध हो गया। उन गीतों में कितनी सरलता, मधुरता और भावुकता है। वे लोगों के स्वाभाविक उद्गार हैं। मैं तो उनको अन्य साहित्य से भी उत्कृष्ट समझता हूं। क्या ही अच्छा हो यदि वे गीत प्रकाशित किये जायें। यह गीत संसार की किसी भी भाषा और साहित्य का गौरव बढ़ा सकते हैं। इनका सौन्दर्य और चमत्कार ठीक तरह से 'रिसाइट' करने पर निर्भर रहता है। यह बहुत ही दुःख और

लज्जा की बात है कि इस समय इन गीतों को ठीक से सुना सकने की क्षमता कम विद्वानों के पास है जो चारण कवि इस सम्बन्ध में व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव रखते हैं, उनमें से अधिकांश सभा सम्मेलनों से दूर रहते हैं और इसीलिए आवश्यकता इस बात की है कि अच्छे काव्य-पाठकों की इस कला के लुप्तप्राय कौशल को रेकार्ड कर लिया जाय।

यह एक सर्व मान्य तथ्य है कि युग की नई माँग जहाँ विषय वस्तु में परिवर्तन लाती है वहाँ वह नये काव्यरूपों की भी उद्‌भावना करती है। डिंगल के समस्त छन्द अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश और प्राकृतों के काव्य-रूपों से बहुत प्रभावित हैं। इन गीतों का मूल स्रोत कहाँ है, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता किन्तु मेरी धारणा है कि यदि कोई विद्वान इस ओर प्रयत्न करे मे तो उन्हें प्राकृत अथवा अपभ्रंश में ही इन गीत छन्दों का बीज निहित जान पड़ेगा और मेरी यह धारणा अकारण नहीं है। संस्कृत के अधिकांश छन्द अतुकान्त हैं और वर्णवृत्त हैं। कविता में तुकांत पद्धति का प्रचलन सबसे अधिक अपभ्रंश बीच पड़ता है। इसके अतिरिक्त हमें यह भी याद रखना होगा कि मात्रिक छन्दों की उद्‌भावना व लोकप्रियता भी प्राकृत के परवर्ती है। संस्कृत कविता में हमें यह बातें नहीं दीखतीं। वहाँ दूसरी ओर डिंगल के प्रायः सभी गीत तुकान्त हैं और मात्रिक हैं। लगभग चार गीतों को छोड़ कर कोई गीत ब्रजभाषा अथवा हिन्दी की अन्य विभाषाओं में नहीं मिलता। इन बातों के अतिरिक्त भी अपभ्रंश काव्य की एक विशेष परम्परा हमें कुछ डिंगल गीतों में मिल जाती है। आचार्य हजारी प्रसाद जी ने बिहार राष्ट्रभाषा परिषद में 'हिन्दी साहित्य के आदि काल' सम्बन्धी अपने पंचम व्याख्यान में अपभ्रंश काव्य की विशेषतायें बतलाते हुए कहा है अपभ्रंश काव्य कडव-बद्ध है। पंज्झटिका या अरिल्ल छन्द की कई पंक्तियाँ लिखकर कवि घत्ताका ध्रुवक देता है। कई पंज्झटिका अरिल्ल या ऐसी ही ही किसी छोटे छन्द को देकर अन्त में घत्ताका ध्रुवक यही कडवक है। पण्डित नाथूराम जी 'प्रेमी' ने जैन साहित्य के इतिहास में लिखा है कि अपभ्रंश काव्य में सर्ग की जगह प्राय सन्धि का व्यवहार किया जाता है प्रत्येक सन्धि में अनेक कडवक' होते हैं। 'कडवक' अथवा बंध की यह प्रवृत्ति बहुत से डिंगल गीतों में स्पष्टतः दीख पड़ती है। उदाहरण के लिए मनमोहन, काछो अथवा चितविलास गीत को लिया जा सकता है।

रघुनाथ रूपककार ने 'गीत जात मनमोह' की व्याख्या इस प्रकार की है—

पुन दोहोसी मास बत ऊपर कहवो जोय।
हुवै गीत मनमोह इम, यह रघुपति जाजोय॥

अर्थात दोहा, छन्द, बनाकर उसके बाद कड़वा लाओ। यही मनमोहक गीत है। इसमें रामचन्द्र जी के यश का वर्णन करो। यद्यपि यह 'कड़वा' अपभ्रंश कड़वक नहीं है पर उसी के समान इसका गठन हुआ है। अन्य छन्द गीतों में भी यही प्रवृत्ति विचारणीय है।

दूसरी मान्यता है कि ये छन्द लौकिक आधार पर विकसित हुए हैं । अपनी धारणा की पुष्टि में इनके नामकरण की ओर आप का ध्यान आकर्षित करता हूं । भरटियों, समास, मंदार बित हिल्लोल, पालवणी त्रिपंखी आदि गीत छन्द स्पष्ट ही लोकमानस से अपना निकट सम्बन्ध घोषित करते हैं । राजस्थान में पालवणी नामक एक बेल होती है । यह बेल खेजड़ी के वृक्षों पर चढ़ जाती है और लगभग वर्ष भर हरी भरी रहती है । यह बेल इतनी अधिक घनी होती है कि एक छाता सी बन जाती है । पशु इसके पत्ते बड़े चाव और प्रेम से खाते हैं । आंतों के दुखने पर पत्तों को पीस कर पट्टी बांधी जाती है । ये पत्ते बड़े असरदार होते हैं । पालवणी गीत में भी पालवणी बेल की कुछ विशेषतायें दीख पड़ती हैं । पालवणी जिस प्रकार सभी ऋतुओं हरी रहती है उसी तरह इस गीत के चारों चरण तुकान्त होते हैं । इस गीत के पाठन की विधि भी बड़ी असरदार है । ऐसा लगता है मानों बीच में कोई कहीं विराम ही नहीं है । इसी प्रकार अन्य छन्दों का अथवा डिंगल गीतों का जन जीवन से निकट सबन्ध स्थापित किया जा सकता है ।

यह पहले कहा जा चुका है कि डिंगल गीत विशेष प्रकार से रिसाइट किये जाते हैं । ध्वनि सौन्दर्य उनकी बहुत बड़ी विशेषता है । सोहणी भवंर गुंजार चित विलास और कठ लूंबाल आदि गीतों के नाम स्वयं बड़े Suggestive हैं–ध्वन्यात्मक हैं । इस दिशा में अधिक न कह कर केवल इतना ही निवेदन कर देना चाहता था कि नाद सौंदर्य और संगीत का जितना ध्यान डिंगल गीतों में रखा गया है उतना अन्यत्र नहीं । डिंगल के प्रत्येक गीत की बनावट को लेकर अनेक नियम हैं । वर्णों के चयन और प्रयोग को लेकर अनेक सावधानियां बरतने का आदेश रीतिग्रन्थों में दिया गया है । इस प्रकार संगीत की विभिन्न राग रागनियों की तरह ही डिंगल गीतों के संघटन को निश्चित कर दिया गया है । जिससे कि ठीक तरह पढ़े जाने पर 'भंवर गुंजार' भ्रमरों की गुनगुनाहट सा प्यारा और मधुर लगे और चित्त हिल्लोल हमारे चित्त को आलोड़ित कर दे । 'वीर कंठ' हममें नवीन उत्साह भर दे । प्रत्येक गीत की इस दृष्टि से अपनी निजी विशेषतायें हैं जो चिन्त्य हैं ।

इन गीत छन्दों का सामाजिक प्रभाव विषयवस्तु प्रत्येक गीत की निजी विशेषता रस अनुरूपता, संगीतात्मकता सभी विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखते हैं । इनकी हृदय-स्पर्शिता को लेकर *क्या नहीं कहा जा सकता ? जिन गीतों* को सुनकर जस योद्धा आन पर मर मिटते थे सैकड़ों वीर बालायें सपत्नपाती आग की लपटों का प्रसन्नतापूर्वक अभिषेक स्वीकार करती थीं और जौहर की आग में जीते जी जल मरती थीं जिन्हें सुन अकेला नरसिंह सदयव शक्तिशाली शत्रुओं से भिड़ जाता था, उन गीतों में कितनी शक्ति है इसका अनुमान ही लगाया जा सकता है ।[2]

---

१ गोवर्द्धन शर्मा डिंगल का अपना छन्द-विधान-शोधपत्रिका से

राजस्थानी साहित्य एक बड़ा भाग डिंगल गीतों के रूप में लिखा गया है। अर्संख्य-अर्संख्य गीतों ने इस वीर प्रसवनी धरती के वीर सपूतों के यश को स्थायित्व दिया है। इतिहास उन उर्वस्व बलिदानों मूल भाव, चाहे लोक प्रतिमा उन बीती घटनाओं की याद न रख सके, किन्तु डिंगल गीतों ने महान शौर्य, त्याग और बलिदान की अधिकांश घटनाओं को आज तक जीवित कर रखा है। राजस्थान में कदाचित ही ऐसा वीर हुआ हो, जिसके शौर्य, दानवीरता, पराक्रम व बलिदान को उपजीव्य बनाकर कोई एकाध गीत न रचा गया होगा। अनेक गीतों के ऐतिहासिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। ऐसे हैं ये डिंगल गीत।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि राजस्थानी में पाये जाने वाले डिंगल गीत किसी अन्य भाषा में नहीं मिलते। यह राजस्थानी की अपनी विशेषता है। वस्तुतः गीत एक प्रकार के छंद हैं, जो केवल राजस्थानी में ही उपलब्ध हैं। डिंगल गीतों के मूल उत्स के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कोई धारणा नहीं बनाई जा सकती है फिर भी मेरी मान्यता है कि डिंगल गीतों की उद्भावना को खोजते समय याद रखना होगा कि हम अपभ्रंश कालीन साहित्य को अवश्य दृ हे।[1] श्रम बरदाई के वंशज नानूराम का कहना है कि चीरचन्द के पुत्र हरिचन्द ने ही डिंगल गीत की सर्वप्रथम उद्भावना की। उसने डिंगल भाषा में २४ गीत लिखे थे और एक डिंगल कोष का संग्रह व सम्पादन भी किया था।[2] किन्तु कहा नहीं जा सकता कि इस कथन में सचाई का कितना अंश है। प्रमाणों के अभाव में केवल किसी के कथन मात्र पर विश्वास कर लेना वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक नहीं कहा जा सकता। वंश भास्कर के रचयिता वीर रसावतार महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण की धारणा थी कि डिंगल गीतों का जनक कोई चारण ही है।[3] इसमें कोई संदेह नहीं कि डिंगल गीत लेखकों में सबसे अधिक संख्या चारणों की ही रही है। चारणेतर जाति के कवियों ने डिंगल गीत लिखे हैं किन्तु ऐसे कवि अल्प संख्या में रहे हैं, अतः उक्त दोनों कल्पनाओं का आधार नहीं बन पड़ता है।

गीतों का आरम्भ कब से हुआ इसका ठीक प्रमाण नहीं मिलता। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने राजस्थानी ख्यातों व वातों की परम्परा, नवीं शताब्दी तक दृढ़ी है। क्योंकि अपने 'चारण' नामक लेख में अनर्घ राघव से एक उदाहरण दिया है। जिससे पता चलता है कि गीत और ख्यात नवीं शताब्दी में भी वर्तमान थे। उद्धरण यह है -

---

१ गोवर्धन शर्मा —शोध पत्रिका वर्ष ६, अंक २, पृ० ७०-७४
२ महा महोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री प्रिलिमिनरी रिपोर्ट आन दि ओपरेशन इन सर्च आफ मैनेस्क्रिप्ट्स् आफ बार्डिक क्रानिकल्स पृ० १०।
३ डा० कन्हैयालाल सहल राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान पृ० ४
४ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १०, पृ० ११९

'वर्षाभिरधारमाना क्षितिरमवपरा प्राप्य सम्मोदसीमा
प्राक्कीर्णे शीविदस्सा मम अमय कवि प्राप वाणी विभासाम् ।
गीतं स्यात च नाम्ना किमपि रघुपतेरय यावत्प्रसादा
द्वाल्मीकेरेव भाषी जयसयति महीवामुख्या रामभद्र' ।

अपभ्रंश काव्य ने गीत छंद को अपने ढंग से अपना लिया था इसका प्रमाण हमें हेमचन्द्र की प्राकृत खास भाषा मागधी व्याकरण में मिलता है। उन्होंने एक उदाहरण दिया है जो यह है –

ढोल्ला सामला धण चंपवण्णी ।
णाइ सुवण्णरेह कसवट्टइ दिण्णी ।

यह उदाहरण हमारे डिंगल के छोटे साणोर छंद का है। छोटा साणोर गीत छन्द का ही एक भेद है।[1] अतः यह निश्चित तौर से कहा जा सकता है कि डिंगल गीतों ने १२वीं सदी में अपना स्वरूप ग्रहण करना आरम्भ कर दिया था यद्यपि उनका पूर्ण विकास पन्द्रहवीं शताब्दी में दीख पड़ता है। इस समय अपार गीतों की सृष्टि हुई और ये गीत भी विविध विषयों पर लिखे गये।

मान लीजिये कविता के ४ पद हैं डिंगल गीतों के ये पद दोहले कहलाते हैं। सभी गीतों में एक विशेष प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। प्रथम दोहले में जिस भावना को कवि ने अभिव्यक्त किया है दूसरे दोहले में भी उसी भावना को व्यक्त किया जायेगा, किन्तु जरा भिन्न प्रकार से। तीसरे अथवा चौथे दोहले में भी इसी प्रकार भावना की पुनरावृत्ति होती है किन्तु भाषा की नहीं। इसको जरा उदाहरण लेकर समझा जाय। यथा –

राजस्थान के प्रसिद्ध योद्धा जयमल और पत्ताको भला कौन नहीं जानता ? बादशाह अकबर स्वयं इन दोनों की वीरता से प्रभावित हुआ था। प्रस्तुत गीत में चित्तौड़ किले को सम्बोधित करते हुये जो मार्मिक उद्गार प्रकट किये हैं, वे भला किसे रोमांचित नहीं करते।

जई एम चीमाल चीतोड़ मत चल चसी,
हेकहु जरी सल न हू हार्य ।
ताहरै कमल पग जई गह ताहमां
माहर कमल दे जमां माथै ॥१॥
धड़क मत अमगढ़ जोमहर चीर पै,
दंड सधां दसा कर गजगाह ।
मुवां सू मूस जद कमल कमलां मिलै
पछै तो कमल पग देह पातसाह ॥२॥
घूर कुल आभरण सुहहर सावदी,
चीर मन डरै मत हुरै चोलो ।

---

१ डा० कन्हैयालाल सहल राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान पृ० ५,

धवी पर माहरो सीस पड़ियां पछै,
धारजै ताहरै सीस धोखो ॥३॥
साच आखो किसो मीर रै सीसकी
हाथ जिण पूरवै काम हथवाह ।
पुर अमर कमंध जैमाल पाधारियो,
पछै पाधारियो कोट पतसाह ॥४॥

जयमल कहता है कि हे चित्तौड़ ! तू चिन्तित न हो, मैं शत्रु-दल को भगा दूंगा । तुझे शत्रुओं के हाथ कदापि न जाने दूंगा । तेरे सिर पर शत्रुओं के पैर तब तक नहीं पड़ेंगे, जब तक मेरे कन्धों पर मेरा मस्तक है अर्थात् मेरे जीते जी शत्रुओं के हाथ में जाने की आशंका निर्मूल है ।

जोधा का वंशज धीरज बंधाता है कि हे चित्तौड़ ! भयभीत न हो । शत्रुओं के दलों को नष्ट कर हाथियों से मैं उन्हें रौंदवा डालूंगा । भुजाओं से अलग होकर जब मेरा सिर (महादेव की मुण्डमाला के) मस्तकों में जा मिलेगा, तभी बादशाह तेरे सिर पर पैर रख सकेगा ।

दूदा के कुल का आभूषण और दूदा का पोता जयमल चित्तौड़ दुर्ग से कहता है कि हे दुर्ग ! तू धैर्य धारण कर मन में दुःखी न हो और किसी भी प्रकार के संशय में न रह । तेरे उन्नत मस्तक को तभी खतरा हो सकेगा, जब मेरा मस्तक धूल में जा गिरेगा ।

हे सिंह के समान वीर जयमल ! तूने अपने वचनों को अच्छी तरह पूरा कर दिखाया । अपने हाथों से विपुल बाण वर्षा कर तूने अपने मन की निकाल ली । राठौड़ योद्धा जयमल जब स्वर्ग सिधार गया तभी बादशाह किले में प्रविष्ट हो सका ।

उक्त उदाहरण से विदित होता है कि एक ही भावना को अलंकारिक भाषा का आश्रय लेकर बारबार व्यक्त किया गया है । अब प्रश्न यह उठता है—ऐसा होता क्यों है ? भावों की यह आवृत्ति क्यों ? इसमें क्या रहस्य है ? मेरी धारणा है कि डिंगल गीत के सभी दोहलों में एक ही भाव की आवृत्ति भावपुष्टि के लिये की जाती है । मनोविज्ञान की दृष्टि से इसका बड़ा उपयोग है । बार-बार के दोहराने से पाठक की भावप्रवणता को उत्तेजना मिलती है । वह कवि के साथ बह जाता है । उदाहरण के लिये एक वक्ता है और वह किसी आमसभा के मंच से जनता को कहता है—'हमें रोटी, रोजी और कपड़ा दो' तो उसके इस कथन का अपेक्षाकृत कम प्रभाव पड़ेगा । किन्तु यदि वह यह कहे—'हमारी सरकार से मांग है—हमें रोटी दो हमें रोजी दो, हमें कपड़ा दो' तो उसकी इस वक्तृता का अधिक तीव्र व व्यापक प्रभाव पड़ेगा । कारण स्पष्ट है कि 'हमें रोटी दो, हमें रोजी दो, हमें कपड़ा दो' कहने से इन शब्दों में एक विशेष शक्ति आ पड़ती है । यह एक ही भावना, हमारे अभावों को पूरा करने की मांग को प्रकारान्तर से दोहराती है । यही डिंगल गीतों में भावना की आवृत्ति का रहस्य है । गुजराती साहित्य के स्वनामधन्य साहित्यिक स्वर्गीय मेघाणी

जो ने भी कहा है–'चारणी रचना का हेतु विगत उपस्थित करना नहीं था बल्कि एक ही भावना को उठा कर शब्द गुम्फन द्वारा जोश आदि जागृत करना ही उसका मुख्य उद्देश्य था। लोक गीतों की तरह सब वस्तुओं का ब्योरा देने का अवकाश यहां नहीं रचनाकार की दृष्टि में इतिहास का सिलसिलेवार वर्णन महत्वपूर्ण नहीं था, अपितु उसका उद्देश्य तो नाद तथा प्रसंग की जमावट करके सूरातन चढ़ाना था।

डिंगल गीतों को डिंगल भाषा की निजी सम्पत्ति कह सकते हैं। इस अपूर्व एवं अमेय सम्पत्ति के लिये डिंगल को न तो अपनी माँ अपभ्रंश का मुंह देखना पड़ा और न उसी ब्रजभाषा का। अतएव निस्संदेह यह गीत रचना डिंगल कवियों के मस्तिष्क की एक अपूर्व उपज कही जा सकती है। इसी प्रश्न पर इससे पूर्व पर्याप्त विचार किया जा चुका है।

अन्य छन्दों की भांति डिंगल गीतों के अपने नियम हैं। अधिकांश गीतों में चार दोहले पाये जाते हैं। कम से कम तीन दोहले होना अनिवार्य है हां चार से अधिक दोहलों की रचना भी 'एक गीत के अन्तर्गत की जा सकती है। प्रत्येक दोहले (द्वाले) में चार पंक्तियां होती हैं। कहीं-कहीं पहले चरण में अन्य चरणों से अधिक मात्रायें या वर्ण होते हैं जो उसके प्रथम व प्रारम्भिक स्थान के सूचक होते हैं। ये गीत मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के पाये जाते हैं। अधिकांश गीत सतुकान्त होते हैं, पर अनेक ऐसे गीत भी उपलब्ध हुये हैं जो अतुकान्त हैं। हिन्दी के लिये मात्रिक छन्दों में अतुकान्त कविता नई चीज है पर राजस्थानी में यह प्राचीनकाल से चली आई है।[1] राजस्थानी के गम्भीर अध्येता नरोत्तम स्वामी ने 'रघुनाथ रूपक' को आधार बना कर डिंगल गीतों को वैज्ञानिक रूप से विभाजित किया है। उनकी विवेचन करने पर मालूम हुआ कि 'मात्रिक गीतों की संख्या बहुत अधिक है। वर्णिक गीतों की कुल संख्या ७ है और उनमें भी मात्राओं का झंझट लगा हुआ है। एक गीत ऐसा भी है जो मात्रिक और वर्णिक दोनों है। मात्रिक गीतों में सबसे अधिक संख्या विषम गीतों की है। इससे कम अर्धसम की और सबसे कम सम की। विषम गीतों की यह अधिकता राजस्थानी की एक विशेषता कही जा सकती है (क्योंकि) हिन्दी के अधिकांश छन्द और पद सम या अर्धसम ही पाये जाते हैं।

इन गीतों में मात्रिक छन्दों की बहुलता और विषम पदों की अधिकता का कारण निश्चित तौर पर तो अधिकृत अध्ययन और सामग्री के अभाव के कारण ठहराया नहीं जा सकता है किन्तु सम्भावित कारणों का अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। श्री आर० डी० कामीरकार ने अपनी पुस्तक 'ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर'

१—गजराज ओझा नागरी प्रचारिणी पत्रिका भा० १४ अंक २, पृ० १११

२—नरोत्तम स्वामी राजस्थान भारती, भाग १, अंक १, पृ० २४

३—वही।

४—विशेष जानकारी के लिए देखिये – परिशिष्ट १
डिंगल गीतों का छंद शास्त्रीय अध्ययन

में संस्कृत नाटकों में प्राकृत गीतों की अवतारणा पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि संगीत की आवश्यकता के अनुरूप ही जनपदीय बोलियों के गीतों की व्यवस्था संस्कृत के नाटककारों को करनी पड़ी है। वार्णिक वृत्तों में यह माधुर्य नहीं आ पाता था जो देशी वयणा सब जन मिट्ठा' में था। मात्रिक वृत्त जो अपभ्रंश में आकर तुकान्त हो गये थे—अपेक्षाकृत अधिक गेय मय थे। डिंगल के ये समस्त गीत जैसा कि पहले बताया जा चुका है—विशेष लय और ध्वनि सौन्दर्य के साथ पढ़े जाते हैं स्वाभाविकतया मात्रिक ही होने चाहिए। जो सरलता व सरसता मात्रिक वृत्तों में होती है, वह डिंगल कवि के लिए आवश्यक थी अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए इसके अतिरिक्त राह भी कौन सी हो सकती थी? अत अधिकांश गीत मात्रिक और विषम हैं।

डिंगल गीतों के बाद सबसे प्रिय छन्द 'दोहा' है। यदि गम्भीरता से इस प्रश्न पर विचार किया जाय कि कौन-सा छंद राजस्थान की भावना का सही प्रतिनिधित्व करता है जिसकी अभिव्यक्ति सबसे जीवन्त है तो निसन्देह दोहा इसमें बाजी ले जायेगा। नीति वीर शृ गार, प्रकृतिवर्णन तथा अन्य प्रकार की समस्त अभिव्यक्ति के लिए 'दोहा' डिंगल में कवियों का अति प्रिय छंद रहा है। इस प्रदेश के लोकरिवाज उत्सव धार्मिक विश्वास आशायें—अभिलाषायें, जनभावना, समाजव्यवस्था संस्कार और संस्कृति जिस कुशलता से अपने को इस छन्द के माध्यम से प्रगट कर पाई है, वह अभूतपूर्व है। दोहा राजस्थानीजनता से इतना अधिक स्नेह सम्पादन कर पाया है कि उसने सभी प्रकार की कविता के लिए 'संज्ञा' का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। मानों वह छन्दों का प्रतिनिधि बन बैठा है अत कभी-कभी सामान्य छन्द के अर्थ में भी इसका प्रयोग कर दिया जाता है।

दोहा अपभ्र शकालीन छंद है। लोकभाषा अपभ्र श की जेठी बेटी राजस्थानी में अपने वंश का रुधिर बहुत अधिक शुद्ध रूप में पाया जाता है—तब भला दोहे को यह प्रधानता क्यों न मिले? यह छंद दोहा दूहा दूहो, दुहा दोहरा आदि नामों से पुकारा जाता रहा है। विद्वानों का मत है कि इस छन्द की व्युत्पत्ति संस्कृत दोधक या दोग्धक शब्द से की जाती है पर यह उचित नहीं जान पड़ता। 'स्वयंभू छंद' (अपभ्र श काव्य शास्त्र) में इस छंद को 'दुवहअं' कह कर पुकारा गया है। इससे ज्ञात हुआ है कि 'द्विपदक' से विकसक (द्विपथा) दुवहअ होता हुआ कालान्तर में 'दोहा' ही बना। अपभ्र श काल में इस छंद ने बहुत प्रमुखता पा ली। जिस प्रकार प्राकृत साहित्य में 'गाहा' या 'गाथा' छंद का बोल बाला था, उसी प्रकार अपभ्रंश काल में 'दोहा' सर्वप्रिय छंद बन बैठा और इसका बहुत प्रयोग होने लगा। डा॰ जेकोबी और आल्सडोर्फ के अनुसार 'अपभ्र श' गीति काव्य का यह अति प्रचलित छंद है और यह कह कर कि यह प्राकृत गाथा का अपभ्र श प्रतिरूप है इसकी वास्तविक स्थिति समझी जा सकती है।

दोहा अपभ्र श का छोटा ही छन्द कहा जायेगा लेकिन उसमें इसकी स्वरगत सीमायें है कि उससे कथा के प्रवाह में बाधा आती है अत उसका प्रयोग चरित्र

व्यों में कथा प्रवाह को नियन्त्रित करने के लिए होता रहा है। अपभ्रंश काव्य की परम्परा को राजस्थानी ने तो ग्रहण किया ही है—हम मध्य भाषा काव्यों में भी ही प्रवृत्ति पाते हैं। सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य व राम चरित मानस में दोहा पाई का प्रयोग मानो इसी परम्परा का निर्वाह है। किन्तु दोहा है मुक्तक का छन्द इसमें आने वाली चार यतियाँ और प्रत्येक यति का विषम चरण उसे मुक्तक व्य के लिए अति उपयोगी बना देता है। हिन्दी में दोहे को एक ही प्रकार का ना जाता है। किन्तु डिंगल में यह पाँच रूपों में पाया जाता है। यथा—(१) दूहो २) सोरठियो दूहो (३) बड़ो दूहो (४) तूंबेरी दूहो और (५) खोड़ो दूहो।

(१) दूहो—यह एक मात्रिक छन्द है जिसमें चार चरण होते हैं। पहले और सरे चरण में १३ १३ मात्रायें होती हैं और दूसरे व चौथे चरण में ११ ११ मात्रायें ती हैं। अन्त गुर्वान्त होता है। यथा —

राजनीति रै रोग सूं, बई बिपद बद पूर।
मेटे संकट मुलकरो, कै साहित कै सूर॥

राजनीति के कुत्सित रोग से जब देश विपदग्रस्त हो जाता है तो साहित्य यवा शूरवीर ही उसका संकट मिटा सकते हैं।

(२) सोरठियो दूहो—यह हिन्दी का सोरठा ही है। इसका सम्बन्ध सौरठ ोराष्ट्र) से जोड़ा जाता है। यह राजस्थानी का बहुतप्रिय छन्द है। एक कहावत सिद्ध है —

सोरठियो दूहो भलो भलि मरवण री बात।
जोबन छाई धण भली तारा छाई रात॥

सोरठियो दूहो ढोला मारवण की कथा यौवनमद से मस्त प्रिया और तारों भरी हुई रात्रि अच्छी होती है।

इसके पहले और तीसरे चरण में ११ ११ मात्रायें तथा दूसरे तथा चौथे चरण १३ १३ मात्रायें होती हैं। दूहे मध्य में मिलता है। हमें यहाँ राजस्थानी दोहों के न्बन्ध में एक बात, एक विशेषता याद रखनी चाहिए कि उनमें केवल उन्हीं चरणों तुक मिलेगा जिनकी मात्रायें ११ हों। उदाहरण सोरठिये दूहे का —

अकबरसमंद अथाह, तिह डूबा हिन्दू तुरक।
मेवाड़ो तिण माह, पोयण फूल प्रतापसी॥

अकबर अथाह समुद्र के समान है जिसकी अथाह गहराई में हिन्दू और मुसल न सब डूब गये परन्तु मेवाड़ का महाराणा प्रताप कमल के फूल के समान उसके र ही तैर रहा है—उस समुद्र का राशि जल प्रताप रूपी कमल-पुष्प को जरा भी र्श नहीं कर सका।

रोपी अकबर राड़, कोट छई नह कांपई ।
पटके झाबल सींह पण बाबल हुँ न बिगाड़।।

अकबर ने लड़ाई ठान ली पर अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी वह कोट (परकोटा) या कंगूरे को गिरा न सका। सिंह क्रोधित होकर चाहे जितनी बार अपना पंजा पटके, पर उससे बादलों को कोई हानि नहीं पहुंचती। वे उसकी पहुंच से सदा ही बाहर रहते हैं।

(४) तूंबेरी दूहो—यह बड़े दूहे का विलोम है। इसके पहले और चौथे चरण में १३ १३ मात्रायें तथा दूसरे और तीसरे चरण में ११ ११ मात्रायें होती हैं। दूसरे और तीसरे चरणों का तुक मिलता है।

मेवा तजिया महमहण, दुरजोधनरा देख।
केला छोल विसेख, खाय बिदुर घर खीमिया ।।

महामानव श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के मेवे भी त्याग दिए किन्तु प्रेम-भक्ति में बंध कर उन्होंने विदुर के घर जाकर विशेष तौर से केले के छिलके खाये।

(५) खोड़ो दूहो—खोड़ा शब्द राजस्थानी का है जिसका अर्थ होता है 'लंगड़ा'। जिस दोहे का अन्तिम चरण कम मात्राओं का हो, वह खोड़ा दूहा कहलाता है। इसके पहले और तीसरे चरणों में ११ ११ मात्रायें होती हैं और इन्हीं का तुक भी मिलता है। दूसरे चरण में १३ और चौथे चरण में केवल ६ मात्रायें रहती हैं।

माछो भरियो नीर, टाबरियो भूलण गयो।
पड़ै न पूगो तीर, बो डूबी ।।

भरे हुए तलैया में बच्चा सकोरा लेने के लिए गया। वह तैर कर किनारे पहुंच नहीं पाया, बेचारा डूब गया।

यहां हमने डिंगलके रीति ग्रंथों और छंद शास्त्रोंके अनुसार दोहेके प्रमुख भेदों प्रभेदों पर विचार किया है[1] किन्तु वर्ण्यविषय को लेकर भी दोहेके अनेक भेद प्रचलित हो गये हैं। राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान नामक अपनी पुस्तक के आरम्भ में डा० कन्हैयालाल सहल इस प्रकार की सुन्दर व्याख्या की है उसे यहां साभार उद्धृत किया जाता है।[2]

(१) रंग दूहा —

'धन्य धन्य' या शाबाशी के अर्थ में 'रंग है रंग है' कहने की प्रथा राजस्थान में है। किसी के शौर्य आदि की प्रशंसा में 'रंग रंग' के प्रयोग द्वारा जो दोहा कहा जाता है उसे 'रंग रा दूहा' कहते हैं। उदाहरणार्थ —

'स्यामो भ्रमर सिवाय मेर्हा पग झट मांडणो
छतियां पूबल छणाम, बसियो रूम रंग रंग बसू।

१—विस्तृत जानकारी के लिए देखिए—'रघुवर जस प्रकाश'-पृ० ६८
२—कन्हैयालाल सहल राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान पृ० ११ १४

एक बार किसी कवि ने इन्हीं बखतसिंह को अपने एक घोड़े को 'बापो ।
'बापो' कहते और पुकारते हुये देखा । उसने ताना मारते हुये निम्न विसहर कहा —

बापो मत कह बखतसी, कांपत है केकाण ।
एक बार बापो कह्यां, पर्जंम तजेसा प्राण ॥

(हे बखतसिंह ! घोड़े को 'बापो' कह कर न पुकार । यह प्राणभय से कांप
रहा है । यदि एक बार जो फिर 'बापा' कह दोगे तो यह घोड़ा भय के मारे अपने
प्राण तज देगा ।)

'विसहर' के रूप में की जाने वाली भर्त्सना का लक्ष्य दुगु णों को बढ़ने से
रोकना था । अपने पिता को स्वयं मार देना, इससे बढ़ कर कृतघ्नता क्या होगी ?
'विसहर' की सम्वेदना में अपेक्षाकृत कम तीखे व्यंग भी राजस्थानी काव्य में
बहुतायत से मिलते हैं । बांकीदास की व्यंग्यमय कविता इसी प्रकार की है । उन्होंने
उन व्यापारियों को लतेड़ा है जो स्वार्थ सिद्धि के लिए अपने मित्रों का भी ध्यान
नहीं रखते ।

जल छाणे, दिन जीमही, लीली वस्त न खाय ।
बोसत हू देता दगो, कसर न राखे काय ॥

(वे जल को छान कर पीते हैं दिन में ही भोजन कर लेते हैं और (अहिंसा
की दृष्टि से) हरी वस्तुयें (सब्जी) नहीं खाते किन्तु मित्र को धोखा देने में कोई
कसर नहीं रखते ।)

इनकी 'कुकवि बत्तीसी' मावड़िया मिजाज, 'कृपण दर्पण' 'कायर बावनी
आदि रचनायें इसी प्रकार की हैं । किन्तु इनमें कवि ऊमरदान के काव्य सा
असंतुलन नहीं है । ऊमरदान ने 'राम-स्नेही सम्प्रदाय के साधुओं से चिढ़ कर बहुती
खबर ली है, पर वह व्यंग्यात्मक काव्य के स्थान पर निन्दात्मक कविता बन गयी है ।
प्रस्तुत चर्चा का हमारा उद्देश्य राजस्थानी कविता में पाये जाने वाले व्यंग्य के
प्रकारों की जानकारी तक ही सीमित है अतः ऐतिहासिक दृष्टि से इस पर विचार
नहीं किया गया है ।

वयण-सगाई

डिंगल कविता में विभिन्न प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया गया है, किन्तु यह
आश्चर्य की बात है कि काव्यरूढ़ियों को बहुत अधिक परिमाण में संजो कर चलने
वाली डिंगल कविता-धारा अलंकारों के प्रति अधिक उत्साही नहीं रही । डिंगल के
अधिकांश कवि केवल अलंकार के मोह में पड़ कर, अपनी रचनाओं को निर्जीव
बनाने के हिमायती कभी नहीं रहे । उन्होंने अलंकार-प्रयोग के सम्बन्ध में पूर्ण संयम
से काम लिया है । अलंकारों को उन्होंने अपनी कविता-कामिनी के सौन्दर्य-वृद्धि का
साधन मात्र ही माना है उसे साध्य कभी बनने नहीं दिया । साधन और साध्य का
यह अन्तर उनके सामने सदैव स्पष्ट था । यही कारण है कि डिंगल कविता, सदियों

से पूर्णतया शृंखलित होने पर भी प्राणवान है। इसका यह अर्थ नहीं कि डिंगल कविता में अलंकारों का प्रयोग नहीं हुआ, पर अलंकार कविता के एक अंग-मात्र बन कर रहे, वे कभी कविता पर छा नहीं सके। डिंगल कविता में हमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्यमूलक और अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि शब्दालंकारों का सफल प्रयोग मिलता है। पर एक अलंकार को, डिंगल कवियों ने, बड़ी तत्परता और इतनी कड़ाई से प्रयुक्त किया है कि वह अलंकार, केवल अलंकार मात्र नहीं रहा अपनी संज्ञा त्याग कर, वह अनिवार्य काव्य-तत्त्व के रूप में गृहीत किया जाने लगा। वह राजस्थानी कविता की एक विशेषता बन गया। इस शब्दालंकार को 'वयण-सगाई' (वर्ण-सगाई या वर्ण-सम्बन्ध) कहा जाने लगा।

'वयण-सगाई' एक शब्दालंकार है। राजस्थानी परम्परा से अपरिचित विद्वानों ने इसे एक छंद मान लिया है,[1] जो सर्वथा अनुचित है। 'वयण-सगाई' के अनुसार, सामान्यतः कविता के किसी चरण के प्रथम शब्द का प्रथम अक्षर, उसी चरण के अन्तिम शब्द के प्रथम अक्षर से मिलता है। जैसे —

अकबर गरब न आण, हींदू सह चाकर हुवा।
दीठो कोई दीवाण, करतो लटका कटहड़े॥

(हे अकबर ! मन में इस बात का गर्व न कर कि हिन्दू सरदार तेरे सेवक हो गये हैं। क्या तूने कभी एकलिंग के दीवान महाराणा प्रताप को कटहड़े में मुजरा करते देखा है ?)

यहाँ प्रथम चरण के 'अकबर' और 'आण' दूसरे चरण के 'हींदू' और 'हुवा' तीसरे चरण के 'दीठो' और 'दीवाण' और चौथे चरण में 'करतो' और 'कटहड़े' में वयण-सगाई है। 'वयण-सगाई' नामक इस अलंकार का उल्लेख संस्कृत प्राकृत अथवा अपभ्रंश के काव्यशास्त्रों में नहीं पाया जाता। न अन्य भारतीय भाषाओं में इसके इस स्वरूप की उपलब्धि ही होती है। अतः अलंकार के क्षेत्र में 'वयण-सगाई' डिंगल कवियों की विशिष्ट उद्भावना है और अलंकार-शास्त्र को उनकी एक विशिष्ट देन कही जा सकती है। अस्तु —

डिंगल में रचित कविता का प्रत्येक चरण का पहला अक्षर उस चरण के अन्तिम शब्द के प्रथम अक्षर से मिले—कितना कड़ा बन्धन है यह ! डिंगल कवियों ने इस नियम का कड़ाई से पालन किया है। हाँ यह बात अवश्य है कि 'वयण-सगाई' के कालान्तर में अनेक भेद बनते चले गए, जिससे कवियों को अधिक सुविधा हो गई। पर प्रश्न यह आता है कि संस्कृत वर्ण-वृत्तों की क्लिष्टता से बचने वाली कविता पर यह बन्धन कैसे हावी हो गया ? और इस प्रश्न के उत्तर में हमें डिंगल के लक्षण ग्रन्थों की शरण में जाना पड़ता है। मंछाराम ने अपने ग्रंथ 'रघुनाथरूपक' में लिखा है —

१—नामवरसिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग – पृ० १

अग्नि, जिस प्रकार सभी धातुओं को जला कर शुद्ध बना देती है, उसी प्रकार वीर रस सभी काव्य दोषों को छिपा लेता है।)

'वयण-सगाई' के सात भेद माने गये हैं, जिनमें तीन मुख्य हैं-उन्हें उत्तम (अधिक), मध्यम (सम) और अधम (न्यून) कहा जाता है।

१-उत्तम या अधिक प्रकार की 'वयण-सगाई' में चरण के पहले शब्द और अन्तिम शब्द के आदि के वर्णों को मिलाया जाता है-यथा —

जिण बन भूल न जावतां, गैंद गिवय गिड़राज।
तिण बन जंबुक ताखड़ा, ऊधम मंडे आज ॥

(जिस वन में हाथी, गैंडे और सूअर भय के मारे घुस कर भी नहीं जाते थे वहां आज (सिंह के न होने से) गीदड़ भी बड़े शक्तिवान बने उपद्रव कर रहे हैं।)

२-मध्यम या सम 'वयण-सगाई' में चरण के प्रथम शब्द के आदि के अक्षर और अन्तिम शब्द के मध्यम अक्षर का मेल किया जाय जैसे —

नाम लिया की मानवां सरबी कलुप विनास।
मह जैसे मेटै तिमर रसम परस निरभास ॥

(हे मनुष्य ! प्रभु के नाम-स्मरण से तुम्हारा सारा विपुल पाप उसी प्रकार खिसक जायेगा, जिस प्रकार सूर्य की रश्मि से पृथ्वी का अन्धकार स्पर्श मात्र से तिरोहित हो जाता है।)

३-अधम या न्यून 'वयण-सगाई' में चरण आदि के और अन्त के अक्षरों को मिलाया जाता है, जैसे —

नरव जिके संसार में लखजै जीव विसाल।
रात दिवस रघुनाथ रा लेवै नाम रसाल ॥

(इस संसार में जो भी (समझदार) मनुष्य हैं, वे संसार के राशि राशि जीवों को देख कर (यह समझ कर कि इन्हें प्रभु ने बनाया है) रात-दिन भगवान राम का नाम लेते रहते हैं।)

इन तीनों भेदों के सम्बन्ध में निम्न दोहा पाया जाता है —

बरण मित्त जू बरण बिच, कवियण तीन कहंत।
आद अधिक समम अवर, न्यून अ क सो अ त ॥

(वर्ण-मैत्री कराते समय कवियों ने तीन प्रकार कहे हैं। जब किसी चरण के आदि अक्षर का मेल अन्त के शब्द के आदि अक्षर से मध्यम अक्षर से वा अन्तिम अक्षर से हो तो उसे क्रमशः अधिक सम और न्यून वर्ण-मैत्री (वयण-सगाई) कहेंगे।)

डिंगल में काव्यदोष

डिंगल काव्य का अपना निजी छन्द विधान है उसी प्रकार अपना निजी काव्य शास्त्र भी है। उसके काव्यालंकार भी अपने ही ढंग के हैं। 'वयण-सगाई' का प्रयोग

अन्य भाषाओं में नहीं पाया जाता है। इसी प्रकार डिंगल कविता में काव्यदोष भी बहुत कुछ अपने हैं। राजस्थानी काव्यशास्त्रियों ने कविता में ग्यारह दोष माने हैं हम यहाँ उन्हीं पर विचार करेंगे।

काव्य के मुख्य अर्थ की प्रतीति में बाधा पहुँचाने वाले को काव्य-दोष कह कर पुकारा जाता है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, डिंगल में ग्यारह प्रकार के काव्यदोष माने जाते हैं यथा (१) अ ब (२) छबकाल (३) हीन (४) निनंग, (५) पांगलो (६) जात विरोध, (७) अपस (८) नालछेद (९) पखतूट (१०) बहरो और (११) अमंगल।

हम आगे चल कर डिंगल के मान्य और प्रामाणिक रीतिग्रन्थ 'रघुनाथरूपक' के आधार पर इन काव्यदोषों की विवेचना करेंगे। यह ग्रन्थ जोधपुर के महाराजा मानसिंह जी के कृपापात्र कवि मंछाराम का बनाया हुआ है और अपने ढंग का एक ही ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में डिंगल भाषा की कविता की रीतियाँ छंद भेद, छन्द लक्षण अलंकार, गुणदोष आदि का समावेश कर लिया गया है। अस्तु—

(१) अ ब दोष

जिस गीत अथवा कविता में उक्ति का एक ही ढंग से निर्वाह न हो उसे अ ब दोष कहते हैं – यथा

विलखा समझ रे सबलो जग वाहै
पछै घणो पिछतासी।
पूरष जनम कद तू पामैला
गुण कद हरिरा गासी ॥१॥
मात पिता बंधव सैसत-मद
सुत तिय कोइ संभासो।
मायारा आडंबर मांहि,
बंदा! केम बंधासी ॥२॥
समुझी क्यूं न अजूं समझाऊ
भूल मती हिव भाया।
चौड़े भ्रमर चटका देती
किल जिम बावक आया ॥३॥
सोवै वाय करै नहं मुख्त
खोमें पीह अबीता।
प्रीत करै सिमरै सीतापत
जिके जमारो जीता ॥४॥

हे मन! समझ, सम्पूर्ण जगत कहता है, नहीं तो फिर बहुत पश्चात्ताप करेगा। मनुष्य जन्म फिर कब तू पावेगा और कब ईश्वर के गुणानुवाद गावेगा ॥१॥

अजोध्यानाथ दसमाथ रावण अडग,
महा वे और माराथ मातो ॥१॥
बरमा राम बरमाल सुरा बरै,
पिपल पंखाल हिल बूले ताला।
सबळे पड भार सिर तणावै अहेसुर,
महेसुर बणावै मुंड माळा ॥२॥
कटारयां सरांसण सेल खंजर करद,
अंग कट कट पड़िया अथाहां।
बीच सुर असुर वे बरोबर चूटिया,
बरोबर करै सारीख बाहां ॥३॥
सीस दस झड़े धनुधारी सायकां,
हेर कप भाल अणपार हरखे।
वसू सारी सुवस पयपै सुवाणी,
विमाणों बैठ सुर सुमन बरखे ॥४॥

पृथ्वी पर मांस का कीचड़ हो गया और हड्डियोंके पर्वत बन गए। रक्त जिससे से समुद्र लाल हो गया है। रामचन्द्र और दसमस्तकवाला रावण दोनों अडिग्य हैं। दोनों तरफ से भयानक लड़ाई हो रही है ॥१॥

अप्सरायें वरमाल डाल कर शूर वीरों को वरती हैं। अर्थात् अपना पति बनाती हैं। गिद्ध आदि पक्षियों के मन के ताले खुल गए हैं और वे तृप्त हो गए हैं अर्थात् वे पक्षीगण इच्छित मांस खाकर तृप्त हो गये हैं। शेष नाग बहुत भार पड़ने के कारण अपने मस्तक को तानते हैं और महादेव जी मुंडों की माला बनाते हैं ॥ २ ॥

कटारियां बाण सेल, खंजर और छूरी की लगने से अपार अंग कट २ कर नीचे पड़ गए हैं। सुर और असुरों के योद्धा दोनों बराबर भिड़ रहे हैं और आपस में लगातार एक से वार कर रहे हैं ॥३॥

(इतने में) धनुर्धारी रामचन्द्र के बाणों से रावण के दसों मस्तक कट कर गिर गए। यह देख कर बन्दर और रीछ बहुत ही प्रसन्न हुए। सम्पूर्ण पृथ्वी के मनुष्यों ने श्रेष्ठ वाणी से सुयश (जय जयकार) कहा और विमानों में बैठ कर देव गणों ने पुष्प वर्षा की ॥४॥

इस गीत में क्रम से वर्णन नहीं है। प्रथम दोनों सेनाओं का वर्णन चाहिए था फिर शस्त्र प्रहार का फिर अप्सराओं का, फिर मांस आदि का, किन्तु ऊपर इस तरह वर्णन नहीं है अतः इसमें निर्नंग दोष है। यह हिन्दी का अक्रमत्व दोष है।

(५) जातविरोध दोष —

जहां किसी कविता के विभिन्न चरण अलग-अलग छन्द के हों, वहां जात विरोध दोष होता है।

जगती में जिके भलाई जाया
 करैं सदा सुकरत रा काम।
दान सदा नितदाई देवै,
 नित रसणा लेवै हरिनाम ॥१॥
दिपजै सब ज्यारी जिणपाणी,
 उभै विरद धरियां भगत।
प्रारम्भै सोभत पुन पाणी
 पूजै सुखदायो सीतपत ॥२॥
जन वे पुरख बड़ा जसधारी,
 जगत सिरोमण सुजस लटै।
जमनै दान ऊजमैं जणां,
 राम राम मुखहुत रटै ॥३॥
देह जिकण जाणां जो दोई
 तिके सदाई दीखा।
जीवा जग जंगम जसुधारा,
 सारा जीव सरीखा ॥४॥

वास्तव में संसार में वे ही जाए हैं जो सदा पुण्य कार्य करते हैं यथाशक्ति दान देते हैं और नित्य भगवानका भजन करते हैं ॥१॥ उन्हींका जीवन संसार में सच्चा है जो इन दोनों यशों को पूर्णतया धारण करते हैं—हाथ से पुण्य कार्यों में धन देवें और सीतापति रामचन्द्र का भजन करें ॥२॥ वे महान प्रतिभा धारी पुरुष धन्य हैं जो संसार में सर्वश्रेष्ठ यश को प्राप्त करते हैं। जो सानन्द व शक्ति भर कर खूब दान देते हैं और मुख से राम नाम लेते हैं ॥३॥ देह वही है जिसमें ये दोनों बातें हैं और वे ही संसार में दीख्य हैं। वरना संसार के चराचर सब जीव समान हैं ॥४॥

इस गीत में प्रथम द्वाला वेलिया गीत का, द्वितीय द्वाला खुड़द सांणोर का तृतीय सोहण गीत का और चतुर्थ जांगड़े गीत का है। अत जिस जाति का गीत हो उसमें उसी जाति के गीत का द्वाला आना चाहिए। यदि अन्य का आता है तो वेलिया सहणोर और खुड़द सणोर का आना चाहिए। अत: इस गीत में जांगड़े गीत का द्वाला आने के कारण जाति विरुद्ध दोष है।

(६) पांगलो दोष —

जहां गीत में नियम के विरुद्ध कम या अधिक मात्रायें होती हैं, वहां पांगला (पंगु) दोष होता है।

हाकै जिम भमर घूमता हसती
 दाखा मचम घूमता धुरव।
पैदल प्रबल रथां हयदंती,
 चतुरंगी दल फौज सुधंब ॥१॥

(१०) बहरो दोष —

जहां शब्द योजना ऐसी हो कि दुतरफा अर्थ निकले और भ्रम पैदा हो, वहां बहरो दोष होता है। यथा —

छकै जोम सु जाय जमराज सा छेड़िया,
लड़े अरि घेरिया फौज लाया।
भिड़े भाराथ जगपार दल भांजिया,
वीर भागो नहीं सारजाया ॥१॥
दुसह जिण भुजांबलहूत आठू दिसा
खंभ सामंद कीधी लड़ाई।
जीत लीधी जमी कठैयी जेणरी
पराजै हुई नंह फतै पाई ॥२॥
प्रबल सुर असुर जिण नमाया पगां
जिको खल चांपड़ै खेत जारो।
पाड़ियो राम दसकंठ पीठाण में,
सबद जै जै हुवा लोक सारां ॥३॥

यमराज को छेड़ने की तरह गर्व से मतवाले शत्रुओं से जाकर भिड़ गया और उन्हें घेर कर उनकी सेना को मार गिराया। तलवार बजने पर भी वह वीर युद्ध से नहीं भागा ॥१॥ जिसकी भुजाओं के बल से आठों दिशायें कष्ट सहती थी ऐसे वीर से उस वीर ने समुद्र को उलांघ करके (पार करके) युद्ध किया और जहां कहीं भी शत्रु की जमीन थी सब जीत ली। उसकी पराजय (हार) नहीं हुई। उसने विजय प्राप्त की ॥२॥ जिसने बलवान देवताओं और राक्षसों को अपने चरणों पर झुकाया था और जो दुष्ट उस जबरदस्त युद्ध में सम्मुख प्रकट हुआ था रामचंद्र ने उस रावण को युद्ध में दबाया और पटक दिया। इससे सम्पूर्ण लोक में जय जय कार शब्द हुआ ॥३॥

इस गीत में 'वीर भागो नहीं सारजागा' और 'पराजै हुई नंह फतै पाई' दोनों पदों में नहीं और नंह शब्द दोनों ओर लगते हैं। इनके दूसरी तरफ लगने से अर्थ नितांत उलटा हो जाता है। अतः इस तरह से शब्द योजना नहीं करनी चाहिए। इस गीत में इस तरह दोनों ओर लगते हुए शब्द आने के कारण बहरा दोष है।

(११) अमंगल दोष —

जहां किसी छन्द को किसी चरण के पहले और अन्तिम अक्षर के मिलने से कोई अमंगल सूचक शब्द बनता हो तो अमंगल दोष कहलाता है—यथा —

'मरुधर मैं धन राम रे'

(रघुवर जसप्रकास से)

प्रस्तुत चरण के प्रथम अक्षर 'म' और अन्तिम अक्षर 'रे' से अमंगल सूचक शब्द 'मरे' बनता है अतः यहां अमंगल दोष है।

रघुनाथ रूपककार के अनुसार ये दोष गीतों की 'वयण-सगाई' को नष्ट कर देते हैं। इन्हीं दोषों के कारण सगाई भी छूट जाती है क्योंकि अन्ध सफेद दाग वाला, नपुंसक, पागल, पंगु, जाति विरुद्ध अर्थात् वर्ण संकर निर्गीका रोगी, मास भ्रष्ट पक्षाघात का रोगी और बहरा जो मनुष्य होता है उसे कोई भी अपनी पुत्री नहीं दे सकता है। वस्तु —

इन काव्यदोषों पर विचार करने से स्पष्ट जान पड़ता है कि डिंगल कविता जन बद्ध भाषा की रचना नहीं है किन्तु शब्द और अर्थ के प्रयोगों पर इस कविता में अनेक नियम बने हुए हैं और यह सुसंस्कृत, शास्त्रीय पद्धति पर रची गई है। उसमें सूक्ष्म भेदों पर भी बारीकी से विचार किया गया है और इस दृष्टि से भी यह किसी भी प्रतिष्ठित भाषा से कम नहीं है।

राजस्थानी गद्य

राजस्थानी साहित्य की विशेषरूप से उल्लेखनीय विशेषता उसका प्रचुर गद्य साहित्य है। और साथ ही आश्चर्य की बात तो यह है कि उपलब्ध गद्य वस्तुविन्यास और शिल्प की दृष्टि से बहुत वैविध्य रखता है।[1] राजस्थानी गद्य का वस्तुतत्व और शिल्पतत्व के आधार पर मोटे तौर पर इस प्रकार विभाजन किया जा सकता है। (१) ऐतिहासिक गद्य (२) जैन लेखकों का गद्य (३) टीकाओं तथा अनुवादों का गद्य (४) कथाएं। यह विभाजन केवल अध्ययन की सुविधा के लिए है और तथ्यों के अभाव में इसे किसी प्रकार पूर्ण नहीं माना जा सकता। यहाँ प्रत्येक प्रकार के गद्य भण्डार का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे।

राजस्थानी गद्य का एक बहुत बड़ा भाग ऐतिहासिक साहित्य है। ऐतिहासिक गद्य साहित्य के अन्तर्गत (अ) ख्यात (ब) इतिहास (स) प्रसंग (द) दवावैत (इ) वचनिका (फ) प्रबन्ध काव्यों में आए विविध गद्यांश—यथा भट्टारासि आदि (प) पट्टों शिला लेखों पत्रों तथा विविध दस्तावेजों का गद्य (ह) वंशावली पीढ़ियावली दफ्तर बही विगत हकीकत आदि सहित किए जा सकते हैं। अर्थ ऐतिहासिक में आख्यान तथा बात की गणना की जा सकती है। बात में किसी ऐतिहासिक घटना अथवा किसी व्यक्ति या स्थान का इतिहास संक्षेप में होता है। उसमें कल्पना और अनुभूति का विचित्र मेल होता है। आख्यानों में इतिहास के साथ लोककल्पना और अलौकिक चमत्कार पूर्ण घटनाओं का मिश्रण रहता है। ये निजंधरी कथाओं के रूप माने जा सकते हैं। कुछ लोग इन्हें दास्तान संज्ञा से भी सम्बोधित करते हैं। 'बात' संज्ञा का प्रयोग कहानियों के अर्थ में सामान्यतया किया है इस पर आगे विचार करेंगे। ख्यात में या तो समग्र इतिहास होता है अथवा बातों का संग्रह होता है।[2] तथ्य परक रचनाओं को 'इतिहास' कहा जा सकता है और उसी प्रकार से किसी एक घटना-वर्णन का

१—गोवर्धन शर्मा राजस्थानी कवि-खंड २ भूमिका पृ० ११
२—नरोत्तम स्वामी बांकीदासरी ख्यात भूमिका पृ० २

'प्रसंग'। 'दवावैत' और 'वचनिका' गद्य के प्रकार हैं—शिल्प की दृष्टि से दोनों प्रकार अपनी विशेषता रखते हैं। प्रबन्ध काव्यों में भी स्थान-स्थान पर 'वारता' 'वचनिका' 'भटाउसि' के रूप में गद्य मिलता है। वंशावली और पीढ़ियावली में राजाओं की पीढ़ियों का वर्णन होता है। और बीच-बीच में आवश्यक ऐतिहासिक टिप्पण भी रहते हैं।

डा० टैसिटेरी ने 'इतिहास', 'प्रसंग' 'वात', 'वातसाम' आदि की परिभाषा एक प्राचीन हस्तलेख के आधार पर दी है[2] —

जिण लिखा में दराजी रहे सो लिखी 'इतिहास' कहावै ॥१॥
जिण लिखा में कम दराजी सो लिखी 'वात' कहावै ॥२॥
इतिहास रो अवयव 'प्रसंग' कहावै ॥३॥
जिण वात में एक प्रसंग होय चमत्कारीक होय तिका वात 'वातसाम' कहावै ॥४॥

इसी प्रकार से 'दवावैत' और 'वचनिका' संज्ञक रचनायें तुकान्त गद्य ही है। इनमें कई स्थानों पर शुद्ध पद्य भी प्रयुक्त होता है जिससे ऐसी रचनायें 'चम्पूकाव्य' बन जाती हैं। दवावैत में पद्य के अनुकरण पर अन्त्यानुप्रास मध्यानुप्रास व यमक आदि की 'चमक-दमक' भी मिलती है। यह गद्य शैली की प्रौढ़ता का प्रतीक है।[1] दवावैत दो प्रकार की मानी गई है—(१) शुद्धबंध अर्थात् पदबंध जिसमें अनुप्रास मिलाया जाता है (२) गद्यबंध जिसमें अनुप्रास का बन्धन नहीं होता।[3] दवावैतों में मालीदासकृत 'नरसिंहदास री दवावैत' अधिक प्रसिद्ध है। अनेक जैन लेखकों ने भी दवावैत लिखे हैं।

पदबन्ध का उदाहरण

"प्रथम ही अयोध्या नगर जिसका बयान
बारै जोजन सो चौड़े तीसैं जोजन की धाव
चोतरफ के फैलाव चोसठ जोजन के फिराव,
जिसके तले सरिता सरिजू के घाट
मत छत्तावसु बहै चोसर कोसों के पाट।

गद्यबन्ध का उदाहरण

हाथियों के हलके बांधू बनाते कोसे अरापत के साथी मतवाली के टोले। मत देहु के दिग्गज विन्ध्याचल के सुजाव रमरम चित्र मुडा डंकके बनाव। मुलकी चमूस और बटू के ठमके, बादलों की अनमपा मरे मरे मौरों की मही भंभकै। कब करमु के अंबर मारी कनक की हुंस अवाहर के पेहर दीपमाला की रूस।

१—रामकुमार वर्मा हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० १७०
२—डा० चवस जनमत—वर्ष १-अंक १४ पृ० ९२
३—मंछाराम रघुनाथरूपक गीतांरो-पृ० २११

वचनिका के भी इस प्रकार से दो भेद हैं—(१) पद्यबन्ध जिसमें मात्राओं का नियम होता है। इसके भी दो उपभेद हैं—(अ) जिसमें आठ-आठ मात्राओं के तुकयुक्त गद्यखण्ड हों, और (ब) जिसमें बीस-बीस मात्राओं के तुकयुक्त गद्यखण्ड हों। (२) गद्यबद्ध—इसके भी दो भेद हैं—(स) वारता या साधारण गद्य।[1] (द) तुकयुक्त गद्य।[2]

दवावैत की तुलना में वचनिका कुछ लम्बी और विस्तृत होती है और गद्य खण्ड में तो मात्रों कई छंदों के छोटे अर्थात् युग्म वचनिका रूप में जुड़ते चले जाते हैं।[3] उपलब्ध दवावैतों की भाषा राजस्थानी से प्रभावित खड़ी बोली हिन्दी है जबकि वचनिकाओं की राजस्थानी उदाहरण देखिये[4] —

वचनिका

> होवी ऐसा माहाराजा रामचंद्र असरण-सरण।
> अनाथ नाथ बिरदरू धारै।
> सो ग्राहकू मार ग्याय ही गजराजकू तारै।
> और श्री नरसिंघ होय प्रल्हाद्या अगजाहर किया।
> हरणकुसकू मार प्रहलादकू उबार लिया।
> प्रसे का दिन जांग दंत बैस रुबाराषकू मच्छ देह धारी।
> सतव्रत की मयती अगजाहर करी।
> ऐसा स्त्री रामचंद्र करुणानिध।
> असरण-सरण ग्याय ही धावै।
> जिसके ताई बेता बिरद धीबै वेता ही सावै ॥१९४

वारता

> रामचंद्र जिसा सिष रजपूत कोई बेसापुरू होवै छै।
> ज्यांके प्रताप देव नरनाम सदजन सुख नींद सोवै छै।
> राजनीत का निधांन सीह बकरी एक घाटै नीर पावै छै।
> पंछी की पर बापों बाज वहसत खावै छै।
> उपके प्रभाव पांणी पर सिला तरै छै।
> मुमपत सा मर्वक ज्यांका बस काड़ सर्वकसुबा करै छै।

१—कहीं कहीं तुकान्त गद्य के लिए भी बात वातों या वातिक नाम का प्रयोग देखा जाता है।

२—नरोत्तम स्वामी राजस्थानी साहित्य संग्रह-खं० १ पृ० ५ प्रारम्भिक-नाहटाजी

३—मंसाराम रघुनाथ रूपक गीतांरो–पृ० २४२

४—नरोत्तम स्वामी राजस्थान साहित्य संग्रह भाग १ नाहटाजी का प्रथम लेख–पृ० ५

५—सीताराम लालस रघुवर जसप्रकास-पृ० ८१-८७

काम दहकंधरा करोड़ाँ रोड़ अमीरोज कीजै छै।
सुग्रीव भभीखण जिसा मित्रपणाँ केकंधा लंक दीजै छै।
जाँका नाम धन्य पै रामगुण गावै छै।
जामण मरण भव मेट अमैपद पावै छै। १९५

वचनिकाओं में दो बहुत प्रसिद्ध हैं। एक शिवदास कृत अचलदास खीची री वचनिका जिसमें गागरोन गढ़ के खीची (चौहान) वंशीय राजा अचलदास के वीरता पूर्ण युद्ध और मृत्यु का वर्णन है। यह पन्द्रहवीं शती उत्तरार्ध की रचना है। लिखिया जगा रचित राठौड़ महेशदासोत री वचनिका दूसरी प्रख्यात रचना है।

ख्यातकारों में मुता नैणसी, बांकीदास और दयालदास सबसे अधिक महत्व रखते हैं। नैणसी को 'राजस्थान का अबुलफजल' कहा गया है जिसका वह अधिकारी है। उसकी ख्यात में समूचे राजस्थान का इतिहास आ गया है। बांकीदास की ख्यात में २५०० से ऊपर बातों का संग्रह है। दयालदास की ख्यात में बीकानेर के राठौड़ नरेशों का सतंत्र इतिहास दिया गया है। प्रौढ़ और शक्तिशाली गद्य के नमूने के रूप में हम इन सभी रचनाओं को ले सकते हैं।

जैन लेखकों के गद्य का अलग विभाग रखने का अर्थ यह नहीं कि उन्होंने ऊपर बताए गए प्रकार के ग्रन्थ नहीं लिखे। वस्तुत ऐतिहासिक गद्य के क्षेत्र में भी जैन लेखकों का योगदान महत्व का रहा है उन्होंने वचनिका तथा दवावैत भी लिखे हैं। जिन-सुख-सूरि-दवावैत, जिनलाभ-सूरि दवावैत आदि ऐसी ही रचनायें हैं। अस्तु हम जैन लेखकों के गद्य के अन्तर्गत ऐसी रचनाओं के अतिरिक्त उस समस्त साहित्य को लेंगे जो धार्मिक अथवा लौकिक आधार पर रचा गया है। ऐसे साहित्य में (१) जैन सूत्र साहित्य के बालावबोध, टब्बा चूर्णिका आदि का गद्य (२) जन कथाओं का गद्य (३) व्याकरण तथा औक्तिकों का गद्य आदि माने जायेंगे।

राजस्थानी का प्राचीनतम गद्य का उदाहरण (१३३० ई०) जैन लेखक रचित ही है। यह उदाहरण हमें गुजरात के आशापल्ली नगर में आश्विन सुदी ५, बुधवार सं० १३३० में ताड़पत्र पर लिखी 'आराधना' नामक रचना में मिलता है।[1] संस्कृत के बालोपयोगी व्याकरणों में कुछ लेखकों ने उदाहरण बोलचाल की अथवा साहित्य की देशभाषाओं में दिये हैं। संग्रामसिंह की 'बालशिक्षा (१३३६) और कुल मंडनका 'मुग्धावबोध औक्तिक' (१४५०) ऐसी ही उपयोगी रचनायें हैं। इनसे तत्कालीन भाषा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। जैन साधुओं ने अपने धर्म के गहन विचार जन साधारण तक पहुंचाने के लिए कथाओं का आश्रय लिया। ये कथायें बहुधा धार्मिक ग्रंथ की व्याख्याओं के साथ उदाहरण रूप ग्रथित की गई हैं। ऐसी रचनायें 'बालावबोध' कहलाईं। बालावबोध-कारों में तरुणप्रभसूरि सोमसुन्दर सूरि, मेरुसुन्दर और पार्श्वचन्द्र के नाम महत्व के हैं। धर्म कथाओं में माणिक्यचन्द्र सूरि

१—मुनि जिनविजय प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ—पृ० २१९

रचित 'पृथ्वीचन्द्र चरित' अथवा 'वाग्विलास' कला और भाषा कौशल की दृष्टि से उल्लेखनीय रचना है।

टीकाओं तथा अनुवाद ग्रंथों के रूप में भी हमें राजस्थानी गद्य का नमूना देखने को मिलता है (२) विविध महाकाव्यों और काव्यग्रन्थों की टीकाओं के साथ ही (३) धार्मिक ग्रन्थों के यथा रामायण, भागवत, गीत गोविन्द आदि के अनुवाद भी प्राप्य हैं। इसी प्रकार (४) लौकिक और मनोरंजक ग्रन्थों जैसे पंचतन्त्र, सिंहासन बत्तीसी शुक बहोत्तरी कथा सरित्सागर के अनुवाद भी हुए हैं और (५) वैद्यक वास्तु, शिल्प, ज्योतिष आदि के शास्त्रीय ग्रन्थों के भी अनुवाद समय-समय पर किए गए हैं। अनुवाद साहित्य का परिमाण भी काफी है।

परिमाण और लोकप्रियता में सिरमौर राजस्थानी गद्य का, स्वरूप 'कथा' का है। इन कथाओं को 'बात' कह कर पुकारा जाता है और समूचे राजस्थान भर में, ये रचनायें बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं। कथानक की दृष्टि से इन्हें ऐतिहासिक आख्यानात्मक पद्यात्मक और मिश्रित-तीनों रूपों में मिलती हैं। श्री नरोत्तमदास जी स्वामी के शब्दों में "इन कहानियों के सैकड़ों संग्रह मिलते हैं जिनमें हजारों कहानियां हैं—धर्म की और नीति की वीरता की और प्रेम की हास्य की और करुणा की राजाओं की और प्रजा की, देवताओं की और भूतप्रेतों की चोरों की और डाकुओं की आदर्शवादी और यथार्थवादी लोक कथाएं और कला कृतियां-सारांश यह कि सभी प्रकार की।

कलात्मक गद्य का कृतियों में 'खीची गंगेव नींबावत रो दोपहरो' प्रसिद्ध है। अन्य कृतियों में 'राजान-राउत रो वात-वणाव' 'सभा शृंगार' आदि मुख्य हैं। बात साहित्य तो स्वयं स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है।[1]

राजस्थानी गद्य की इस परम्परा का सूत्र अपभ्रंश से उपलब्ध है और वह अपभ्रंश का इस दृष्टि से उत्तराधिकारी है, इसे हम आगे चल कर देखेंगे।

●

१—गोवर्द्धन शर्मा प्राचीन राजस्थानी गीत भाग ९, भूमिका-पृ० २४

५

प्राकृत व अपभ्रंश का डिंगल साहित्य पर प्रभाव

पीछे के अध्ययन से यह स्पष्ट हो चुका है कि अपभ्रंश-काव्यों की रचना डिंगल के प्रारम्भ-काल तक होती रही है अथवा दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अपभ्रंश की काव्यधाराएं ही परवर्तीकाल में आकर डिंगल के रूप में विकसित हो गई है। राजस्थानी के प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य में जो साहित्यिक रूप और शैलियां मिलती हैं, उनका आरम्भ हमें अपभ्रंश परम्परा में मिल जाता है।

प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यरूप संक्षेप में इस प्रकार रहे हैं —

प्राकृत

(१) प्रबन्धकाव्य —

साहित्यिक महाकाव्य—सेतुबंधादि

जैनों के धार्मिक काव्य—महावीरचरित

गद्य-पद्य मिश्रित कथा-कृतियां—वसुदेवहिण्डी

(२) मुक्तक काव्य —

गाथा सप्तशती आदि मुक्तक

अन्य कृतियों में

(१) गद्य

अपभ्रंश के विविध काव्यरूपों का सम्बन्ध सीधा जनता से था। इसी प्रकार प्राकृत साहित्य का विकास लोकजीवन की भित्ति पर हुआ था।[1] समयानुसार जब प्राकृत अपभ्रंश आदि भाषाओं ने देशी आधुनिक भाषाओं के लिए जगह छोड़ दी, तब यही जनजीवन राजस्थानी तथा अन्यदेश्य भाषाओं में मुखर हो उठा। ऐतिहासिक दृष्टि से अपभ्रंश भाषा और साहित्य राजस्थानी भाषा और साहित्य के साक्षात पूर्वज हैं अतः डिंगल को जो राजस्थानी भाषा की प्रमुख और प्रतिनिधि भाषा है यह रिक्थ मिलना आवश्यक है। वह रिक्थ उसे मिला भी है। प्राचीन राजस्थानी लम्बे समय तक जनसमाज की आदरणीय भाषा रही। इसमें काफी साहित्य रचा गया। इस साहित्य की जो भी कुछ सामग्री प्राप्य है, वह अत्यन्त उज्ज्वल है। भाषातत्व की दृष्टि से उसमें अपभ्रंश का प्राबल्य है, परन्तु राजस्थानी भाषा में तो सदैव से अपभ्रंश की प्रधानता उसकी एक प्रमुख विशेषता है। डिंगल का आधुनिक कवि भी प्राचीन परिपाटी पर यथाक्रम चलते रहना आवश्यक समझता है। डिंगल में प्राचीन राजस्थानी की झलक दिखाई देती है और प्राचीन राजस्थानी में डिंगल की। दोनों का अविच्छेद्य सम्बन्ध आज तक बना हुआ है।[2] इसी लोकभाषा से लगभग सोलहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा और गुजराती ने जन्म ग्रहण किया परन्तु उनमें अपभ्रंश की झलक कायम न रही और ये दोनों छोटी लड़कियाँ अपनी माँ से बिछुड़ गई। अपभ्रंश की जेठी बेटी राजस्थानी ने कभी अपनी माँ का एकदम साथ न छोड़ा और अब भी वह आन्तरिक प्रेम को निभाये चलती है।[3] इस दृष्टि से डिंगल का अपभ्रंश से घनिष्ट सम्बन्ध है। यही कारण है कि डिंगल के अधिकांश काव्यरूपों की परम्परा अपभ्रंश से जोड़ी जा सकती है। भावधारा के लिए बहुत से लोगों ने संस्कृत की ओर देखा पर बाह्य रूपों के लिए वे अपभ्रंश की ओर ही झुके। जहाँ तक डिंगल कवियों का प्रश्न है उनकी रचनाओं की भावधारा अपभ्रंश स्रोत से ही प्रवाहित हुई है।[4]

हमने अपने तीसरे अध्याय में देखा ही है कि राजस्थानी या डिंगल में निम्न काव्य रूप उपलब्ध हैं —

(१) प्रबन्धात्मक

चरितकाव्य-रासकाव्य पूरबविलास पृथ्वीराजरासो रणमल्ल छन्द आदि।

धार्मिक ग्रन्थ—हरिरस नागदमण भाषा भारथ बेलिक्रिसन रुकमणीरी।

१—भोलाशंकर व्यास हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास भाग १-पृ० ३१०

२—मनोहर शर्मा लोकपत्रिका-वर्ष १ अंक १ पृ० २२

३—वही—पृ० २३

४—रामसिंह तोमर आलोचना अंक ८ पृ० ६२

५—शकुन्तला दुबे काव्यरूपों के मूलस्रोत और उनका विकास पृ० ६०-६१

प्रेम-कथाएं ढोलामारूरा दूहा, माधवानल-कामकंदला चुपई।
गद्यपद्यमिश्रित रचनाएं राग मोगादेजीरो, वचनिकाएं आदि।

(२) मुक्तक

एक विषय को लेकर लिखे पद, दोहे आदि—हाला झाला री कुण्डलियां, वीर सतसई कायरबावनी, मावडिया मिजाज आदि।
नीति उपदेश सुभाषित आदि—राजियैरा सोरठा नीति मंजरी आदि डिंगल गीत।

(३) गद्य

बातें—निजंधरी और काल्पनिक।
बातें—अर्द्ध ऐतिहासिक।
ख्यातें—ऐतिहासिक।
टीकाएं वचनिका वार्ताएं और विवरणात्मक गद्य आदि।

राजस्थानी ख्यातों की परम्परा अप-भ्रंश की परम्परा होने से डिंगल के साहित्यिक रूप से मेल नहीं खाती अतः उसे छोड़ दिया गया है।

हम पिछले अध्याय में देख ही चुके हैं कि रासोसंज्ञक रचनाओं की दो परम्पराएं हैं। पहली तो नाट्य गेय परम्परा और दूसरी परवर्ती छन्द-वैविध्य परम्परा जो चरित अथवा आख्यानक काव्य हैं। हम क्रमशः दोनों परम्पराओं का अध्ययन करेंगे।

प्राकृत में लोकजीवन ने जिस प्रकार की अभिव्यक्ति पाई[1] वही अपभ्रंश के द्वारा राजस्थानी को मिली है। अपभ्रंश में रासक रूप में उपलब्ध संदेश रासक इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कृति है। प्रस्तुत रचना पहली परम्परा की है। इसमें अन्य रास काव्यों की तरह किसी पुरुष का चरित नहीं गाया गया है बल्कि यह प्रेमकाव्य है। राजस्थानी का बीसलदे रासो इसी परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। लगभग सवासौ छन्दों के इस छोटे से प्रेमकाव्य में बीसलदेव के परदेश जाने और उनकी रानी राजमती के वियोग तथा संदेशा भेजने और फिर बीसलदेव के वापस आने की बात ललित मुक्तकों में कही गई है। यदि इस कहानी को हटा दिया जाय तो भी इस प्रेमकाव्य के मुक्तकों की एक सूत्रता में अन्तर नहीं आ सकता क्योंकि सभी छन्दों के बीच कथा की अपेक्षा भाव का सूत्र है। 'संदेश रासक' की भांति 'बीसल देव रास' भी मुख्यतः विरह काव्य है अन्तर इतना ही है कि 'बीसल देव रास' के आरम्भ में विवाह के भी गीत हैं साथ ही बीसलदेव के परदेश जाने का प्रसंग भी वर्णित है। शेष प्रसंग सामान्य रूप से लगभग एक-सा है अन्तर केवल ब्यौरे का है। जैसे 'संदेश रास' में जहां पर ऋतु-वर्णन है वहां 'बीसलदेव रास' में बारहमासा है। ऐसा मालूम होता है कि 'बारहमासा' की प्रवृत्ति परवर्ती काल में विकसित हुई। अपभ्रंश की जिस रचना में 'बारहमासा' मिलता है वह विनयचन्द्र सूरिकृत 'नेमिनाथ चउपई'

१—जानकारी के लिए देखिये—प्रथम अध्याय—प्राकृत मुक्तकों का अध्ययन।

तेरहवीं शताब्दी ईस्वी से पहले की रचना नहीं है यदि होगी तो उसके बाद की होगी। इसके अतिरिक्त संदेश रास' का षड् ऋतु वर्णन जहां ग्रीष्म ऋतु से शुरू होता है वहां बीसलदेव रास का 'बारहमासा कार्तिक मास से आरम्भ होता है। कारण स्पष्ट है चौमासे में कोई प्रवास नहीं करता। प्राय लोग पावस के चार महीने बिता कर ही कहीं बाहर निकलते हैं। बीसलदेव ने भी ऐसा ही किया। इसलिए उसकी रानी राजमती की विरह वेदना का स्वार के बाद कार्तिक से शुरू होना स्वाभाविक है।

इसी तरह 'संदेश रास' में संदेश लेकर पथिक ज्यों ही प्रस्थान करता है कि विरहिणी का प्रिय दिखाई पड़ जाता है और काव्य वहीं समाप्त हो जाता है जबकि बीसलदेव रास में पथिक सचमुच बीसलदेव के पास पहुंच जाता है और रानी की चिट्ठी पाकर वह उड़ीसा से अपनी राजधानी अजमेर को प्रस्थान करता है लेकिन प्रस्थान करने से पहले रानी के पास अपने आगमन की पूर्व सूचना भेजता है। 'बीसलदेव रास' की समाप्ति राजा और रानी के आनन्दपूर्ण मिलन के सुखद वर्णन के बाद होती है।

इसी तरह ब्यौरे की और भी कई बातें हैं जिनमें बीसलदेव रास' 'संदेस रास से भिन्न है। फिर भी दोनों मूलतः विरह काव्य हैं और दोनों की मुख्य भाव धारा एक है। इसका मतलब यह नहीं है कि 'बीसलदेव रास' संदेस रास' से प्रत्यक्षत प्रेरित और प्रभावित हुआ है। साहित्य में ऐसे प्रभाव और प्रेरणाएं परोक्ष हुआ करती हैं। इनका आधार तो लोक जीवन में ही हुआ करता है।[1]

दोनों काव्यों का अन्त भी एक सा है --

जेम अचिंतिउ कज्जु तसु सिद्धु खणद्धि महंतु।
तेम पठंत सुणंतयह जयउ अणाइ अणंतु ॥२२३॥[2]

अर्थात् जिस प्रकार उसके कार्य की अचिंतित महती सिद्धि हुई उसी प्रकार पढ़ने सुनने वालों के भी कार्य सिद्ध हों। अनादि अनन्त की जय हो।

इसी प्रकार नरपति भी अब्दुलरहमान की तरह ही बीसलदेव रासो को पढ़ने वालों व सुनने वालों की मनोकामना पूरी होने की कामना करता है —

मनका मनोरथ पूजस्या।
भणइ सुणइ तिणी पुरस्यो आस ॥ ४२ ॥[3]

नरपति नाल्ह कृत बीसलदेव रासो के विषय में डा॰ रामकुमार वर्मा लिखते हैं—'बीसलदेव रासो' का व्याकरण अपभ्रंश के नियमों का पालन कर रहा है। कारक क्रियाओं और संज्ञाओं के रूप अपभ्रंश भाषा के ही हैं अतएव भाषा की दृष्टि से

१—नामवरसिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग-पृ॰ २७५-७६
२—द्विवेदी व त्रिपाठी संदेश रासक पृ॰ ६५
३—सत्यजीवन वर्मा : बीसलदेव रासो पृ॰ ११५

इस रासो को अपभ्रंश भाषा से सद्य विकसित हिन्दी का ग्रन्थ कहने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।[1] भाषा की दृष्टि से ही नहीं किन्तु भावधारा और शैली की दृष्टि से भी इस पर अपभ्रंश का पर्याप्त प्रभाव है। अपभ्रंश की उन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त जो पृथ्वीराज रासो में पाई जाती हैं, और जिनका पीछे उल्लेख किया जा चुका है, बीसलदेव रासो में अपभ्रंश के रासो ग्रन्थों की अन्य प्रवृत्तियां भी दिखाई देती हैं।

बीसलदेव रासो अन्य रासो ग्रन्थों से भिन्न आकार में लघुकाय रचना है। कथावस्तु संक्षिप्त है। यह गीतात्मक काव्य है और सारे काव्य में एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। इन विशेषताओं के कारण इस पर अपभ्रंश के 'उपदेशरसायन रास' का प्रभाव अनुमित किया जा सकता है।[2] संदेश रासक से साम्य तो हम देख ही चुके हैं।

अब हम छन्द वैविध्य परक रासो काव्यधारा पर विचार करेंगे। हम देख चुके हैं[3] कि प्रायः सभी रासोकाव्य प्रार्थना से या मंगलाचरण से आरम्भ हुए हैं। यह परम्परा तो हमें संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश तीनों साहित्यों में मिलती है। हां इसका अपवाद अवश्य डिंगल रचनाओं में उपलब्ध है। परन्तु ऐसी रचनाएं प्रबंधात्मक न होकर मुक्तकों के एक विषय से सम्बन्धित संग्रहमात्र हैं।

रासो विलास, प्रबन्ध संज्ञक रचनाओं की परम्परा शैली तथा वस्तुविन्यास का सम्बन्ध आसानी के साथ अपभ्रंश से जोड़ा जा सकता है। अब तक अपभ्रंश भाषाओं का जितना साहित्य उपलब्ध हुआ है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि डिंगल और अपभ्रंश में अन्तर कम और एकरूपता बहुत अधिक है और कुछ उदाहरण तो ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कहते हैं और डिंगल भी। राजस्थानी के वीरकवियों ने संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश की पद्धतियों को बनाये रखा है। गाथा कहने से ही प्राकृत-काव्य का बोध होता है और दूहा अपभ्रंश काव्य का विशेष गुण है। इन दोनों शैलियों के सम्मिश्रण से तथा वीर रसोचित नवीन पद्धतियों के प्रयोग से वीर गाथा साहित्य का निर्माण हुआ है।[5]

इन सभी रचनाओं में प्रायः कवि मंगलाचरण के बाद मूल विषय पर आता है। पर कभी-कभी अपने ग्रन्थ की महत्ता में कुछ कह देता है कभी-कभी वह विनय से अपने को सामान्य व्यक्ति ठहराता है। विषय की महानता के अनुरूप अपने को

१—रामकुमार वर्मा हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० १४१
२—हरिवंश कोछड़ अपभ्रंश साहित्य पृ ११
३—अध्याय ४ पृ० १८
४—हरदेव बाहरी हिन्दी की काव्यशैलियों का विकास पृ० १८
५—वही

असमर्थ पाता है। छन्दशास्त्र में निष्णात भाषाओं के महापण्डित, हमारे महाकवियों में से एक प्रमुख कवि स्वयंभू कहते हैं[1] —

> णउ बुज्झिउ-पिंगल-पत्थारु । णउ भम्मह – दण्डि – अलंकारु ।
> ववसाउ तो वि णउ परिहरमि । वरि रड्डावद्ध कव्वु करमि ।

अर्थात् न तो मैंने पिंगलशास्त्र के प्रस्तार को समझा है और न भामह और दण्डि की अलंकार व्यवस्था को ही जाना है फिर भी मैं इस काव्यरचना के व्यवसाय को नहीं छोड़ पा रहा हूं प्रत्युत रड्डा छन्दोबद्धकाव्य रच रहा हूं ।

सन्देशरासक के रचयिता द्वारा प्रदर्शित उद्गार विचारणीय हैं। वह कहता है[2] —

> जइ भरहभावछंदे णच्चइ णवरंगचंगिमा तरुणी ।
> ता किं गामगहिल्ली तालीसद्दे ण णच्चेइ ॥

अर्थात् यदि भरत मुनि द्वारा निर्दिष्ट भावों और छन्दों के अनुसार नवरंग चंगिमा (नूतनवर्णप्रभाता ?) तरुणी नाचती है तो क्या ग्रामगहिल्ली ताली बजा कर न नाचे ? कवि ने विनयवश अपनी कविता के औचित्य को बताने के लिए ऐसे कई छन्द लिखे हैं। उन दिनों रासक काव्यों में इस प्रकार विनय और कवित्व विषयक औचित्य दिखाने की प्रथा थी। समसामयिक कवि चन्दवरदाई ने भी इस प्रकार के अनेक छन्द पृथ्वीराज रासो में लिखे हैं। एकाध तो संदेशरासक के छन्दों से बहुत मिलते से हैं। चंद की इसी भाव की गाथा इस प्रकार है[3] —

> सत्त घन आवासं महिलानं मद्द सद्द नूपुरया ।
> सतफल बज्जुन पयसा पब्बरियं नैव बासंति ।

अर्थात् सतखंडे महलों में मद-विह्वल नूपुरध्वनि के साथ यदि अभिजात तरुणियां नाचती हैं तो क्या पर्वतवासिनी स्त्रियां पैरों में घुंघरू बजा कर भी न चलें ?

इसी प्रकार श्रीधर ने रणमल्लछन्द में कहा है —

> श्रीधर कवित कहइ मती मंद ।
> पूर्वप्रायो आर्या छंद ।

अपने को मतिमंद कहना ही उसकी विनयशीलता का द्योतक है।

पौराणिक शैली के काव्यों में वक्ता और श्रोता के सम्वाद के रूप में कथा कहने की प्रथा पहले ही से चली आ रही थी। लोककथाओं में प्राय कोई कथा पशु पक्षियों की बातचीत के रूप में कही जाती थी। प्राकृत की लीलावई कहा' में कवि

१—देवेन्द्रकुमार पउमचरिउ-खण्ड १–पृ० ८

२—द्विवेदी व त्रिपाठी सन्देश रासक–पृ ५

३—मोहनसिंह राव पृथ्वीराज रासो खंड १ पृ० १

रासा सभी रचनाओं में यह प्रणालिका दीख पड़ती है। यद्यपि मिश्रित रचनायें तो चल ही रही थीं।[1]

विद्यापति की कीर्तिलता में पद्य के बीच-बीच में गद्य की योजना की गई है।[2] डिंगलकाव्य ग्रन्थों में भी वारता, वचनिका, दवावैत आदि के रूप में गद्य की योजना की गई है। यह पद्धति डिंगल कवियों को अत्यधिक प्रिय थी। डिंगल के अधिकांश कवि षटभाषा प्रवीण हुआ करते थे। नगर बारहठी, ईसरदास, पद्मनाभ, पृथ्वीराज बांकीदास सूर्यमल्ल आदि कवि बहुपठित थे। उनकी रचनाओं में भाषा प्रयोगों की विविधता दर्शनीय है।[3] सूर्यमल्ल मिश्रण का वंशभास्कर सबसे बड़ा और प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह बूंदीराज्य का पद्यात्मक इतिहास है और दो बार प्रकाशित भी हो चुका है। भाषा इसकी क्लिष्ट है। अपने पांडित्य तथा शब्दभंडार प्रदर्शन के हेतु सूरजमल ने इसमें कई नए शब्द गढ़ कर रख दिए हैं और अनेक स्थानों पर संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश आदि भाषाओं के अप्रचलित एवं कर्णकटु शब्दों का प्रयोग किया है जिससे भाषा में क्लिष्टता और दुरूहता आ

१—पुराने समय के चारण जो इस प्रकार की रचनाएं करते थे, बड़े विद्वान होते थे। कारण यह था कि प्रायः सभी राजपूत उस समय युद्ध में व्यस्त रहते थे। और उन्हें सैनिकों के प्रोत्साहन के लिये चारणों और वीर रसपूर्ण कविता सुनाने के लिए भाटों की बड़ी आवश्यकता होती थी। इस प्रकार राज-दरबारों में सम्मान उन्हीं चारणों और भाटों को मिल सकता था जो अपनी कला में बहुत प्रवीण होते थे। अतः इस जाति के लोग काव्य-कला-कौशल की प्राप्ति के लिए शिक्षा और अभ्यास में बहुत समय बिताते थे, और संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं के पूरे विद्वान हुआ करते थे (गणेशप्रसाद द्विवेदी हिन्दी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट-पृ० २१)। वर्णरत्नाकर में भी 'भाट वर्णना' के अन्तर्गत भाट को छहु भाषाओं के तत्त्वज्ञ होने की आवश्यकता बताई है (पुनु कइसन भाट संस्कृत पराकृत अवहठ पैशाची सौरसेनी मागधी छहु भाषाक तत्त्वज्ञ)। कर्नल टाड कहते हैं कि उस समय कवीश्वर की पदवी उन्हीं को दी जाती थी जो कम से कम छहु भाषाओं के ज्ञाता होते थे तथा व्याकरण छन्द निरुक्त आदि विषयों में भी प्रवीण होते थे (टाड राजस्थान-दसवां अध्याय)। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इन कवियों के आश्रयदाता राजपूत लोग भी काव्य मर्मज्ञ होते थे। चन्द के अनुसार पृथ्वीराज छहु भाषाओं के जानकार थे—

संस्कृतं प्राकृतं चैव अपभ्रंश पिशाचिका।
मागधी सूरसेनीच, षट् भाषाश्चैव ज्ञायते ॥

(कविराव-पृथ्वीराज रासो भाग १, पृ २९)

२—शिवप्रसाद सिंह कीर्तिलता और अवहट्टभाषा पृ० ३९, ३३ ३५, ३८ ३९ ४० ४४, ४८ ५१ ५४ ५५, ५६ ६० ६५।

३—देखिये लेखक की पुस्तक—'राजस्थानी कवि' दोनों खंड

गई है।[1] इसी में डिंगल का भी काफी प्रयोग है। राजविलास की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है।[2] डिंगल के प्रसिद्ध ग्रन्थ बादर रचित वीरवाण में भी पंजाबी प्रभाव दर्शनीय है।[3] उसमें ही अपभ्रंश के अनेक रूप प्रयुक्त दीख पड़ते हैं। यह मिश्रित काव्यरूप परम्परा और मिली जुली भाषाओं का प्रयोग ठेठ प्राकृत से चला आ रहा है जिसका अपभ्रंश और डिंगल में भी निर्वाह किया गया।[4]

१—मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य–पृ० २११

२—मोतीलाल मेनारिया राजविलास–भू० पृ० २२

३—लक्ष्मी कुमारी चूंडावत वीरवाण–भूमिका–पृ० १५

४—मिश्रित भाषा के उदाहरण देखिए—

(१) लाखा रासा में प्राकृत प्रभाव

छन्द पाधाकुल पराकृत भाषा

सो रीति सबं भीम गेहा तस्ते पुत विरुघ सनेहा।
अप्पे पहुवां पहुवा भोरा अप्पे पुर्न भूम अंभोरा।

महताबचन्द्र सं०—लाखारासा–पृ० ४०

(२) राजरूपक में वच

वार्ता

बारहट केसरी भीम का भीम सूरां तैं सिरकल कविराजा की सीम। मूछ पर हाथ दिया, मन में उछाह किया। सूरां के प्रमाण बोले सभा सुनत वचन तोले। सुनी ठाकुरां सिरदारां आय बनी महासूरां की बारां। भी तौ अग्रवल बल पामो वंस के क्रमस ताको समय आयो। बौहस के प्राण सींजै तब धमल के कंध बौझ दीजै। ऐसे अनेक बात कही, और ही अनेसर बोल वाह वाह कही।

—रामकर्ण सं०–राजरूपक–पृ० १४९ ६०

(३) रणमल्ल छन्द में संस्कृत

आर्या

शंकरपुत्रमलापाम् नत्वा वरवीररसरसारंभे।
कथयेऽहं रणमल्लं प्रतिमल्लं यवनभूपस्य ॥१॥
सत्ताविसमबहुतौ कर्ता करलस्य समरकर्तुं णाम्।
धीरवमभीवर्ती रणमल्लो जयति भूभर्ती ॥२॥

के० ह० ध्रुव सं०—प्राचीन गुर्जर काव्य–पृ० १

(४) वंश भास्कर की प्रमुख भाषा–प्राचो अजवैशीया प्राकृत-मिश्रित भाषा–ही है परन्तु उसमें शुद्ध प्राकृत संस्कृत शुद्ध ब्रजभाषा अपभ्रंश मिश्रित मरुभाषा आदि भी है।

(५) डिंगलकोष के निर्माता कविराजा मुरारीदान–बूंदी की रचनाएं भी प्राकृत, अपभ्रंश और राजस्थानी ब्रज मिश्रित हैं।

प्राकृत अपभ्रंश के अनेक कवियों ने अपने द्वारा प्रयुक्त छंदों का उल्लेख किया है। स्वयं भू ने पउमचरिउ में स्वयं कहा है कि मैं स्वयं छंदोबद्ध काव्य की निबद्ध कर रहा हूं।[1] बादर भी वीरवांण में अपने द्वारा प्रयुक्त किए गए छंदों की गंणना तक दे देता है।[2] चन्द भी कहता है—[3]

> छंद प्रबंध कवित्त जति, साटक गाह, दुहत्थ।
> लहु गुरु मंडित खंडि यहि पिंगल अमर भरत्थ।

छंदों के उल्लेख की परम्परा के बाद हमारा ध्यान ग्रन्थ की महत्ता प्रदर्शन की ओर जाता है। अपभ्रंश के महाकाव्यों में, उसी प्रकार हिन्दी के प्रबंध काव्यों में रचना के महत्व को प्रदर्शित करने वाले अनेक उल्लेख मिलते हैं। पुष्पदन्त अपने महापुराण में कह उठते हैं—इस रचना में प्राकृत के लक्षण समस्त नीति छंद, अलंकार रस, तत्वार्थ निर्णय सब कुछ आ गया है। यहां तक कि इस जैन चरित में जो कुछ है वह अन्यत्र नहीं मिलेगा।

अत्र प्राकृत लक्षणा निसकला नीति स्थितिश्छन्दसामर्थालंकृतयो रसाश्च विविधास्तत्वार्थनिर्णीतय।

किं चान्यद्यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते द्वावेतौ भरतेशपुष्प दन्तौ सिद्धं ययोरीदृशम्॥

—महापुराण ३९ वीं संधि प्रारम्भिक प्रशस्ति

इसी प्रकार पृथ्वीराज रासो में भी घोषणा की गई है—

> उक्ति धर्म विशालस्य राजनीति नवं रसं।
> षटभाषा पुराणं च कुराणं कथितं मया।

—पृथ्वीराजरासो-१-८३

वेलि क्रिसन रुकमणीरी में कवि पृथ्वीराज ने पाठकों के विशद ज्ञान की आवश्यकता की ओर संकेत किया है। इसे ठीक से समझने के लिए ज्योतिषी वैद्य पुराणों का विद्वान योगी, संगीतज्ञ, तार्किक, न्यायशास्त्री कवि, भाषाविद् और चारण भाट आदि सभी को एकत्र होकर विचार करना पड़ेगा।

> जोतिखी वयद पउराणिक जोगी
> संगीती तारकिक सहि।
> चारण भाट सुकवि, भाखा चत्र
> करि एकठा त अरथ कहि।

१—देवेन्द्रकुमार पउमचरिउ—खंड १—पृ० ९

२—लक्ष्मीकुमारी चूडावत वीरवांण—पृ ११

३—मोहनसिंह पृथ्वीराज रासो—सम्पादकीय—पृ० १

४—नरोत्तम स्वामी क्रिसन रुकमणीरी वेलि—पृ० १५५

हम पिछले अध्याय में देख ही चुके हैं कि डिंगल के काव्यग्रन्थों में कवि का ध्यान प्राकृतिक वस्तुओं तथा अन्य वस्तु व्यापारों की गणना कराने की ओर जितना अधिक दिखलाई पड़ता है उतना संश्लिष्ट चित्रण की ओर नहीं। यह प्रवृत्ति संस्कृत के पूर्ववर्ती महाकाव्यों में नहीं मिलती किन्तु अपभ्रंश के काव्यग्रन्थों में बहुत मिलती है।[1] पृथ्वीराज रासो वेलि क्रिसन रुकमणीरी, कान्हड़दे प्रबन्ध राजरूपक राज विलास सूरजप्रकाश वंशभास्कर रामरासो रघुनाथरूपक रघुवरजस प्रकास सभी डिंगल एवं डिंगल मिश्रित पिंगल ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इस प्रवृत्ति का एक दूसरा रूप भी हमें मिल जाता है। वह यह कि कवि नाम परिगणना के साथ ही संख्यात्मक अत्युक्ति का आश्रय लेता है। इस प्रकार की परिपाटी की परम्परा भी हमें अपभ्रंश से दीख पड़ती है। पुष्पदन्त के महापुराण में ऐसे अनेक स्थल हैं जहां संख्यात्मक अत्युक्ति का सहारा लिया गया है। एक उदाहरण देखिये —

चउरासी लक्खइं कुञ्जराइं। तेत्तिय सहसइं रहवराइं।
सत्तणवइ सहासइं राणियाइं। बत्तीस णिवइं संताणियइं।
सोलह सहसइं सिद्धइं सुरइं। आणायराइं पंचसियराइं।
— महापुराण छत्तीसमो संधि

इन्द्र के दरबार का वर्णन करते हुए पुष्पदन्त पउमचरिउ में कह उठते हैं 'सत्ताईस करोड़ अप्सरायें चमर डुला रही थीं।

विज्जिज्जन्तु चमर परिवाडिहिं। सत्तावीसहिं अच्छर-कोडिहिं।
— पउमचरिउ दहमो संधि क० ६

बीसलदेव रासो में इसी परम्परा का निर्वाह देखिये। बीसलदेव की बारात का वर्णन है —

आठ सेहस मेला चली। पालखी बइठा सहस पचास।
हाथी चाल्या दोहसौ। असीय सेहस चाल्या केकाण।
— बीसलदेव रासो पृ० १२

डिंगल काव्यों में इस प्रवृत्ति का पालन दीख पड़ता है इसे विस्तारपूर्वक हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। यहां तो मात्र इस प्रवृत्ति का अपभ्रंश से सम्बन्ध दिखाना ही अभिप्रेत है। अतः विस्तारभय से और पुनरुक्तिभय से यहां एक ही उदाहरण दिया गया है। जहां तक नाम या वस्तु परिगणना का प्रश्न है इस परम्परा का निर्वाह अपभ्रंश से होकर डिंगलकाव्यों तक में व्यापकता से मिलता है। जो भी विषय युक्त होता है चाहे सामन्तों और दरबार का प्रसंग हो या भोजन का उद्यान का हो या पशु-पक्षियों का सबमें सम्बद्ध वस्तुओं का नाम बहुत ब्योरे के साथ गिनाया गया है। इसमें काव्य-कला की दृष्टि से भले ही दोष दिखलाई पड़े किन्तु अनेक स्थलों में इस पद्धति के कारण तत्कालीन सामाजिक जीवन और सभ्यता पर अच्छा

१ शम्भुनाथसिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ० २१६

रणमल्ल छंद की निम्न पंक्तियों में भी ऐसी ही अनुगूंज है।

धम धमइ धमाधमकार द्रुमर ढोल ढोली गंभिया।

हिन्दी के अनेक काव्यों में विवाहों का वर्णन भी विस्तार से मिलता है। ये विवाह दो प्रकार के मिलते हैं —

प्रेमाख्यान ढंग के विवाह जिनमें नायक-नायिका में चित्रदर्शन गुणश्रवण आदि द्वारा पूर्वानुराग उत्पन्न होता है सन्देश भेजे जाते हैं और शिवमन्दिर में या वाटिका सरोवर के तट पर नायक से नायिका मिलती है फिर नायक युद्ध करके उसका हरण कर ले जाता है। इस तरह के दो तीन गन्धर्व विवाहों का वर्णन रासो में हुआ है जो कालिदास के शाकुन्तल का तथा अपभ्रंश और परवर्ती संस्कृत के पौराणिक रोमांचक चरित काव्यों का प्रभाव व्यक्त करता है। ऐसे विवाहों में कथानक सम्बन्धी पूर्वप्रचलित रूढ़ियों का खूब प्रयोग हुआ है। दूसरे ढंग के वे विवाह हैं जिनमें कन्या-पक्ष और वरपक्ष की राय से विवाह निश्चित होता है, पुरोहित लग्न लेकर जाते हैं तिलक चढ़ता है और बारात जाती है। इन वर्णनों में बारात की अगवानी जनवासा, मंगलाचार पयोधार विवाहमण्डप में भाँवरी, सिन्दूरदान दानदहेज विदाई आदि का विवरण विस्तार के साथ दिया गया है। अपभ्रंश के पूर्ववर्ती चरित काव्यों में विवाह का वर्णन तो अवश्य हुआ है किन्तु इतना विवरण उनमें नहीं दिया गया है। चौदहवीं शताब्दी में रचित [illegible] के '[illegible]' नामक लघु प्रबन्ध काव्य में अवश्य विवाहोत्सव का वर्णन कई कड़वकों में हुआ है। जिसमें विवाह का लग्न शोधन, विवाह की तयारी मंडप-रचना, निमन्त्रण भेजना चौक पूरना, स्त्रियों के गीत हारचार और विदाई आदि का बहुत ही विशद और काव्यात्मक वर्णन हुआ है।[1]

विवाहों की पहली परम्परा का उदाहरण पृथ्वीराज कृत वेलि क्रिसन रुक-मणीरी तथा [illegible] रचित रुक्मणी मंगल में मिल जाता है। दूसरे प्रकार के वर्णन

मसहुस सेल कुंतसर भिल्ला गय बर हुय करवालहिं छिल्ला।
णर बर गाह पडिय को खंडिय, बर तनखणि नकर कहिं मंडिय॥
डिंबहिं डकातडा, मुंडिहिं भडा भडा।
कुंत वाय दारिया, खग्गहिं विदारिया।
जीव आस मेल्लिया, कायरा विचल्लिया।

• • •

धम्म हत्थ धुक्कही, सीहणाइ मुक्कहिं। ८९-९०

अर्थात् रथिक रथ की ओर, गज गज की ओर घोड़ा। मानुष्य मानुष्य की ओर भागा। घोड़ा घोड़े से, निरस्त्र निरस्त्र से, और असि निर्मम हो कवच से जा भिड़ी। वाद्य जोर जोर से बज रहे हैं घोड़े हिनहिना रहे हैं और हाथी चिंघा रते हुए दिखाई दे रहे हैं।

मारो मारो सैनिक चिल्ला रहे हैं? पद दलित धूलि आकाश में फैल रही है। शीघ्र ही पिशाच घिर आते हैं। शृगाल भयंकर शब्द कर रहे हैं। रक्तर जित योद्धा इतस्ततः घूम रहे हैं अस्त्र भिन्न हो रहे हैं हाथी और घोड़े तलवारों से छिन्न हो रहे हैं राजा छिन्न विमस्तक हो गिर रहे हैं"।

योद्धा पिट हो रहे हैं भट मूर्छित हो रहे हैं कोई भालों के प्रहार से विदीर्ण हो रहे हैं कोई खड्ग से छिन्न भिन्न हो रहे हैं जीवन की आशा को छोड़ कायर भाग रहे हैं।

इसी परम्परा में श्रीधर द्वारा रणमल्ल के युद्ध कौशल का चित्र देखिये —

गोरीदल साहणि दिट्ठ चहुंदिसि पडि भडि गिरिमझारि पडियं।
हुनहणि हुबकन्तउ हुं हुं हय हय हुक्कारवि हयमरि चडिय।
धडहडतउ धडि कमधज्ज धराधव्वि धसि धधकायम धू स धरइ।
हकरवइ पक्खर वेस सरिसु रणि रामायण रणमल्ल करइ॥२८॥
रोमविषम रणधिर, राढि डरावण रहि रहि बल बोल्लन्त बलि।
पक्खर बर पुट्ठि पर्वंगम पठ्ठिय पुहवउ पट्ट पत्तसाहवलि।
असि मारवि खम्ब रणायरि रमझिम मरवइ मगड महा मडया।
रणमल रणंगि मोहि मिसल्ला मेच्छायण मूं गल गिडिआ॥२९॥

ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं किन्तु स्थानाभाव से ऐसा नहीं किया जा रहा है।

डिंगल में राम काव्य की विशेष रचना नहीं हुई है। प्रबन्धकाव्य के रूप में माधोदास दधवाड़िया कृत रामरासो उपलब्ध होता है। छन्दों के शास्त्रीय ग्रन्थ के रूप में रघुनाथरूपक गीतारो प्रसिद्ध रचना है। किसना जी आढ़ा का रघुवरजस प्रकास प्रबन्धकाव्य न होकर मात्र राम सम्बन्धी कुछ मुक्तकों के सहारे रचा हुआ लक्षण ग्रन्थ है। इन सब रचनाओं पर अपभ्रंश के राम-साहित्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ा

रणमल्ल छन्द की निम्न पंक्तियों में भी ऐसी ही अनुगूंज है।

धम धमइ धमधमकार ट्रकर ढोल ढोली जंगिया।

डिंगल के अनेक काव्यों में विवाहों का वर्णन भी विस्तार से मिलता है। ये विवाह दो प्रकार के मिलते हैं —

प्रेमाख्यान ढंग के विवाह जिनमें नायक-नायिका में चित्रदर्शन गुणश्रवण आदि द्वारा पूर्वानुराग उत्पन्न होता है सन्देसे भेज जाते हैं और शिवमन्दिर में या सरिता सरोवर के तट पर नायक से नायिका मिलती है फिर नायक युद्ध करके उसका हरण कर ले जाता है। इस तरह के दो तीन गन्धर्व विवाहों का वर्णन रासा में हुआ है जो कालिदास के शाकुन्तल का तथा अपभ्रंश और परवर्ती संस्कृत के पौराणिक रोमांचक चरित काव्यों का प्रभाव व्यक्त करता है। ऐसे विवाहों में कथानक सम्बन्धी पूर्वप्रचलित रूढ़ियों का खूब प्रयोग हुआ है। दूसरे ढंग के वे विवाह हैं जिनमें कन्या-पक्ष और वरपक्ष की राय से विवाह निश्चित होता है पुरोहित लग्न लेकर आते हैं तिलक चढ़ता है और बारात जाती है। उन वर्णनों में बारात की अगवानी, जनवासा, मंगलाचार, ज्योनार विवाहमण्डप में भांवरी सिन्दूरदान वानदहेज, विदाई आदि का विवरण विस्तार के साथ दिया गया है। अपभ्रंश के पूर्ववर्ती चरित काव्यों में विवाह का वर्णन तो अवश्य हुआ है किन्तु इतना विवरण उनमें नहीं दिया गया है। दसवीं शताब्दी में रचित विष्णुदृष्टि भाहिल्ले के पउमसिरिचरिउ नामक लघु प्रबन्ध काव्य में अवश्य विवाहोत्सव का वर्णन कई कडवकों में हुआ है। जिनमें विवाह का लग्न शोधन, विवाह की तैयारी मंडप-रचना, निमन्त्रण भेजना चौक पूरना, स्त्रियों के गीत द्वारचार और विवाह आदि का बहुत ही विशद और काव्यात्मक वर्णन हुआ है।[1]

विवाहों की पहली परम्परा का उदाहरण पृथ्वीराज कृत वेलि क्रिसन रुक-मणीरी तथा सायांभूला रचित रुक्मणी हरण में मिल जाता है। दूसरे प्रकार के वर्णन पृथ्वीराज रासो से लेकर रघुनाथरूपक तक में मिल जाते हैं।

इन सब प्रकार के वर्णनों में सबसे प्रमुख वर्णन युद्ध सम्बन्धी है। व्याख्यात्मक अथवा अनुरणनात्मक शब्दावली का चयन अपभ्रंश में बहुत प्रचलित था। धवल कवि के हरिवंश पुराण का उदाहरण देखिये —

रहवरु रहहु गयहुयउ धाविउ पायुक्कहु पायुक्कु परायउ।
तुरउ तुरंग कुइमा विहुत्थउ असिवरहु लग्गु अंग थरउ।
बज्झंहि बहिर तूर हय हिंसंहि गुलुगुलुंत गयवर बहु दीसंहि।

• • • •

हणु हणु मार मार पभणंतिहिं।
दलिय करंति रेणु णहि धायउ णहु पिसलुद्धउ सुहउ धायउ।
छिक्कारउ करंति छिक्कारउ धुम्मइ सुहड मसंति रुहिरारत्तु।

[1] मोदी व भायाणी पउमसिरिचरिउ दूसरी सन्धि कडवक ११ से १२

धनहस सेस कुंतसर भिन्ना, गय थर हय करवालहि छिन्ना।
धर धर धाह पडिय दो खंडिय धर उच्छलि भकर कहि मंडिय॥
गिधहि लडाउडा, मुच्छहि भडा भडा।
कुंत घाय धारिया, खग्गहि विदारिया।
जीव आस मेल्लिया, कायरा विचल्लिया।

• • •

सम्म हरय दुक्कही सीहणाद दुक्कहि। ८९-१०

अर्थात् रथिक रथ की ओर गज गज की ओर दौड़ा। धानुष्क धानुष्क की ओर भागा। योद्धा योद्धे से, निस्त्रस्त्र निस्त्रस्त्र से, और असि निर्भय हो कवच से जा भिड़ी। वाद्य जोर जोर से बज रहे हैं घोड़े हिनहिना रहे हैं और हाथी चिंघाड़ते हुए दिखाई दे रहे हैं।

'मारो मारो सैनिक चिल्ला रहे हैं? पद दलित धूलि आकाश में फैल रही है। शीघ्र ही पिशाच घिर जाते हैं। शृगाल भयंकर शब्द कर रहे हैं। रक्तरंजित योद्धा इतस्ततः घूम रहे हैं कवच भिन्न हो रहे हैं, हाथी और घोड़े तलवारों से छिन्न हो रहे हैं राजा द्विधा विभक्त हो गिर रहे हैं ।

योद्धा बिद्ध हो रहे हैं भट मूर्छित हो रहे हैं कोई भालों के प्रहार से विदीर्ण हो रहे हैं, कोई खड्ग से छिन्न भिन्न हो रहे हैं, जीवन की आशा को छोड़ कायर भाग रहे हैं ।

इसी परम्परा में श्रीधर द्वारा रणमल्ल के युद्ध कौशल का चित्र देखिये —

गोरीदल माहवि दिट्ठ चहुद्दिसि मढि मढि गिरियाहरि गढियं।
हयहणि हयकल्लउ हुं हु हय हय हुक्कारवि हमरि चढियं।
चउहुलउ कढि कमधज्ज कराउलि बलि बलडायम थूथ करइ।
इडरवइ पक्खर बेस सरिसु रणि रामायण रणमल्ल करइ॥२०॥
रोमंचिय रणसिर, राढि कराबल रहि रहि बल बोलन्त बलि।
पक्खर भर पुट्ठिहि पट्टिम पेढ्ढिय पुड्ढउ पड्ढ पडखाहवलि।
असि मारवि खग्ग रणावणि रणविव मल्लइ मगइ महा भडया।
रणमल रणंगि मारि मिलच्छा मेच्छायण भू घन गिडिया॥२१॥

ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं किन्तु स्थानाभाव से ऐसा नहीं किया जा रहा है।

डिंगल में राम काव्य की विशेष रचना नहीं हुई है। प्रबन्धकाव्य के रूप में माधोदास दधवाड़िया कृत रामरासो उपलब्ध होता है। छन्दों के शास्त्रीय ग्रन्थ के रूप में रघुनाथरूपक गीतांरो प्रसिद्ध रचना है। जिसमें भी कथा का रघुवरजस प्रकाश प्रबन्धकाव्य न होकर मात्र राम सम्बन्धी कुछ मुक्तकों के सहारे रचा हुआ लक्षण ग्रन्थ है। इन सब रचनाओं पर अपभ्रंश के राम-साहित्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ा

रणमल्ल छन्द की निम्न पंक्तियों में भी ऐसी ही अनुगूंज है।

डम डमइ डमडमकार ट्र कर ढोल ढोली जंगिया।

डिंगल के अनेक काव्यों में विवाहों का वर्णन भी विस्तार से मिलता है। ये विवाह दो प्रकार के मिलते हैं —

प्रेमाख्यान ढंग के विवाह जिनमें नायक-नायिका में चित्रदर्शन गुणश्रवण आदि द्वारा पूर्वानुराग उत्पन्न होता है सन्देसे भेजे जाते हैं और शिवमन्दिर में या सरिता सरोवर के तट पर नायक से नायिका मिलती है फिर नायक युद्ध करके उसका हरण कर ले जाता है। इस तरह के दो तीन गन्धर्व विवाहों का वर्णन रासा में हुआ है जो कालिदास के शाकुन्तल का तथा अपभ्रंश और परवर्ती संस्कृत के पौराणिक रोमांचक चरित काव्यों का प्रभाव व्यक्त करता है। ऐसे विवाहों में कथानक सम्बन्धी पूर्वप्रचलित रूढ़ियों का खूब प्रयोग हुआ है। दूसरे ढंग के वे विवाह हैं जिनमें कन्या-पक्ष और वरपक्ष की राय से विवाह निश्चित होता है, पुरोहित लग्न लेकर जाते हैं तिलक चढ़ता है और बारात जाती है। उन वर्णनों में बारात की अगवानी, जनवासा, मंगलाचार, ज्योनार विवाहमण्डप में भांवरी सिन्दूरदान दानदहेज बिदाई आदि का विवरण विस्तार के साथ दिया गया है। अपभ्रंश के पूर्ववर्ती चरित काव्यों में विवाह का वर्णन तो अवश्य हुआ है किन्तु इतना विवरण उनमें नहीं दिया गया है। दसवीं शताब्दी में रचित दिव्यदृष्टि धाहिल के 'पउमसिरिचरिउ' नामक लघु प्रबन्ध काव्य में अवश्य विवाहोत्सव का वर्णन कई कड़वकों में हुआ है। जिनमें विवाह का लग्न शोधन विवाह की तैयारी मंडप-रचना निमन्त्रण भेजना चौक पूरना स्त्रियों के गीत द्वारचार और विवाह आदि का बहुत ही विशद और काव्यात्मक वर्णन हुआ है।[1]

विवाहों की पहली परम्परा का उदाहरण पृथ्वीराज कृत वेलि क्रिसन रुकमणीरी तथा सायांभूला रचित रुकमणी हरण में मिल जाता है। दूसरे प्रकार के वर्णन पृथ्वीराज रासो से लेकर रघुनाथरूपक तक में मिल जाते हैं।

इन सब प्रकार के वर्णनों में सबसे प्रमुख वर्णन युद्ध सम्बन्धी है। ध्वन्यात्मक अथवा अनुरणनात्मक शब्दावली का चयन अपभ्रंश में बहुत प्रचलित था। स्वयंभू कवि के हरिवंश पुराण का उदाहरण देखिये —

रहुयउ रहहु भयभुमउ चाविउ चाबुलहु चाबुलहु परावउ।
तुरउ तुरंग कुअमा विहत्थउ असिवरहु लम्बु मय चत्तउ।
गज्जहि वहिर तूर हय हिंसहि गुमुगुमुत गयवर बहु चीसहि।

• • • •

हणु हणु मारु मारु पभणंतिहि।
दमिय धरति रेणु गहि जायउ महु सिसमुहउ मुहउ जायउ।
फिक्कारउ करंति सिवदारुण सुम्मइ मुहव ममंति वहिरारुण।

---

१ मोदी व भायाणी पउमसिरिचरिउ दूसरी सन्धि कड़वक ११ से २१

मसहूल सेल कुंतसर भिल्ला, गय वर हय करवालहि छिल्ला।
वर वर चाहू पडिय दो खंडिय वर तरवरि मकर कहि मंडिय॥
बिवहि तडातडा, मुच्छिहि भडा भडा।
कुंत घाय धारिया, धम्महि बिधारिया।
जीव आस मेल्लिया, कायरा विचल्लिया।

• • •

जाम हुल्ल हुक्कही सीहणाद बुक्कहि। ८९-१०

अर्थात् रथिक रथ की ओर गज गज की ओर दौड़ा। धानुष्क धानुष्क की ओर भागा। घोड़ा घोड़े से, निरस्त्र निरस्त्र से और असि निर्भय हो कवच से जा भिड़ी। चारों ओर ओर से बज रहे हैं घोड़े हिनहिना रहे हैं और हाथी चिंघाड़ते हुए दिखाई दे रहे हैं।

'मारो मारो सैनिक चिल्ला रहे हैं? पद दलित भूमि आकाश में फैल रही है। शीघ्र ही पिशाच घिर आते हैं। शृगाल भयंकर शब्द कर रहे हैं। रक्तरंजित योद्धा इतस्ततः घूम रहे हैं चरण भिन्न हो रहे हैं हाथी और घोड़े तलवारों से छिन्न हो रहे हैं राजा छिन्न विभक्त हो गिर रहे हैं।

योद्धा बिद्ध हो रहे हैं भट मूर्छित हो रहे हैं, कोई भालों के प्रहार से विदीर्ण हो रहे हैं कोई खड्ग से छिन्न भिन्न हो रहे हैं जीवन की आशा को छोड़ कायर भाग रहे हैं"।

इसी परम्परा में श्रीधर द्वारा रणमल्ल के युद्ध कौशल का चित्र देखिये —
गोरीदल आइवि दिट्ठ बहुविहि अंकि मंकि गिरिमझारि पडियं।
हुलहुलि हुलकन्तउ हुं हुं हय हुंकारवि हुयमरि चडिय।
धड़हड़तउ भंजि कमधज्ज धराहसि खंजि धयधावण धू स धरइ।
दरदरइ पथ्थर देस सरिसु रणि रामायण रणमल्ल करइ॥१९८॥
रोमविषम रणधिर राखि डरावण रहि रहि बल बोलन्त बलि।
पषखर वर पुट्ठि पवंगम पंठ्ठिय पुहुतउ पट्ठ पवसाहवलि।
असि मारवि कम्ब रणावरि रमकिय जावइ घाउ महा मयणा।
रणमल रणगि मांहि मिलन्ता मेच्छायण मू पत्र भिडिया॥१९१॥

ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं किन्तु स्थानाभाव से ऐसा नहीं किया जा रहा है।

डिंगल में राम काव्य की विशेष रचना नहीं हुई है। प्रबन्धकाव्य के रूप में माधोदास दधवाड़िया कृत रामरासो उपलब्ध होता है। छन्दों के शास्त्रीय ग्रन्थ के रूप में रघुनाथरूपक गीतारो प्रसिद्ध रचना है। किसना जी आढ़ा का रघुवरजस-प्रकाश प्रबन्धकाव्य न होकर मात्र राम सम्बन्धी कुछ मुक्तकों के सहारे रचा हुआ लक्षण ग्रन्थ है। इन सब रचनाओं पर अपभ्रंश के राम-साहित्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ा

है। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि डिंगल के रामकाव्य रचयिता हिन्दू थे—जैन रामकथा से प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरा यह कि वे भक्त भी थे। कहने का तो अपभ्रंश के जैन कवियों ने 'पउम चरिउ' और 'हरिवंश पुराण' लिखे जिनमें क्रमशः राम और कृष्ण का चरित गाया गया है। लेकिन उनमें राम और कृष्ण ईश्वर के अवतार नहीं है। उनके यहाँ यह हो भी कैसे सकता था? इस विचार धारा का उद्गम सुदूर अतीत में ढूंढ निकालने वालों के लिए तो अवतारवाद की भावना वेद से ही चली आ रही है लेकिन वेद से उसका आरम्भ होना एक बात है और मध्ययुग में उसका अत्यधिक व्यापक हो जाना दूसरी बात है। अवतारवाद का आरम्भ चाहे जितना पहले हुआ हो लेकिन अवतार में लोक जीवन का सामान्य विश्वास जितना मध्ययुग में प्रचलित हुआ उतना पहले कभी न था। अवतारवाद की यह व्यापकता निश्चित रूप से भक्ति आन्दोलन के द्वारा मिली। संत और भक्त कवियों का यह सामान्य विश्वास था। पिंड में ब्रह्माण्ड को देखना ब्रह्मरंध्र में अन हद नाद को सुनना पद्मावती में अलौकिक सत्ता का आभास पाना, दशरथ सुत राम में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के दर्शन करना और वसुदेव सुत कृष्ण में लीलाधाम परमात्मा को निहारना यह सब प्रकारान्तर से उसी अवतारवादी भावना के ही विविध पक्ष हैं। विविध धर्मों और सम्प्रदायों के अनुरूप भक्तिभुग की एक ही भावना ने अनेक रूप धारण कर लिया था।

अपभ्रंश काव्य में इस भावना के दर्शन जो नहीं होते तो उसका यह कारण नहीं है कि उसके अधिकांश कवि जैन थे। भक्ति भावना केवल हिन्दू धर्म की अपनी सम्पत्ति नहीं है। यह एक युग विशेष की लोकव्यापी सामान्य प्रेरणाशक्ति है जो हिन्दू धर्म के साथ ही इस्लाम में भी दिखाई पड़ती है। धर्म इसका क्षेत्र है बीज नहीं आकार है, वस्तु नहीं, देह है आत्मा नहीं। भक्ति का बीज और उसकी आत्मा सामान्य लोक जीवन की मुक्तिकामना में है। यह एक विशेष सामाजिक परिस्थिति की उपज है।

अपभ्रंश के उत्थान युग में यह परिस्थिति न थी। इसीलिए उसमें यह भाव भी उत्पन्न न हो सका।[1] यही कारण है कि डिंगल रामकाव्य पर अपभ्रंश या प्राकृत साहित्य का कोई प्रभाव नहीं है। वह पौराणिक हिन्दू परम्परा को लेकर चला है।

राजस्थानी के दो प्रेमाख्यानक काव्य उल्लेखनीय हैं। एक है ढोलामारूरो दूहा और दूसरा है माधवानल कामकन्दला। दोनों की रचना मारवाड़ी या राजस्थानी के बोलचाल के रूप को लेकर हुई है। दोनों में अनेक लोक तत्व मिल जाते हैं।[2] इन दोनों कृतियों पर भी अपभ्रंश के कथासाहित्य का प्रभाव परिलक्षित होता है। इन रचनाओं से बिल्कुल जुदा किस्म की रचना बेलि क्रिसन रुकमणीरी है। यह शास्त्रीय परम्परा अधिक निकट है और संस्कृत से भी काफी प्रभावित है। दूसरी तरफ ढोला

१ नामवरसिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग-पृ० २९४ ९५

२ विवरण के लिए देखिए—मरदा—वर्ष ४ अंक २, इसी लेखक का लेख

माकरी भउपई, दूहा या माधवानल कामकन्दला काव्य लोक परम्परा के निकट हैं। शिष्ट और ग्राम्य रूढ़ और नवीन काव्य की दो विरोधी प्रवृत्तियां अपभ्रंश साहित्य में भी मिलती हैं। लेकिन विद्वानों ने इस भेद को अपने अपने ढंग से समझा है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे लक्षित करते हुए कहा है कि 'हिन्दी में दो प्रकार की भिन्न जातियों की दो चीजें अपभ्रंश से विकसित हुई हैं। (१) पश्चिमी अपभ्रंश से राज स्तुति ऐहिकता मूलक शृंगारी काव्य नीति विषयक फुटकल रचनाएं और लोक प्रचलित कथानक। और (२) पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुनिया सन्तों की शास्त्र निरपेक्ष उग्र विचारधारा, झाड़-फटकार, अक्खड़पना, सहज-शून्य की साधना योग पद्धति और भक्तिमूलक रचनाएं।'[1] इनमें से उन्होंने पहली प्रवृत्ति को रूढ़िवादी तथा दूसरी को रूढ़ि-विरोधी कहा है। परन्तु तथ्य इस स्थापना के विपरीत जाते हैं। रूढ़ियों का विरोध करने में पश्चिमी प्रदेशों के अपभ्रंश कवि जोइन्दु और रामसिंह उतने ही तत्पर हैं जितने पूर्वी प्रदेशों के सरहपा और कान्हपा। इसके अतिरिक्त पश्चिमी अपभ्रंश में रचना करने वाले मलखेड के स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे प्रबन्ध कवियों को रूढ़ियों का पोषक किसी भी मामले में नहीं माना जा सकता। इन दोनों महाकवियों की रचनाएं धर्मविशेष के विचारों से प्रभावित अवश्य हैं किन्तु उनके चरित काव्यों में अनेक प्रकार की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक रूढ़ियों का विरोध किया गया। रामकथा सम्बन्धी ब्राह्मणधर्म द्वारा प्रवर्तित रूढ़ियों का साहसपूर्वक खण्डन स्वयंभू और पुष्पदन्त ने ही किया। राजदरबारों के अशुभ प्रभाव का खण्डन भी उन्होंने ही किया। भौतिक सुख विलास के आसक्तिपूर्ण जीवन की असारता बतलाकर एक उच्च तर आध्यात्मिक आचरण की प्रेरणा देने में उनके काव्य अग्रणी रहे हैं। पुरुष के अत्याचारों के विरुद्ध नारी के आत्मगौरव को उस युग में स्वयंभू ने जितने साहस के साथ प्रतिष्ठित किया उतना साहस और किसी ने नहीं दिखाया। इस हद तक रूढ़ियों का विरोध पश्चिमी और पूर्वी दोनों ही अपभ्रंश के कवियों ने किया। इसके अतिरिक्त जहां तक उस युग निर्मित आदर्शों और मर्यादाओं के पालन का प्रश्न है उसमें भी जैन और सिद्ध दोनों कवि एक से दिखाई पड़ते हैं। कर्म-फल का बन्धन तोड़ने में इनमें से कोई सफल न हो सका था। यह अवश्य है कि जैन-मत में कर्मों का बन्धन अत्यन्त उग्र माना जाता था। पूर्व जन्म के कर्मों के कारण नाना जन्म-जन्मान्तरों में भटकने की कथाएं किसी न किसी रूप में स्वयंभू पुष्पदन्त धनपाल कनकामर आदि सभी जैन कवियों के चरित काव्यों में मिलती हैं। जोइन्दु और रामसिंह जैसे स्वतंत्र चेता जैन-मुनि भी कर्म सिद्धान्त से मुक्त नहीं हैं। उधर सरहपा और कान्हपा जैसे उग्र सिद्ध भी इस संस्कार से ऊपर उठने में असमर्थ दिखाई पड़ते हैं।

इस प्रकार मूल चेतना की दृष्टि से पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंश की रचनाओं में कोई आधारभूत अन्तर नहीं दिखाई पड़ता।[2]

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृ० २६

२ नामवरसिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—पृ० २६८-७०

कुछ भी हो, हमारे इन प्रेमाख्यानों में व्यक्त भावनाओं की तीव्रता, सादगी और सरलता उन्हें अत्यन्त प्रभावमय बना देती है। इन रचनाओं के मुक्तक पदों पर आगे चल कर हम विस्तृत विचार करेंगे। अस्तु —

लोकभाषा राजस्थानी में रचित तत्कालीन जैन प्रबन्ध काव्यों में जैन महापुरुषों और धार्मिक गुरुओं की जीवनी ही प्रधान रूप से निबद्ध है। उनमें भरतेश्वर बाहुबलि रास, सुभद्रा रास स्थूलिभद्र रास, चन्दनबाला रास शालिभद्र रास, पंच पांडव फाग जम्बूसामि रासा मयणरेहारासा, कछि महामुनिका रासा नेमिनाथ रास, जिनपद्म सूरि बर्जना रास आदि प्रधान हैं। ये सभी लघु प्रबन्ध या लघु चरित काव्य हैं। श्री अगरचन्द नाहटा के निबन्ध 'वीरगाथा काल का जैन भाषा साहित्य' और श्री कामताप्रसाद जैन के 'हिन्दी जैन साहित्य के संक्षिप्त इतिहास' में इन ग्रंथों की सूचना और परिचय दिया गया है और प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह और भारतीय विद्या में उनमें से कुछ ग्रंथ पूरे प्रकाशित भी हुए हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि उस काल में लोकभाषा में लम्बे पौराणिक धार्मिक काव्य लिखने की प्रथा नहीं आरम्भ हुई थी। ये सभी बीस से लेकर सौ-सवा सौ पद्यों के भीतर के काव्य हैं। अतः प्रबन्ध काव्य के सभी गुणों को उनमें खोजना व्यर्थ है। हिन्दी साहित्य के आदि काल में रचे जाने के कारण ये काव्य परवर्ती प्रौढ़ एवं बृहत् प्रबन्ध काव्यों के अग्रदूत के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और यहाँ वे इसी कारण विवेच्य भी समझे गये।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि लोकभाषा-साहित्य में प्रबंध काव्यों की अधिकता नहीं है। जो हैं भी वे प्रायः लघु प्रबन्ध काव्य हैं। उनमें ऐतिहासिक पौराणिक और रोमांचक इन तीनों शैलियों के काव्य हैं। वे सभी कथानक की दृष्टि से प्रारम्भिक अवस्था में हैं अर्थात् उनमें प्रबन्ध कौशल का अभाव है। इसका कारण यह था कि कभी पुण्य लाभ और धर्म प्रचार कभी जीविकोपार्जन और यश-लाभ और कभी कोरा मनोरंजन उन कवियों का उद्देश्य होता था। अलंकृत पद-योजना भाव-सौन्दर्य वर्णन—सौन्दर्य और प्रबन्धकौशल द्वारा अपने काव्य को कल्पान्तर स्थायी बनाने की ओर उनका ध्यान कम था। उनके प्रबन्ध काव्यों में कथानक का क्रमिक विकास नहीं दिखाई पड़ता अर्थात् कथानक में आदि मध्य और अन्त की सतत्तात्य संतुलित योजना कम हुई है। प्रबन्धकौशल की कमी के कारण कथानक का कोई अंश अति संक्षिप्त हो गया है तो कोई अति अपेक्षित। वस्तुतः प्रबन्ध-पटुता अलंकृत प्रबन्ध काव्यों में ही अधिक होती है। इस काल के काव्य या तो विकासशील प्रेमाख्यानक और वीरकाव्य हैं या प्रशस्तिमूलक वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्य या इतिवृत्तात्मक पौराणिक लघु काव्य अथवा भावात्मक लघु प्रबन्ध काव्य। अतः उनमें इन काव्य शैलियों के पूर्ववर्ती प्रबन्ध काव्यों की बहुत सी रूढ़ियाँ अपनाई गई हैं। परन्तु साथ ही उनमें अनेक नई काव्यरूढ़ियाँ भी आविष्कृत की गई हैं। उदाहरणार्थ इस काल में लोकभाषा परवर्ती अपभ्रंश राजस्थानी गुजराती, आदि में निम्नलिखित काव्य-रूपों और उनके नामों का प्रारम्भ हुआ —

१—लोकप्रचलित छन्दों के नाम पर आधारित— चउपई, दूहा, आदि जैसे नेमिनाथ चउपई ढोलामारू रा दूहा।

२—लोकप्रचलित नृत्यगीतों के नाम पर आधारित— चर्चरी (चांचर), रासक या रास आदि।

३—लोकप्रचलित ऋतुकाव्य—बारहमासा, फाग धमाल, चौमासा, आदि।

४—स्तुति और मंगल वाचक—स्तुति, मंगल, विनती या विनय आदि।

५—प्रशस्ति व्यंजक नाम—जैसे विजय चन्द्रिका, पताका लता विलास, विनोद आदि।

६—संख्यावाचक नाम—शतक बीसी पच्चीसी बत्तीसी चालीसा, आदि।

७—बारहखड़ी या वर्णमाला काव्य—कक्क (शालिभद्र कक्क) मातृका (दूहा—मातृका) आदि।

इन काव्य रूपों का डिंगल प्रबंधकाव्य के रूप-विकास में महत्वपूर्ण योग रहा है क्योंकि इनकी शैलियों और काव्य रूढ़ियों को परवर्ती काल के प्रबन्ध काव्यों में बहुत कुछ अपना लिया गया।[1]

संस्कृत परम्परा से विपरीत अपभ्रंश रचनाओं में अति प्राकृत प्रसंगों की भरमार रहती है। कथानक के संघटन में अलौकिक और अतिप्राकृत शक्तियों तथा अतिमानव कार्यों का बहुत सहारा लिया गया है। यद्यपि ये तत्व पौराणिक काव्यों मे भी हैं पर अपभ्रंश और परवर्ती डिंगल रचनाओं में ये रूढ़ से हो गये हैं। अपभ्रंश कृतियों मे देवता राक्षस भूत यक्ष विद्याधर नाग आदि मानव के सहायक और विरोधी दोनों रूपों में दीख पड़ते हैं। मुनि का शाप या वरदान किसी गुप्त विद्या की सहायता से दूर देशों में पहुंच जाना शत्रु पक्ष को परास्त करना समूची सेना को युद्ध में बात की बात में परास्त कर देना आदि अति मानव कार्यों की योजना प्रायः मिलती है। जब आगे चलकर जैनों ने देश्य भाषा में राम चरित आदि रचनायें लिखनी शुरू की, तो यथावसर ये विशेषतायें भी उनकी रचनाओं में आ गई। लोक भाषा मारवाड़ी या राजस्थानी डिंगल का स्वरूप ग्रहण कर उठी तो उसकी रचनाओं में भी ये विशेषताए थोड़ी बहुत प्रवेश पाने लगी। कालांतर में लिखे चरितकाव्यों या ऐतिहासिक रचनाओं में भी ऐसे प्रसंग बहुतायत से आने लगे। रचनाओं के आकार के साथ ही ऐसी रूढ़ियों तथा कथांतर प्रसंगों की तादाद बढ़ने लगी। हजारी प्रसाद जी ने इस विषय में विस्तार पूर्वक चर्चा करते हुए कहा है कि ऐतिहासिक चरित का लेखक संभावनाओं पर अधिक बल देता है। संभावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकाल से व्यवहृत होते आये हैं जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक रूढ़ि में बदल गये हैं। इस

---

१ शंभुनाथसिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० २१०–२११

विषय में ऐतिहासिक और किंवदन्ती कथाओं में विशेष भेद नहीं किया गया। केवल इसी बात का ध्यान रखा गया है कि संभावना क्या है। चित्तौर के राजा से सिंहल देश की राजपुत्री का विवाह हुआ था या नहीं, इस ऐतिहासिक तथ्य से कुछ लेना देना नहीं है हुआ हो तो बहुत अच्छी बात है न हुआ हो तो होने की संभावना तो है ही। राजा से राजकुमारी का विवाह नहीं होगा तो किससे होगा? शुक नामक पक्षी थोड़ा-बहुत मानव वाणी का अनुकरण कर लेता है और भी तो कर सकता था। जितनी शक्ति उसे प्राप्त है उससे अधिक की सम्भावना तो है ही। ऋषि के वरदान से वह शक्ति बढ़ सकती है, ऋषि के शाप से पतित गंधर्व शुक हो गया हो तो पूर्वजन्म के संस्कार उसको कथामर्मज्ञ बना सकते है। जब ये सम्भावनायें है तो क्यों न उसे सकल शास्त्र विशारद सिद्ध कर दिया जाय। इस प्रकार सम्भावनातत्त्व पर जोर देने के कारण कुछ कथानक-रूढ़ियां इस देश में चल पड़ी हैं। कुछ रूढ़ियां ये हैं —

(१) कहानी कहनेवाला सुग्गा।

(२) १-स्वप्न में प्रिया का दर्शन।
   २-चित्र में देख कर किसी पर मोहित हो जाना।
   ३-भिक्षुकों या बन्दियों के मुख से प्रीति-वर्णन सुन कर प्रेमासक्त होना इत्यादि।

(३) मुनि का शाप।

(४) रूप परिवर्तन।

(५) लिंग परिवर्तन।

(६) परकाय प्रवेश।

(७) आकाशवाणी।

(८) अभिज्ञान या सहिदानी।

(९) परिचारिका का राजा से प्रेम और अन्त में उसका राजकन्या और रानी की बहन के रूप में अभिज्ञान।

(१०) नायक का औदार्य।

(११) षड्ऋतु और बारहमासा के माध्यम से विरह वेदना।

(१२) हंस-कपोत आदि से संदेश भेजना।

(१३) घोड़े का आखेट के समय निर्जन वन में पहुंच जाना मार्ग भूलना मानसरोवर पर किसी सुन्दरी स्त्री या उसकी मूर्ति का दिखाई देना फिर प्रेम और प्रयत्न।

(१४) विजन वन में सुन्दरियों से साक्षात्कार।

(१५) युद्ध करके शत्रु से या मत्त हाथी के आक्रमण से, या कापालिक की बलिवेदी से सुन्दरी स्त्री का उद्धार और प्रेम।

(१६) गणिका द्वारा दरिद्र नायक का स्वीकार और गणिका-माता का तिरस्कार।

(१७) मरच्छ और पक्ष आदि के द्वारा प्रिय-युगलों का स्थानान्तरकरण।

(१८) पिपासा और जल की खोज में जाते समय मधुरदर्शन और प्रिया-वियोग।

(१९) ऐसे शहर का मिल जाना जो उजाड़ हो गया हो।

(२) प्रिया की दोहदकामना की पूर्ति के लिए प्रिय का असाध्यसाधन का संकल्प।

(२१) शत्रु-सम्मानित सरदार को उसकी प्रिया के साथ शरण देना, और फलस्वरूप युद्ध इत्यादि।[1]

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं स्फीत कलेवरवाली रचनाओं में कथानक रूढ़ियां अधिक संख्या में मिलती हैं। पृथ्वीराज रासो में अनेक कथानक रूढ़ियों का समावेश है।[2] पिंगल रचना हम्मीररासो तक इन रूढ़ियों का बोलबाला चला आया है।[3] डिंगल रचनायें भी इनसे युक्त हैं। पद्मनाभ के कान्हड़दे प्रबन्ध में अलाउद्दीन की पुत्री फिरोजा के कान्हड़देव के प्रति प्रेम को शाश्वत सिद्ध करने के लिए कवि ने लोककथाओं से पूर्वभव सम्बन्ध का तत्व उठाया है और फिरोजा के प्रेम को जन्म जन्मान्तर से माना है।[4] भीमकवि द्वारा रचित सदयवत्स चरित तो एक पद्यमय लोक-कथा ही है।[5] उज्जयिनी के राजा प्रभुवत्स और शालिवाहन की राजकुमारी सावलिंगा की इस प्रेम-कहानी को कवि ने अपूर्व कौशल से साकार कर दिया है। लोक-मानस में क्रीड़ाशील इस उपाख्यान को साहित्य की कोटि में रख दिया है। जाँच करने से पता चला कि यह कथानक काफी पुराना है। जैसे सदयवत्स की अवस्थिति का समय निश्चित नहीं। पर संस्कृत कथानक में जैनाचार्य कालक के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है एवं कथा में उज्जयिनि हरसिद्ध माता प्रतिष्ठान नगर व शालीवाहन राजा बावन वीर खापरा चोर आदि का उल्लेख है। तदनुसार विक्रम के समकालीन सिद्ध होता है, अतः विक्रम कथाओं जितनी ही इस कथा की प्राचीनता समझी जा सकती है।[6] प्रो० मजमुदार की इस मान्यता में आश्चर्य की कोई बात नहीं। यह भारतीय साहित्य की विशेषता है। विंटरनित्ज ने रामायण और महाभारत के काल पर विचार

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आदिकाल-पृ ७४-७५

२ विवरण के लिए देखिए पृथ्वीराजरासो में कथानक रूढ़ियां—व्रजविलास श्रीवास्तव।

३ हम्मीररासो के अलौकिक तत्वों व कथानक रूढ़ियों के लिए देखिए — लेखक का निबन्ध हम्मीररासो में लोकतत्व'-राष्ट्रभाषा वर्ष ४ अंक १

४ गोवर्द्धन शर्मा राजस्थानी कवि खण्ड १-पृ १ २

५ वही-पृ० ५५

६ म०र० मजुमदार गुजराती साहित्यनां स्वरूपो

अपभ्रंश —

गा यह रावणु आईयउ, दहमुहु इक्कु सरीरु ।
जणणि वियम्भि चिन्तवई कवणु पियावउ खीरु ।

राजस्थानी —

राजा रावण जलमियो, दसमुख एक सरीर ।
जननी ने सांसो भयो, किण मुख घालू खीर ॥

राजस्थान स्वयं दोहों का देश है। दोहा यहाँ के छन्दों का राजा है। दोहा निर्माता कवियों की राजस्थानी साहित्य के इतिहास में बड़ी भारी संख्या है। दोहे लिखे भी गए हैं सभी विषयों पर। बहुत से कवि तो सिर्फ दोहा कवि हैं। इसी तरह ग्रन्थ भी बड़ी भारी संख्या में दोहा ग्रन्थ ही हैं। राजस्थानी काव्य की यह दोहा परम्परा अति प्राचीन है। निश्चय ही ऊपर लिखे ग्रन्थों के संकलित दोहे दसवीं शताब्दी के आसपास के तो अवश्य ही हैं। आज भी राजस्थानी कवियों में दोहे लिखने वालों की एक बड़ी संख्या है। प्राचीन राजस्थानी दोहे की तरह आधुनिक युग में भी यहां लोक प्रचलित दोहे इतने हैं कि उनकी संख्या का अन्दाज लगाना भी कठिन है। ऐसा कोई प्रसंग नहीं कि जिसका कोई उपयुक्त दोहा कहावत के रूप में तैयार न हो। सदा से यह भूखण्ड लोकप्रचलित दोहों की लीला भूमि रहा है। प्राचीन काल में भी था और अब भी है।

इसके अतिरिक्त इन दोहों में बहुत से ऐसे भी हैं जिनकी छाया राजस्थान के लोक प्रचलित दोहों में चली आती है। प्राचीन और अर्वाचीन का यह भाव साम्य भी देखने लायक है।

मएउ सु केसरी पिअहु जलु निच्चिन्तइं हरिणाइं ।
जसु केरएं हुंकारडएं मुहहुं पडन्ति तृणाइं ॥
(जिण मारग के हरि गयो रज लागी तिरणांह ।
ते खड ऊभा सूखसी नहिं चरसी हिरणांह ॥)
जे महु दिण्णा दिअहडा दइएं पवसन्तेण ।
ताण गणन्तिए अंगुलिउ जज्जरियाउ नहेण ॥
(पाऊ आऊ कर गया कर गया कोल अनेक ।
गिणता गिणता घस गई, आंगळियारी रेख ॥)

—मीरा

महु कन्त हो बुइठदि्ठअहो कउ झुम्पडा वलन्ति ।
अह रिउरुहिरे उल्हवई अह अप्पणे न भन्ति ॥
(मीरां मीरां ठाकुरां भूमर किया मजाह ।
माईला देसी झूमडा, जो घर होसी माह ॥)

—ईसरदास

जइ पुच्छह घर वड्डाइं तो वड्डा घर ओई।
विहलिय जण अब्भुद्धरणु कन्तु कुडीरइ जोई ॥
(टोटै सरकां भीतड़ां भावै ऊपर घास।
वारीजै मह धू पड़ा, जमपतियां आवास ॥)

—सूर्यमल

चुपहि न संपइ किंति पर फल लिहिआ भुञ्जन्ति।
केसरि लहइ बोड्डिअवि गय लक्खेहिं घेप्पन्ति ॥
(एकरइ वन्न वसंतड़ा एवड़ अन्तर काँई।
सिंह कवडी ना लहर गयवर लक्ख बिकाई ॥)

—किसनदास

अम्मणु विसूरइ सामियहो अम्मा भक पिक्खेवि।
हउ कि न जुत्तउ दुहु दिसिहिं खण्डइ दोण्णि करेवि ॥
(थणु न हु मनली को ठियो टै सांकड़ी विचार।
काटै जीम किमोहड़ा बंध न सासें मार।।)

—बांकीदास

इन दोहों में राजस्थानी अनुभूतियां व्याप्त हैं। इन अनुभूतियों की परम्परा ने इनको राजस्थानी धारा प्रवाह के साथ जोड़ रखा है। इनको पढ़ते ही पहली धारणा यही होती है कि यह कविता राजस्थानी है। इसके साथ ही इनमें राजस्थान का वातावरण है। राजस्थानी वातावरण की रचना राजस्थान के हृदय पर तत्काल अपना आधिपत्य जमा लेती है। राजस्थान के रीति-रिवाज राजस्थान की प्रकृति राजस्थान की अनुभूतियां सबने मिलकर इन दोहों को राजस्थानी साहित्य के इतिहास का एक उज्ज्वल अध्याय बना दिया है।

ढोल्ला मइं तुहुं वारिया, मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तड़ी दडवड होइ विहाणु ॥

(ढोला ! मैं तुमको मना करती हूं। दीर्घ मान मत कर। नींद में रात चली जाएगी और झटपट सवेरा हो जायगा।)

इस दोहे का ढोला राजस्थानी काव्य का प्राण है। पूगलगढ़ की पद्मिनी मरवण और नरवरगढ़ का राजकुमार ढोला राजस्थानी साहित्य में अत्यधिक व्याप्त है। राधा-कृष्ण के समान इस जोड़ी ने राजस्थान में नायक-नायिका का स्थान ले लिया है। यहां अब भी ढोले का अर्थ नायक समझा जाता है मरवण का मतलब नायिका है इसके अतिरिक्त अन्य भी कई प्राचीन दोहों में नायक के रूप में ढोला ही लिया गया है।

ते मुग्गड़ा हराविआ जे परिविट्ठा ताहं।
अवरोप्परु जोअन्ताहं सामिउ गंजिउ जाहं ॥

(उन लोगों को परोसे गए मूंग व्यर्थ गये जिनके ऊपर नीचे देखते हुए स्वामी नष्ट हो गया।)

राजस्थान मे मूंग चावल परोसना एक मांगलिक प्रथा है। जब जंवाई आता है या बहू आती है तो मूंग चावल परोसे जाते हैं। मूंग चावल बड़े भारी सम्मान की वस्तु है। यह दोहा इस प्रथा की प्राचीनता का परिचायक है।

राणा सव्वे वाणिया जेसुल वड्डउ सेठि।
काहूं वणिजडु मांडीयउ अम्मीणागढ़हेठि॥

(अन्य सब राणा तो छोटे बानिए हैं और जयसिंह बड़ा भारी सेठ है। हमारे गढ़ के नीचे कैसा व्यापार फैलाया है।)

इस दोहे में प्रयुक्त गढ़ और सेठ शब्दों से राजस्थानी जीवन का एक चित्र सा नजरों के सामने खिंच जाता है। राजस्थान सदा से गढ़ों का देश है। यहाँ सेठों की अपार महिमा है। और वाणिज्य की सर्वत्र माया है।

झोणु विसिज्जई पाणिएण अरिखल मेहम गज्जु।
बालिउ गलइ सु झुम्पड़ा गोरी तिम्मइ अज्जु।।

(अरे खल मेघ मत गरज मत। पानी पड़ने से लावण्य विलीन होता है झोपड़ा गलता है और गोरी भीगती है।)

इस दोहे का सु झुम्पड़ा राजस्थान का अपना है। इस शब्द से झोपड़ी या झापड़ा नहीं समझना चाहिए। राजस्थान के गांव-गांव में देखिये, घर-घर झूंपों की शोभा है। झूपा गोलाकृति होता है। और वर्षा धूप, आंधी सबमें परम उपयोगी है।

सा मिपसाइ बकज्जु पिगु सीमा संधिहि वासु।
पैक्खिवी बाहु बलुल्लड़ा धण मेल्लइ नीसासु।।

(स्वामी की कृपा प्रियतम लज्जाशील सीमा संधि में निवास इनके अतिरिक्त प्रियतम बाहुबल से गर्वीला भी इन बातों को देखकर नायिका निःश्वास छोड़ती है।)

इस दोहे का धण शब्द विचारणीय है। अन्य भी कई स्थानों पर इसका प्रयोग हुआ है इसके पीछे एक चित्र है।

प्रियतमा नायिका, कुलवधू सुन्दरी आदि कई शब्दों का भाव इस एक धण शब्द में समाया है। यह शब्द राजस्थानी लोकगीतों का केन्द्र-बिन्दु है।

मुन्ध ।बडल्ला चीरडी पेम्पेसिन गम्मारी।
आसाढि घण गज्जीइ चिक्खिलि होसे वारी।

(हे मुग्ध प्रेम की डोरी ढीली पड़ गई है। गंवार तू नहीं देखता कि आषाढ़ में बादल गर्जने पर धरती फिसलनी हो जायगी।)

नायक अपनी प्रेमिका के पास ऊंट पर सवार होकर आया करता था। जब उसने किसी कारणवश आना बन्द कर दिया तो उसने यह दोहा लिखकर भेजा।

(कथा का मोठी ऊट सवार), और रपटने वाली धरती दोनों ही राजस्थानी जीवन के मार्मिक पहलू हैं।[1]

अभी तक हमने इन प्राचीन अपभ्रंश के दोहों का राजस्थानी वातावरण और डिंगल काव्य के परिपार्श्व में परिचय प्राप्त किया। हम देख चुके हैं कि विषयवस्तु, शैली और अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये अनमुक्त मुक्तक राजस्थानी जनजीवन और डिंगल काव्य के अत्यधिक निकट हैं। ऊपर उद्धरित दोहों में प्रयुक्त शब्दों पर विचार करने से तो साफ जाहिर होता है कि ये डिंगल के अत्यधिक निकट हैं। यथा—

इन दोहों के शब्द भण्डार पर ध्यान देने से इनका राजस्थान से एकात्म निश्चित होता है। इनका शब्द चयन ध्वनि-विचार एवं व्याकरण सभी चीजें राजस्थानी तत्व की ओर निर्देश करती हैं। बहुत समय तक इनकी विशेषताओं को राजस्थानी ने परिलक्षित किया। डिंगल से तो इनकी काफी समरसता है। यहाँ कुछ एक मोटी-मोटी बातों पर विचार किया जाता है।

[१] संदेसड़ओ दीहड़ा देसड़ा, गोरड़ी निहुडी पायक्कड़ा, बलडी, मानड़ा रयडी, माणुसड़ा, मणिअड़ा अंभिअड़ु, हियडा, गोरडी, मुड्डी आदि शब्दों में ड का प्रयोग एक दम राजस्थानी है। राजस्थान में इसका कितना प्रचार है और कहीं नहीं है। राजस्थानी साहित्य के सभी कालों में इसके प्रयोग की प्रचुरता रही है।

[२] दोसु, मेहु धरीऊ, सुहु, रवीऊ, बसु, समसु माणु, बायसु, पुणु, अंतर भयरहत कंतु आदि शब्दों का प्रयोगभी राजस्थानी की अपनी विशेषताओं में से एक है। प्राचीन राजस्थानी की अन्य रचनाओं में भी इसका आत्यधिक प्रयोग है।

[३] मकरि म छोहउ भवमु सुणि मजाउ म हॉलि म रोई म झांख हि म मम्भहु म मैलिल, म पज्जु आदि में म का प्रयोग मना करने के अर्थमें राजस्थानी में अति व्याप्त है।

[४] सय मय तुरय सायर, लोय तारय, पयण आदि में त क, य क द के स्थान पर य का परिवर्तन लिए हुए शब्दों का प्रयोग अब भी डिंगल काव्य में होता है।

[५] महुरा रह, वम्मुह, संकहुम, सिहर, मुह देहु, सवाहु, दुल्लह, मयर-हर मनोहर, महं महण आदि में घ ख फ भ थ, के स्थान पर ह धारण करने वाले शब्दों का प्रयोग राजस्थानी काव्य में लम्बे समय तक चला आया है।

[६] करंत फिरांत थिरंति करन्ति मुच्चन्ति भमन्ति, मणन्ति होन्ति केहन्ति भणन्ति पढन्ति ममन्ति पिवन्ति आदि प्रयोग डिंगलकाव्य में प्रचुर हैं।

[७] क्लेसु, पावीसु करीसु, परलीसु, देसी, छुट्टिसु, बुझसीसु आदि भविष्यत काल के प्रयोग राजस्थानी हैं। अब भी बोल चाल में इनका 'स' द्वारा प्रवाह के समान चला आता है।

---

१ मनोहर शर्मा प्राचीन राजस्थानी-लोकपत्रिका- वर्ष १, अंक २८

[८] जुम्मन, गज्जु, मज्जि, कज्जु, दग्गु, अग्गु, कट्टर, भग्गिगज्ज, मग्गु पवित्त अज्जु, भग्गा, अप्पाणु आदि का द्वित्व राजस्थानी भाषा की एक विशेषता है। वीर काव्य में इससे बड़ा ओज पैदा होता है।

[९] प्रसिद्ध अमर, पवाह पहु पेम्मु पम्मण पमाणह पयोरेहि आदि में जो र का लोप है यह भी राजस्थानी का विशेष लक्षण है।

[१०] सरस्स, बहस्स, अलइ, निरामइ भावइ पच्छइ आदिमें अइ का प्रयोग राजस्थानी में मध्यकाल तक चला आया है।

[११] कण्हु लउ चुअइ, हरमडउ, रमउडे, सेसहूउ, दुमउउ, का अउ भी राजस्थानी में मध्यकाल तक चला आया है।

[१२] चिन्तवइ धीरइ, माराहर पसरह भावइ, विसूरइ, पभटठइ पसरइ आदि का इ राजस्थानी में मध्यकाल तक चला आया है।

[१३] हुअउ, आणउ आदिअउ पियाअउ, उअउ, वियउ परिअउ, गिमिअउ, आदि का अउ राजस्थानी भूतकाल का लक्षण है।

[१४] सिरि, महसायरि, हणिय कमलि विरहग्गि परि, उरि, आदि में जो अधिकरण का इ है यह प्राचीन राजस्थानी का प्रचुर प्रयोग है।

[१५] मुणालसइ, पइसइ, पसरूवइ चरइ, महासर, सणइ मालइ आदि में ति के स्थान पर इ का प्रयोग डिंगल में प्रचुर है।

[१६] नारायणह, बलि बंभणह कन्तह पियह मुत्ताह जिनवरह छियह तथा रामह यामह, सवणाह तव अरह, पओहरह मयम्ताह, पयामुमह, आदि का ह प्राचीन राजस्थानी की अपनी विशेषता है।

[१७] वलि [फिर] इक्कम [एक ही] करणउम्मु, [करणोत] साटो [लिए] रेसि [लिए] विहूणह [बिना] बीजइ [बीजो] आदि राजस्थानी के विशिष्ट प्रयोग हैं।

[१८] पसाउ [प्रसाद] विसाउ [विषाद] उज्जोअ [उद्योत] रहिअ [रहित] सुरअ [सुरत] जीविउ [जीवित] आदि राजस्थानी प्रयोग हैं।

[१९] भूरि [भूरणो] कम्पिअइ [कांपणी] जोइ [जोणी] हिंडइ [हांडणी] माणिवा [माणणी] मण्डीअउ [मांडणी] अप्पमणु [आपणो] खसिज्जइ [खसणे] आघट्टइ [आवटणो] आदि क्रियापद राजस्थानी के जन साधारण में प्रचलित हैं।

[२०] कुड्ड [कोड] चूरत्वउ [चूरमो] तिसहे [तिस] हू मरहि [हु मर] पहिउ [पही] गोरी। गोरी वाडी। [वाडी] रुक्ख [रूंख] [आम]। आम वुहार्ई आदि संज्ञाएं राजस्थान में लोक प्रचलित हैं।

[२१] अम्मीणा, मरट्ठ भडभड मग्गी सही, सुहम्मणी, बबीहा महुमहण आदि शब्द डिंगल को बड़े प्रिय हैं।

इन दोहों में प्रवाहित विचारधारा राजस्थानी से एकात्म है, जो प्राय राजस्थानी काव्य में समाया है नहीं इन दोहों को सजीव किए हुए हैं। राजस्थानी साहित्य के प्रकाश का आदि काल इनमें स्पष्ट है। राजस्थानी काव्य का अर्थ है वीर काव्य। उसमें शौर्य, त्याग ओज बलिदान, स्वाभिमान, स्वामीभक्ति, दीनोद्धार, आदि आदि गुणों का भण्डार है। पुरुषों के समान ही महिलाओं की वीरता का वर्णन है। वहाँ वीर से वीरपत्नि बढ़ कर नहीं। ईसरदास, बांकीदास सूरजमल, आदि कवियों ने वीर पत्नि का जो विशद वर्णन किया है वह डिंगल कवि के लिए ही उपयुक्त है। जौहर की सतियों के मरण को महोत्सव के रूप में चित्रित करके राजस्थानी कवि अमर हो गये हैं। इन्हीं वीर बालाओं का उज्ज्वल रूप इन दोहों में देखिए जो राजस्थानी चित्रों के साथ एक रंग है। राजस्थानी काव्य में एक ही धारा ऐसी है, जो आदि से अंत तक एक ही वेग से प्रवाहित है। इसी वेग ने आर्यजाति आर्यधर्म एवं आर्य संस्कृति को विलीन होने से बचाया है। इन प्राचीन दोहों में वीर पत्नि का ओज स्थान-स्थान पर वर्णित है। राजस्थानी महिलाओं के लिए वीर पत्नी होना सबसे आनन्द की बात है। पति का भयंकर युद्ध में जूझ पड़ना आनन्द है, लड़ते लड़ते मारा जाना उसके लिए त्योहार है वह कायर की पत्नी कहलाकर सखियों में हँसी का पात्र बनना नहीं चाहती। यह उसके लिए सबसे बड़ा अपमान है।

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घर एन्तु॥

बहिन अच्छा हुआ मेरा पति युद्ध में मारा गया यदि वह भाग कर घर आ जाता तो मुझे सखियों में लज्जित होना पड़ता।

इसी भावना को सूरजमल के शब्दों में देखिये—

सहणी सबरी हूं सखी, दो उर उलटी दाह।
दूध लजाणो पूत सम, बलय लजाणो नाह॥

[हे सखी! और सब बातें मुझे सहन हो सकती हैं किन्तु यदि प्राणनाथ मेरे वलय अर्थात चूड़ियों को लजा दें और पुत्र मेरे दूध को—तो ये दोनों बातें मेरे लिए समान रूप से दाहकारी एवं हृदय उलट देने वाली हैं— असह्य हैं।

हेमचन्द्राचार्य के दिये एक अन्य उदाहरण को देखिये[1] —

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण।
अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारि अडेण॥

[अर्थात हे सखी! यदि शत्रु भागे हैं तो मेरे प्रिय से और यदि हमारे लोग भागे हैं तो उसके मारे जाने से।] इसी भाव को डिंगल कवि ने अधिक चमत्कारपूर्ण ढंग से इस प्रकार से कहा है[2] —

---

१ नामवर सिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग पृ० १४१ से
२ दहल गीड़ कालिया वीरसतसई पृ० १०

[८] जुम्मन, मग्गु, मज्जि, कज्जु रज्जु, अग्ग वड्डउ, मज्मिज्ज, मग्गु, पविस वज्जु, भग्गा, अप्पाणु आदि का द्वित राजस्थानी भाषा की एक विशेषता है। वीर काव्य में इससे बड़ा ओज पैदा होता है।

[९] प्रसिद्ध, भमर पवाह, पहु पेम्मु पम्मण, पयामह पयोरेहि आदि में जो र का लोप है यह भी राजस्थानी का विशेष लक्षण है।

[१०] घरस्स, वइस्स, भराइ, निरामइ भावइ, पच्छइ आदिमें अइ का प्रयोग राजस्थानी में मध्यकाल तक चला आया है।

[११] कण्हु लउ, भुवउ, हरगइउ, रमइडे मेरावउ, तुमड़उ, का अउ भी राजस्थानी में मध्यकाल तक चला आया है।

[१२] बिम्बवइ, बीसरइ, आराहर पसरइ, गावइ, बिसूरइ, पणटठइ, पस्सइ, आदि का इ राजस्थानी में मध्यकाल तक चला आया है।

[१३] हुअउ आणउ, आईयउ पियासउ उठउ, बियड पविडउ, मिलिअउ, आदि का अउ राजस्थानी भूतकाल का लक्षण है।

[१४] सिरि, बहसायरि, सयिय कमलि, विरहुगि, घरि, वरि, आदि में जो अधिकरण का इ है यह प्राचीन राजस्थानी का प्रचुर प्रयोग है।

[१५] मुणालवइ, मइवइ, चमक्कइ चरवइ, महासर सरइ मासइ, आदि में ति के स्थान पर इ का प्रयोग डिंगल में प्रचुर है।

[१६] नारायणह बलि बमनह कन्हह पियह मुस्सह जिणवरह तियह तथा रामह, मामह, सउणाह, तउ भरह पओहरइ नयम्भाह, पयासुवह, आदि का ह प्राचीन राजस्थानी की अपनी विशेषता है।

[१७] वलि [फिर] इक्कव [एक ही] करमउस्सु, [करवोत] छाटो [लिए] देवि [लिए] विहुणइ [बिना] बीजइ [बीजो] आदि राजस्थानी के विशिष्ट प्रयोग हैं।

[१८] पसाउ [प्रसाव] विसाउ [विषाद] उज्जोउ [उद्योत] रहिउ [रहित] सुरउ [सुरत] जीविउ [जीवित] आदि राजस्थानी प्रयोग हैं।

[१९] मूरि [मूरवो] कम्पिअइ [कांपवो] भोइ [भोवो] हिअइ [हांडवो] मांगिवा [मांगवो] माण्डीअउ [मांडवो] अरवमणु [मापवो] कसिज्जइ [कसवे] आपट्टइ [आपटावो] आदि क्रियापद राजस्थानी के जन साधारण में प्रचलित हैं।

[२] कुअउ [कोड] चुक्कइ [चुकवो] ठिसई [ठिस] इ मराहि [इ मर] पहिउ [पही] गोरी। गोरी बाडी। [बाडी] रम्म [रम] [आप]। आप चुहाई आदि संज्ञाए राजस्थान में लोक प्रचलित हैं।

[२१] अम्मीजा मरट्ठ मअभइ मम्मी सड्डी, चुहम्मडी, बपीहा, महुमइण आदि शब्द डिंगल को बड़े प्रिय हैं।

इन दोहों में प्रवाहित विचारधारा राजस्थानी से एकात्म है जो प्राण राजस्थानी काव्य में समाया है, वही इन दोहों को सजीव किए हुए हैं। राजस्थानी साहित्य के प्रवाह का आदि स्रोत इनमें स्पष्ट है। राजस्थानी काव्य का अर्थ है वीर काव्य। उसमें शौर्य, त्याग, ओज, बलिदान, स्वाभिमान स्वामीभक्ति, दीनोद्धार, आदि आदि गुणों का भंडार है। पुरुषों के समान ही महिलाओं की वीरता का वर्णन है। यहाँ वीर से वीरपत्नि बट कर नहीं। ईसरदास बांकीदास सूरजमल आदि कवियों ने वीर पत्नि का जो विशद वर्णन किया है वह डिंगल कवि के लिए ही उपयुक्त है। जौहर की सतियों के मरण को महोत्सव के रूप में चित्रित करके राजस्थानी कवि अमर हो गये हैं। इन्हीं वीर बालाओं का उज्ज्वल रूप इन दोहों में देखिए जो राजस्थानी चित्रों के साथ एक रंग हैं। राजस्थानी काव्य में एक ही धारा ऐसी है जो आदि से अंत तक एक ही वेग से प्रवाहित है। इसी वेग ने आर्यजाति आर्यधर्म एवं आर्य संस्कृति को विलीन होने से बचाया है। इन प्राचीन दोहों में वीर पत्नि का ओज त्याग-त्याग पर अंकित है। राजस्थानी महिलाओं के लिए वीर पत्नी होना सबसे आनन्द की बात है। पति का भयंकर युद्ध में धंस पड़ना आनन्द है लड़ते लड़ते मारा जाना उसके लिए त्योहार है वह कायर की पत्नी कहलाकर सखियों में हंसी का पात्र बनना नहीं चाहती। यह उसके लिए सबसे बड़ा अपमान है।

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजंतु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु॥

बहिन अच्छा हुआ मेरा पति युद्ध में मारा गया यदि वह भाग कर घर आ जाता तो मुझे सखियों में लज्जित होना पड़ता।

इसी भावना को सूरजमल के शब्दों में देखिये—

सहणी सबरी हूं सखी दो उर उलटी दाह।
दूध लजाणो पूत सम, वलय लजाणो नाह॥

[हे सखी! और सब बातें मुझे सहन हो सकती हैं किन्तु यदि प्राणनाथ मेरे वलय अर्थात चूड़ियों को लजा दें और पुत्र मेरे दूध को—तो ये दोनों बातें मेरे लिए समान रूप से दाहकारी एवं हृदय उलट देने वाली हैं— असह्य हैं।

हेमचन्द्राचार्य के दिये एक अन्य उदाहरण को देखिये[1] —

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण।
अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारि अडेण॥

[अर्थात हे सखी! यदि शत्रु भागे हैं तो मेरे प्रिय से और यदि हमारे लोग भागे हैं तो उसके मारे जाने से।] इसी भाव को डिंगल कवि ने अधिक चमत्कारपूर्ण ढंग से इस प्रकार से कहा है[2] —

१ नामवर सिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग -पृ०१४१ से
२ सहल, गौड़ भाटिया वीरसतसई -पृ० १०

जे खल भग्गा तो सखी, मोताहल सज थाल ।
निज भग्गा तो नाह रो, साथ न सूनो टाल ॥

सेना को आश्वस्त रखने वाले वीर पति के शौर्य की व्यंजना करते हुए वीर नारी कह उठती है— हे सखी ! यदि शत्रु भाग गये हों तो मोतियों का थाल सजा, जिससे प्राणनाथ की आरती उतारूँगी और यदि अपने ही लोग भाग चले हों तो पतिदेव का साथ मत बिछुड़ने दे, अर्थात मेरे शीघ्र सती होने की तैयारी कर । मेरे पति के जीते जी हमारे लोग नहीं भाग सकते । इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण देखिये[1] –

जय— विसाहिउ जहिं लहहुं पिय तहिं देसहिं जाहुं ।
रण— दुब्भिक्खें भग्गाइं विणु जुज्झे न वलाहुं ॥

हे प्रिय, जहाँ खंग का व्यवसाय मिले, उसी देश में चलें । रणदुर्भिक्ष में हम भग्न–क्षीण हो गये हैं बिना युद्ध के नहीं संभलेंगे । इसी के समानांतर एक वीर भार्या की कामना देखिए[2] –

नह पड़ोस कायर नरां, हेली वास सुहाय ।
बलिहारी जिण देसड़े, माथा मोल बिकाय ॥

हे सखी ! मुझे तो कायर पुरुषों के पड़ोस में बसना नहीं सुहाता । मैं तो उस देश पर बलिहारी हूँ जहाँ सिर मोल बिका करते हैं ।

मतवाला घूमें नहीं, नह घायल घरणाय ।
बाल सखी ऊ देसड़ो, भड़ बापड़ा कहाय ॥

हे सखी ! जहाँ युद्ध के मतवाले नहीं घूमते जहाँ घायलों का आर्तनाद नहीं सुनाई देता, जहाँ योद्धागण बेचारे माने जाते हैं, ऐसे देश को आग लगा दो ।

हेमचन्द्राचार्य से ही एक उदाहरण लें ।

पुत्ते जाए कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।
जा बप्पी की भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥

इसी का राजस्थानी रूपान्तर हम इसी अध्याय में पहले दे चुके हैं । यहाँ मात्र यह दिखाना चाहते हैं कि अपभ्रंश की सूक्तियों ने परवर्ती हिन्दी कवियों को इस सीमा तक प्रभावित किया है कि अनजाने ही ये उक्तियाँ उनकी अन्य रचनाओं में आ गई हैं —यथा

पूतां जाया कवण गुण अवगुण कवण मियांह ।
जाता न दिया प्रगट जस, लियण सिंह जियांह ॥[3]

१ नामवर सिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग – पृ० १४४ से
२ सूरजमल वीर सतसई—पृ० १८
३ बांकीदास ग्रंथावली—तीसरा भाग—पृ० ७२

यहां अपभ्रंश के दोहे की पहली पंक्ति बांकीदास के दोहे की पहली पंक्ति से मिलती जुलती है। मात्र 'मूएण' के स्थान पर 'मियहि' है अन्यथा कहीं कोई अन्तर नहीं है।

अपभ्रंश में वीरों को सिंह तथा स्वामिभक्त सेवकों को धवल अर्थात् वृषभ कह कर पुकारा गया है। अपभ्रंश के कवियों ने प्रतीकों के रूप में इन दोनों शब्दों का विपुल प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण देखिये—

ताम न निवडइ कुम्भ-यडि सीह-चवेड-चडक्क।
ताम समत्तहं मयगलहं पइ पइ वज्जइ ढक्क।

अर्थात् जब तक कुंभ पर सिंह के चपेट की आघात नहीं पड़ती तभी तक समस्त मतवाले गजों के पग-पग पर डंका बजता है।

गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइं हरिणाइं।
जसु केरएं हुंकारडएं मुहहुं पडन्ति तृणाइं॥

वह केसरी गया हे हरिणों, निश्चिन्त होकर जल पियो, जिसकी हुंकार मात्र से मुंहों से तृण गिर पड़ते हैं। अब धवल संबंधी कुछ उदाहरण देखिये—

मइं वुत्तउं तुहुं धुरि धरहि कसरेहिं विगुत्ताइं।
पइं विणु धवल न चडइ भरु एम्वइ वुन्नउ काइं॥

मैंने कहा—तू धुरी धर, कसर—बैलों से हम तंग हैं। तुम्हारे बिना हे धवल, भार नहीं चढ़ता, अब उदास क्यों हो?

धवलु विसूरइ सामिअहो गरुआ भरु पिक्खेवि।
हउं कि न जुत्तउ दुहुं दिसिहिं खण्डइं दोण्णि करेवि॥

अर्थात् स्वामी के गुरु भार को देखकर धवल विसूरता है कि मैं ही दो खण्ड करके दोनों ओर क्यों नहीं जोत दिया जाता।

डिंगल कवियों ने भी सिंह तथा सूअर को वीर योद्धा का स्वीकार किया है। उसी प्रकार धवल या वृषभ वर्गों का त्यों एक स्वामिभक्त सेवक के रूप में लिया गया है। कतिपय उदाहरण देखिये—

सादूलों आपा समों बियो न कोय गिणंत।
हाक बिराणी किम सहै घण गाजियै मरंत॥

—ईसरदास—हालाझालांरा कुंडलिया—१

शार्दूल अपने सामने किसी दूसरे को कुछ नहीं गिनता। वह दूसरों की हुंकार तो सहे ही क्या? घन-गर्जन से ही मरता है।

केहरि केसो बहुत गुण मोहै गयंदां माण।
लोहड़ बड़ाई की करै मरो मरद परमाण॥

—ईसरदास—हालाझालांरा कुंडलिया—१४

सिंह छोटा होने पर भी बहुत गुणी होता है। वह हाथियों का मान-मर्दन करता है। इसी तरह मस्तों के समान तेजस्वी पुरुषों के आगे हथियार की बड़ाई ही क्या हो सकती है।

हिरण लांबी सींगड़ी भाजण तणो सभाव।
सूरां छोटी दातसी वे बण चढ्ढी घाव ॥

—ईसरदास हालाझालांरा कुंडलिया-४०

अर्थात् हरिणों के सींग लम्बे होते हैं, पर उनका स्वभाव कायरों के समान भागने का होता है। सूअरों के छोटी दांती होती है पर वे शत्रु-समूह को घायल कर देते हैं। अब सूर्यमल की वीर सतसई के कुछ नमूने लीजिए—

निबड़क सुता केहरी तो भी विमुहा पाव।
गज मैंडा धीर न धरे, मच्च पड़ै बबकाव ॥४८॥

भावार्थ सिंह गहरी नींद में सोया हुआ है तो भी हाथी और मैंडे धैर्य धारण नहीं करते उनके पांव पीछे ही पड़ते हैं। उन्हें व्याघ्र गन्ध क्या आती है मानो उन पर वज्र पड़ रहा है ॥ ४८ ॥

दूडों बच फेटा दुरी, गाडो मड़ औसाड़।
हेकण केलि ढूकिया फौजां पाथर पाड़ ॥५७॥

भावार्थ सूकरने अकेले ही अपने दूडों से हाथियों को आघातों से घोड़ों को दाढ़ों से योद्धाओं को चीर कर तथा फौजों का बिस्तर सा बिछा कर उन्हें रौंद डाला ॥ ५७ ॥

अब कविराजा बांकीदास का एक उदाहरण लीजिए—

अंबर री उपमाज सु केहर घीव करंत।
हाक घरा ऊपर हुई कैम रहै बलवंत ॥७॥

—बांकीदास —सिंह छत्तीसी

आकाश में बादलों के गर्जन से सिंह क्रोध उठता है उसी तरह शक्तिशाली धरती पर युद्ध का आहवान होने पर कैसे रुक सकता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिन्हें विस्तार भय से नहीं दिया जा रहा है। अब वृषभ या धवल संबंधी उदाहरण देखें। कविराजा बांकीदासने तो धवल-पचीसी नामक एक छोटी रचना ही लिख दी है जिसमें वृषभ को लेकर चौबीस दोहे हैं [1]। वीर सतसई कारने भी धवल के इस प्रतीक का उपयोग किया है यथा—

धुर छूटी रियो धवल संकट हुबका खाय।
तिण रो जायों वाछड़ों, ठई लंब लगाय ॥ ५६ ॥

भावार्थ हा! बली वृषभ मर गया अब धुरी जमीन पर गिर गई। शकट हिचके खा रहा है। किन्तु अहा! उसी का यह जवान बछड़ा धुरी के कंधा लगा कर टाइमें लगा है ॥ ५६ ॥

---

१ देखिये—बांकीदास ग्रन्थावली-पहला भाग –पृ०३७-४२

धवल पयंप रे धणी, क्यों दुमणा धम भार ।
ओडे धर रौ आवगा कढ़ूं पहाड़ां पार ॥ २९७ ॥

भावार्थ श्वेत वृषभ कहता है कि हे स्वामी ! भार की अधिकता से उदास क्यों हो रहे हो ? मैं तुम्हारे घर का सारा भार अकेला ही वहन कर पर्वतों के पार कर दूंगा ॥ २९७ ॥

हमने ऊपर देखा कि अपभ्रंश और डिंगल दोनों में मुक्तक काव्य परम्पराओं का विकास एक सा ही हुआ है। कम से कम दोनों के विकास के पीछे कामकरने वाली वृत्ति एक सी है । इसी से भावसाम्य, शैली साम्य और अभिव्यक्ति साम्य है ।

अपभ्रंश कवियों में एक ही पंक्ति को बार-बार प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। संभवत इस पंक्ति को बार बार प्रयुक्त करके पुनरावृत्ति सेप्रभावमयता में वृद्धि हो जाती है । पुष्पदन्त के महापुराण में से निम्न उदाहरण देखिये-

सोत्तिय कौन ?

वणि वाणि ज्जारउ वाणियउं	किसियरु हलधारउ भाणियउ
सो सोत्तिउ जो पुजइ जिणु	सो सोत्तिउ जो सुतच्चु कहइ
सो सोत्तिउ जो ण दुट्ठ भणइ	सो सोत्तिउ जो मउ हुयु हणई
सो सोत्तिउ जो हिमएण सुइ	सो सोत्तिउ जो परमत्थ रइ
सो सोत्तिउ जो ण मासु मसइ	सो सोत्तिउ जो ण सुयणि मसइ
सो सोत्तिउ जो मणु पहि णवइ	सो सोत्तिउ जो सुतवें तवइ
सो सोत्तिउ जो संतई णावइ	सो सोत्तिउ जोण मिच्छु चवइ
सो सोत्तिउ जो ण मज्जु पियइ	सो सोत्तिउ जो वारइ कुमइ

घत्ता— जो तिलकप्पासइ दव्वविसेसई हुणिवि देवमइ पीणइ
पसु जीव णि मारइ मारय वारइ पर अप्पु वि समुजाणइ

अर्थात वाणिज्य में जो रत हो उसे वैश्य समझो और जो खेती करते हैं उसे कृषक कहा जाता है । सोत्तिय वह है जो जिनवर को पूजता है सोत्तिय वह है जो सम्यक तत्व का कथन करता है । सोत्तिय वह है जो दुष्ट वचन नहीं बोलता । सोत्तिय वह है जो पशुओं को नहीं मारता । सोत्तिय वह है जो हृदय से स्वच्छ है सोत्तिय वह है जिसकी परमार्थ में रुचि है सोत्तिय वह है जो मांस भक्षण नहीं करता । सोत्तिय वह है जो सुजन से बकवाद नहीं करता, सोत्तिय वह है जो मनुष्यों को रास्ते से बचाता है सोत्तिय वह है जो सुतप का आचरण करता है सोत्तिय वह है जो संतों को नमन करता है सोत्तिय वह है जो झूठ नहीं बोलता सोत्तिय वह है जो मद्य नहीं पीता सोत्तिय वह है जो कुमति का वारण करता है जो तिल कपास आदि द्रव्य विशेष का होम करके देवमइ को प्रसन्न करता है, जो पशुओं और जीवों को नहीं मारता मारने वालों को रोकता है और पर को अपने समान समझता है, वह सोत्तिय है ।

राजस्थानी साहित्य में कहानी के रूप में रचित बातें बहुत संख्या में उपलब्ध होती हैं। इन बातों में तुकान्त गद्य का प्रयोग बहुधा होता है। बीच बीच में दोहे या अन्य छोटे मुक्तक छन्दों का प्रयोग होता है। जिससे कथानक में एक विशेष मोड़ और भंगिमा आ जाती है। कथाओं की यह शैली डिंगल की अपनी निजी शैली होने पर भी अपभ्रंश कथाओं का क्रमगत विकास है। प्रबन्ध चिन्तामणि एवं कुमारपाल प्रतिबोध की कथाओं में भी यही परम्परा है। इसी प्रणाली का तर्कसंगत विकास डिंगल की बात संज्ञक रचनाओं में हुआ। अब भी जब कोई कथा कहने वाला अपनी कहानी सुनाता है तो बीच बीच में वह लोकप्रचलित दोहों की कड़ाई भी करता जाता है। जैसा प्रसंग होगा, वैसा दोहा वह सुनाता चलेगा। पुरानी बातों में[1] व ख्यातों में यही चीज है।[2] जो बातें मिली मिलती हैं, उनमें प्रसंगानुकूल पद्य अवश्य हैं। ख्यातों में भी ऐतिहासिक दोहे गीत, कवित्त आदि प्रयुक्त किये गये हैं। विस्तारभय से अधिक उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं। हम पहले इसी अध्याय में सप्रमाण देख चुके हैं कि यह प्रवृत्ति प्राकृत अपभ्रंश से डिंगल में अवतरित हुई है। अस्तु —

प्राकृत और अपभ्रंश का सबसे अधिक प्रभाव छन्दों के क्षेत्र में पड़ा। प्राकृत साहित्य ने अपनी कलम से छन्दपरम्परा का उदय किया। हम देख चुके हैं कि वैदिक तथा लौकिक संस्कृत साहित्य की छन्दपरम्परा वर्णिक छन्दों की परम्परा है। संस्कृत

---

१ (अ) मेनारिया राजस्थानी साहित्य संग्रह भाग ५
बात वैणी बगवावतांरी पृ० ११
प्रतापसिंघ म्होकमसिंहरीबात पृ० १८, १९ आदि
बीरमदे सोनीगरारी बात पृ० ८१ ९१ आदि
(ब) नरोत्तम स्वामी : राजस्थानी साहित्य संग्रह भाग १
राजान राउतरो बात वणाव पृ० २१ से० ३२ आदि
(स) नरोत्तम स्वामी राजस्थानी बाता भाग-१
बात सबंजी चारणीरी पृ० १६-१७
बात कसमा भोजणीरी पृ० १४ २५
बात बींझरे अहीर री पृ० ८० ८१
(द) सौभाग्य सिंह शेखावत राजस्थानी बातां भाग ५
राजा सुखीलरी वारता पृ० २६
बीरचंद मेहतारी वारता पृ० ५७
भलै-भलो बुरे बुरीरीबात पृ ७७ ७९
(इ) सौभाग्य सिंह शेखावत' राजस्थानी बातां भाग ७
बात बाईस कल्याणसिंघ नगराजोतरी पृ० १५
रावत मोहकमसिंघ हरिसिंघोतरी बात पृ० ७९
२ बद्रीप्रसाद साकरिया : मुहता नैणसीरी ख्यात भाग १, पृ० १८, १४, ३८ १८६, १११

छन्दों की परम्परा मूलतः मात्रिक छन्दों की नहीं है। प्राकृत साहित्य अपना विकास लोकजीवन की भित्ति पर कर रहा था, फलतः उसने नृत्य तथा संगीत के आधार पर छन्दोविधान का आरम्भ किया। प्राकृत में ही सर्वप्रथम मात्राछन्दों या तालछन्दों (ध्रुवाओं) का विवरण उपन्यस्त किया गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वैदिक छन्द या संस्कृत वर्णिक छन्द प्राकृत में सर्वथा लुप्त हो गये थे। भरत के नाट्यशास्त्र में हमें प्राकृत भाषा में निबद्ध गायत्री उष्णिक बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् तथा जगती के उदाहरण मिलते हैं। इतना होने पर भी यह तो निश्चित है कि धीरे धीरे इनका प्रयोग कम हो चला है। प्राकृत की छन्द-परम्परा के लिये हमें 'स्वयम्भूछन्द', हेमचंद्र का 'छन्दानुशासन', तथा 'प्राकृतपैंगलम्' से पर्याप्त सहायता मिल सकती है। ताल छन्दों या मात्राछन्दों में वर्णों या वर्गों का उतना ध्यान नहीं रखा जाता जितना प्रत्येक चरण, अर्धाली, या समग्र छन्द की मात्रासमक संख्या का। प्राकृत में इस प्रकार के छन्दों का अधिक प्रचार है, ये छन्द संस्कृत वर्णिक छन्दों की ही भाँति अतुकान्त होते हैं। छन्दों के चरणों के अन्त में तुक मिलाने की शैली का प्रचलन अपभ्रंश काल में चला है तथा तुकान्त छन्द अपभ्रंश छन्द- परम्परा के प्रतीक हैं। जिस प्रकार संस्कृत की छन्द-परम्परा का प्रतीक अनुष्टुप् है तथा अपभ्रंश छन्द-परम्परा का प्रतीक दोहा, वसे ही प्राकृत के अधिकांश मात्रिक छन्दों का मूलस्रोत है। प्राकृत के प्रमुख छन्दों में गाहा गाहू विगाथा उद्गाथा गाहिनी सिंहिनी, तथा स्कंधक छन्द हैं। इनमें से 'गाहा' छन्द अपने भेदोपभेदों के साथ आर्या के रूप में संस्कृत छन्दों में संगीतात्मकता का अधिक समावेश हो गया फलतः आगे चल कर शुद्ध प्राकृत छन्दों का प्रचलन कम हो गया, अपभ्रंश कवियों ने प्रायः तुकान्त अपभ्रंश छन्दों को ही अपनाया है। किन्तु प्राकृत का गाथा छन्द फिर भी प्रयुक्त होता रहा और 'रासो' में चन्दबरदाई तक ने इसका प्रयोग किया।[1]

गाथा की भाँति अपभ्रंश के दोहे अपने-आप में परिपूर्ण मुक्तक काव्यों के वाहन स्वीकार किये गये थे और सच पूछिये तो दोहा मुक्तक-काव्य का ही उचित वाहन है। यह प्रबन्ध या कथानक के लिये उपयुक्त छन्द नहीं मालूम होता। ढोला-मारू के दोहे यद्यपि कथानकरूप में लिखे गये हैं परन्तु वे वस्तुतः मुक्तक ही हैं। इसी कथानकसूत्र को जोड़ने के उद्देश्य से सोलहवीं शताब्दी में दोहों के बीच-बीच में चौपाई जोड़ कर कथानक को क्रमबद्ध करने का प्रयास किया गया था। चौपाई छोटा छन्द है यह कथानक को सहज ही जोड़ देता है। अपभ्रंशकाल के आरम्भ से ही इस छन्द के इस गुण को समझा जाने लगा था परन्तु इसकी ठीक-ठीक प्रकृति जानने में कुछ समय लगा।[2]

शुरू-शुरू में चौपाई की अपेक्षा अपभ्रंश में पद्धड़िया का ज्यादा प्रचार था। जिस प्रकार आजकल हम लोग चौपाई लिखने में तुलसीदास की श्रेष्ठता बतलाया

---

१ मोलाशंकर व्यास हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास खण्ड १ पृ० ११०-१११

२ हजारीप्रसाद हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० ९४

करते हैं उसी प्रकार स्वयम्भू ने चउम्मुह या चतुर्मुख को पद्धड़िया का राजा बताया था। हरिवंशपुराण में उन्होंने कहा है कि पिंगल ने छन्द प्रस्तार, भामह और दण्डी ने अलंकार, बाण ने अक्षराडम्बर, श्रीहर्ष ने निपुणत्व और चतुर्मुख ने छर्दनिका, द्विपदी और ध्रुवकों से जटित पद्धड़िया दिया—

छद्दणिय दुवइ धुवएहिं जडिय। चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय।[1]

यह तो हुई चौपाई की बात घत्ता दोहे से भिन्न छन्द है। यह ६२ मात्राओं का छन्द होता है। प्रथम पंक्ति में १०, ८, १३ पर यति होती है और दूसरे चरण में भी यही क्रम रहता है —

पढमं वह वीसामो बीए मत्ताइ अट्ठाहं।
तीए तेरह विरई, घत्त मत्ताइ बासट्ठि॥

उदाहरण यह है —

रण दक्ख दक्ख हरु सिवमुकुसुमधणु
अ घय मंध विणास कर।
सो रक्खउ संकरु असुर भयंकरु
गिरिणयरि अद्धंग धर॥

परन्तु व्यवहार में घत्ता छन्द का व्यवहार केवल के अर्थ में ही होता रहा और कई बार काव्यों में अरिल्ल या पज्झटिका के बाद उल्लाला या और कोई इसी तरह का द्विपदिलिस्य छन्द दे दिया जाता था। अपभ्रंश के काव्यों में भी घत्ता के स्थान पर अन्य छन्दों का व्यवहार हुआ है।[2]

१—उदाहरणार्थ 'पउमसिरिचरिउ' में प्रथम संधि के घत्ते 'घत्ता छन्द में हैं। एक उदाहरण यह है —

पणमिमि जग सामिणि नय सुर कामिणि वागेसरि सिय कमल कर।
पणयहं सम्माणि बीए पमाणि कविहिं पयडइ वाणि वर॥१४॥

किन्तु द्वितीय संधि में दूसरा छन्द 'घत्ता' के लिये व्यवहृत हुआ है —

अवयरिउ मह वह, कुमइ सोम सोयण सुहउ।
सहु बंधव सोएहिं, संचु वि विसरिउ संमुहउ॥१८॥

---

१ नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३७१-७२
२ उदाहरणार्थ पुष्पदंतके 'णायकुमारचरिउ' की सातवीं सन्धि के प्रथम कड़वक का घत्ता यह है —

कुडिलंकुस वस एहिं णिच्चमेव पडिवज्जउ।
हत्थिहिं सोहइ वासु जेहिं संवंधु दिव्वउ॥

फिर पउमसिरिचरिउ की द्वितीयसंधि के घत्ते इस छंद में हैं —

बंधव जण वल्लहु गुरुयणि विणिय मयंद गइ।
संचिय रयणयर सहुय लक्खण बोधि मइ॥

२—कई अपभ्रंश काव्यों में घत्ता को घत्ता छंद में ही लिखने का नियम कठोरता के साथ अपनाया गया है, पर सबमें इतनी कड़ाई नहीं दिखाई गई। कभी कभी शुरू में दुवई (द्विपदी) देकर अन्त में किसी दूसरे छंद में घत्ता दिया गया है। णयकुमार चरिउ में इस नियम का बहुत सुन्दर निर्वाह हुआ है। कभी छोटे-छोटे छन्दों में भी कड़वक लिखे गए हैं। इन सब नियमों का परवर्ती काल में अनुसरण हुआ है। अनेक छन्दों में कथा कहने की प्रथा केशवदास की अपनी चलाई हुई नहीं है। करकंडु चरिउ, णयकुमारचरिउ आदि में छंद बदलने की प्रवृत्ति मिलती है। वस्तुतः छन्दों के मामले में अपभ्रंश बहुत समृद्ध भाषा कही जा सकती है। अस्तु—

दोहा का घत्ता अपभ्रंश के कवियों में एकदम अपरिचित तो नहीं था जिन पद्म सूरि के थूलभद्दफागु में इसका उदाहरण मिल जाता है। परन्तु प्रबन्धकाव्य में चौपाई दोहा का क्रम बहुत लोकप्रिय नहीं हुआ। सम्भवतः पूर्वी प्रदेश के कवियों ने प्रबन्धकाव्य में चौपाई और दोहा से बने कड़वकों का प्रयोग शुरू किया था। जायसी आदि सूफी कवियों ने इसी प्रथा का अवलम्बन किया था परन्तु बौद्धधर्म में यह प्रथा बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में मिल जाती है। सरहपा ने लिखा है —

जइसें विसम संचिओ पइसइ। जो जइ अत्थि मठ जायण दीसइ।
पंडिअ सअल सत्थ वक्खाणइ। देहहि बुद्ध वसन्त ण जाणइ॥
गमणागमण ण तेन विखण्डिअ। तो वि णिलज्ज भणहि हउ पण्डिअ॥

जोवन्तह जो णउ जरइ,
सो अजरामर होइ।
गुरु उवएसे विमल मई,
सो पर धण्ण कोई।

चौपाई दोहे का सबसे पुराना प्रयोग ज्ञात नहीं है। जो कुछ पुराना साहित्य उपलब्ध है उससे लगता है कि पूर्वी प्रदेश के बौद्ध सिद्धों ने ही इस शैली में लिखना शुरू किया था। पश्चिम में पद्धड़िया-बंध अधिक प्रचलित था और पद्धड़िया से कभी कभी चौपाई का अर्थ भी ले लिया जाता था। जैसा ही जिनदत्त सूरि की चर्चरी के वृत्तिकार जिनपाल के वक्तव्य से स्पष्ट होता है। किन्तु सब मिला कर चौपाई दोहा की पद्धति उधर दीर्घकाल तक लोकप्रिय नहीं हुई।[1]

यही कारण है कि डिंगल में भी जो अनेक दृष्टियों से अपभ्रंश की विशेषताओं को आत्मसात करके चली है—दोहा चौपाईवाली शैली का विशेष प्रचलन नहीं हुआ। डिंगल के प्रबन्ध काव्यों ने इस पद्धति को नहीं अपनाया। अपवाद के रूप में पद्मनाभ रचित कान्हड़दे प्रबन्ध को लिया जा सकता है जिसमें चउपई-दूहा पद्धति का अन्य छन्दों के साथ प्रयोग किया गया है। अन्य डिंगल ग्रन्थों में यह प्रणाली नहीं मिलती। यद्यपि अपभ्रंश के आरम्भिक काव्यों में चौपाई-जैसे कथानकसूत्र योजक

१ हजारीप्रसाद हिन्दी साहित्य का आदिकाल-पृ० ९२ ९१

छन्द का प्रचलन हो गया था और चौपाई के साथ अपभ्रंश के कड़िसे छन्द दोहा का गठबन्धन भी हो चुका था, पर कथा-काव्य के लिये इसका महत्व बाद में समझा गया।

धीरे-धीरे अपभ्रंश में भी बड़े-बड़े छंद लिखे जाने लगे। रोला, उल्लाला, घोर कव्व, छप्पय और कुण्डलिया अपभ्रंश के अपने छन्द हैं। धीरे-धीरे अपभ्रंश की कविता भी आडम्बरपूर्ण होती गई। छप्पय और कुण्डलिया जैसे छन्दों को संभालकर वीररसों की ओजस्विनी कविता लिखना भाषा की प्रौढ़ता का सबूत है।

इस प्रकार हमने देखा कि छंदों के क्षेत्र में डिंगल अपभ्रंश की सर्वाधिक ऋणी है। संक्षेप में अपभ्रंश में छंदों की दो विशेषताएं प्रमुख हैं। प्रायः अपभ्रंश कवियों ने अपने छंदों का नाम भी यथास्थान दिया है। डिंगल कवि भी इसी प्रवृत्ति का पालन करते हैं। जैसे संस्कृत के महाकाव्यों में छंदों का नाम नहीं दिया रहता है। *किन्तु अपभ्रंश काव्यों में छंदों का नाम बहुधा दिया रहता है। उनमें छन्द-नाम या* तो छन्द के बाहर लिखा रहता है या छन्द के भीतर ही उसका उल्लेख किया जाता है, जैसे —

दुवई-चउविहु मोउराइ चउद्दारइ णयरइ भुमि भुसणी।

—महापुराण-१-२१-१

रासो में भी इसी तरह छन्दों के नाम उनके पहले दिये हुए हैं। शायद ही ऐसा कोई पद्य उसमें हो जिसके पहले छन्द का नाम न हो। अपभ्रंश में छन्द के भीतर उसका नाम देने के उदाहरण ये हैं —

भुजंगो भुहारंजणो णाम छन्दो चिरं णन्दओ पिहुवरो जायइ दो।

—भविसयत्त कहा-१२-१

विज्जाहर मणविन्दारियणामु। सुछन्दइं मंचिउ मौत्तियदामु।

—करकण्डु चरिउ १११

डिंगल की सभी रचनाओं में प्रयुक्त छंदों का नाम छंद से पहले लिख दिया जाता है। उदाहरण के लिए देखिये—राजरूपक—पृ० ११—जहां छंद चौसर, दूहा और छंद वेअक्खरी प्रयुक्त हुए हैं सभी का नाम दे दिया गया है। रघुनाथरूपक गीतारों, रघुवरजसप्रकाश रामरासो, सूरजप्रकाश रतनरासचंद, वीरवांण आदि सभी डिंगल ग्रंथों में प्रत्येक छन्द पर उसका *नाम अथवा शीर्षक दिया हुआ है।*

अपभ्रंश छन्दों की दूसरी विशेषता यह है कि इनमें अन्त्यानुप्रास का प्रयोग मिलता है। इस प्रवृत्ति का संस्कृत में भी प्रायः अभाव था और प्राकृत में भी। यह अपभ्रंश कवियों की अपनी सूझ थी। हिन्दी छन्दों में यह प्रवृत्ति अपभ्रंश छन्दों से ही आई।

अपभ्रंश कवियों ने जहां प्राचीन वर्णवृत्तों का प्रयोग किया वहां उनमें एक नवीनता भी उत्पन्न कर दी। उदाहरण के लिए निम्नलिखित मालिनी छन्द देखिये—

कलयण सिरसूलं, सम्मत्तावह मूलं।
पसरइ अविरोसं मायहाणं सुरोसं ॥
हिरि मविय जिणिदो, देइ वायं णींदो।
वसु इम सुइ वृत्तो, मालिणी छन्दु वुत्तो ॥ सुदं•च•१४

संस्कृत के पिंगल शास्त्र के नियमों के अनुसार जहाँ यति होनी चाहिए वहाँ पर भी कवि ने अन्त्यानुप्रास का प्रयोग कर मालिनी के एक चरण के दो चरण बना डाले। इस प्रकार सम चतुष्पद मालिनी वर्णसम अष्टपद मालिनी बन गई। प्राचीन रूढ़ि को उसी रूप में स्वीकार न कर उसमें परिवर्तन लाकर नवीनता उत्पन्न करने की प्रकृति अपभ्रंश कवियों में स्वभाव से ही थी।

अपभ्रंश कवियों की इसी प्रवृत्ति के निम्नलिखित दोहे में भी दर्शन होते हैं।

सील रयणु जइ खिति अइ, सव्व गुणेहि सउण्णु।
सो मणवंछउ होइ नर, सो तिहुयण कय पुण्णु ॥
-सुलोचना चरिउ १८-११

वर्णवृत्तों में भी इन कवियों ने नियमों का कठोरता से पालन नहीं किया। एक दीर्घकाल अक्षर के स्थान पर दो लघु अक्षरों का प्रयोग करके भी वर्णवृत्तों का निर्वाह कर लिया गया है। जैसे —

अस्सथामो मुऊ तेहि ता उत्तऊ।
मुच्छिऊ दोणु लघु तामु हुत्तइ मुऊ ॥

पेयणा जहिवि कस्सा वि णउं पत्तिउ।

सच्च णई पउत्तउ धम्म सुउ पुच्छिउ ॥

सच्चु कहि पुत्त कि मच्छ पुत्तो मुऊ।

कम्म सिक्खाइ अरणाइ ता जंपिउ ॥

मुउ न तुहु नंदणो कि तु गउ दिट्ठऊ।

अस्सथामुत्ति नामेण रधि निठिठऊ ॥
-यश कीर्ति कृत हरि• पु• ११९

इस चार रगण स्रग्विणी या कामिनी मोहन छन्द में रेखांकित अक्षर एक दीर्घ अक्षर के स्थान पर प्रयुक्त किये गये हैं।

अपभ्रंश कवियों ने अपनी उपर्युनिर्दिष्ट प्रकृति के अनुसार अनेक नवीन छन्दों की सृष्टि की। इसके लिए उन्होंने नए-नए छन्दों का निर्माण किया। दो छन्दों के मेल से बने अनेक संकीर्ण-वृत्तों का उल्लेख छन्दकोषों में मिलता है। अपभ्रंश में संकिर्ण-वृत्त उल्लाला दोहा, गाथा, आभाणक गाथा, काव्य (रोला)

छन्द का प्रचलन हो गया था और चौपाई के साथ अपभ्रंश के लाड़िले छन्द दोहा का गठबन्धन भी हो चुका था, पर कथा-काव्य के लिये इसका महत्व बाद में समझा गया।

धीरे-धीरे अपभ्रंश में भी बड़े-बड़े छंद लिये जाने लगे। रोला, उल्लाला, वीर, कव्व, छप्पय और कुण्डलिया अपभ्रंश के अपने छन्द हैं। धीरे धीरे अपभ्रंश की कविता भी आडम्बरपूर्ण होती गई। छप्पय और कुण्डलिया जैसे छन्दों को संभालकर वीरवर्ग की ओजस्विनी कविता लिखना भाषा की प्रौढ़ता का सबूत है।

इस प्रकार हमने देखा कि छंदों के क्षेत्र में डिंगल अपभ्रंश की सर्वाधिक ऋणी है। संक्षेप में अपभ्रंश में छंदों की दो विशेषताएं प्रमुख हैं। प्रायः अपभ्रंश कवियों ने अपने छंदों का नाम भी यथास्थान दिया है। डिंगल कवि भी इसी प्रवृत्ति का पालन करते हैं। जैसे संस्कृत के महाकाव्यों में छंदों का नाम नहीं दिया रहता है। किन्तु अपभ्रंश काव्यों में छंदों का नाम बहुधा दिया रहता है। उनमें छन्द-नाम या तो छन्द के बाहर लिखा रहता है या छन्द के भीतर ही उसका उल्लेख किया जाता है, जैसे —

दुवई-चउविह गोउराइ चउदारइ णयरइ भूमि भूसणे।

—महापुराण-२-२१-१

रासो में भी इसी तरह छन्दों के नाम उनके पहले दिये हुए हैं। शायद ही ऐसा कोई पद्य उसमें हो जिसके पहले छन्द का नाम न हो। अपभ्रंश में छन्द के भीतर उसका नाम देने के उदाहरण ये हैं —

भुजंगो बुहारंजणो णाम छन्दो चिरं णन्दओ मिहुवरो वायइ वो।

—भविसयत्त कहा-१२-१

दिवायर चन्दविसारिमचामु। सुलन्दई संपिउ मोत्तियदामु।

—करकण्डु चरिउ १ १ ९

डिंगल की सभी रचनाओं में प्रयुक्त छंदों का नाम छंद से पहले लिख दिया जाता है। उदाहरण के लिए देखिये—राजरूपक—पृ० ११—जहाँ छंद चौसर दूहा और छंद वेअक्खरी प्रयुक्त हुए हैं सभी का नाम दे दिया गया है। रघुनाथरूपक गीतारों रघुवरजसप्रकाश रामरासो, सूरजप्रकाश, रणमल्लछंद, वीरवांण आदि सभी डिंगल ग्रंथों में प्रत्येक छन्द पर उसका नाम अथवा शीर्षक दिया हुआ है।

अपभ्रंश छन्दों की दूसरी विशेषता यह है कि इनमें मध्यानुप्रास का प्रयोग मिलता है। इस प्रवृत्ति का संस्कृत में भी प्रायः अभाव था और प्राकृत में भी। यह अपभ्रंश कवियों की अपनी सूझ थी। हिन्दी छन्दों में यह प्रवृत्ति अपभ्रंश छन्दों से ही आई।

अपभ्रंश कवियों ने जहाँ प्राचीन वर्णवृत्तों का प्रयोग किया वहाँ उनमें एक नवीनता भी उत्पन्न कर दी। उदाहरण के लिए निम्नलिखित मालिनी छन्द देखिये—

कमलवण विरसूलं, सज्जणाणंद मूलं ।
पसरइ अविरोलं, मामहाणं सुरोलं ॥
सिरि जणिय जिणिंदो, देइ कायं वीणिंदो ।
भरु हय जुइ वुत्तो, मालिनी छन्दु वुत्तो ॥ सुदं० च० १४

संस्कृत के पिंगल शास्त्र के नियमों के अनुसार जहाँ यति होनी चाहिए वहाँ पर भी कवि ने अन्त्यानुप्रास का प्रयोग कर मालिनी के एक चरण के दो चरण बना डाले। इस प्रकार सम चतुष्पद मालिनी अर्धसम अष्टपद मालिनी बन गई। प्राचीन रूढ़ि को उसी रूप में स्वीकार न कर उसमें परिवर्तन लाकर नवीनता उत्पन्न करने की प्रकृति अपभ्रंश कवियों में स्वभाव से ही थी।

अपभ्रंश कवियों की इसी प्रवृत्ति के निम्नलिखित दोहे में भी दर्शन होते हैं।

धीर रयणु जय किति पर, सव्व गुणे हिं सउण्णु ।
सो जमवउ होइ जर, सो तिहुयण कय पुण्णु ॥

–सुलोचना चरिउ १८-११

वर्णवृत्तों में भी इन कवियों ने नियमों का कठोरता से पालन नहीं किया। एक दीर्घ अक्षर के स्थान पर दो लघु अक्षरों का प्रयोग करके भी वर्णवृत्तों का निर्वाह कर लिया गया है। जैसे –

जस्सयामो मुक्क तेहि वा वसउ ।
मुम्भिक्क दोसु अपु णाणु हत्थह मुक ॥
नेयणो जहिवि कत्था वि पर्व पविउ ।
सव्व गई ग उव जम्म सुउ पुम्भिड ॥
सव्वु कहि पुत्त कि मज्झ पुत्तो मुक ।
कम्म सिवगाइ चरणाहु ता जंपिउ ॥
सुउ म पुत्त जंपणो कि तु पउ दिट्ठउ ।
जस्सयामुत्ति गामेण रवि चिट्ठिउ ॥

–यशः कीर्ति कृत हरि० पृ० ११९

इस चार रगण स्रग्विणी या कामिनी मोहन छन्द में रेखांकित अक्षर एक दीर्घ अक्षर के स्थान पर प्रयुक्त किये गये हैं।

अपभ्रंश कवियों ने अपनी उपरिनिर्दिष्ट प्रकृति के अनुसार अनेक नवीन छन्दों की सृष्टि की। इसके लिए उन्होंने नए-नए छन्दों का निर्माण किया। दो छन्दों के मेल से बने अनेक संकीर्ण-वृत्तों का उल्लेख छन्दकोषों में मिलता है। अपभ्रंश में संकीर्ण-वृत्त उल्लाला दोहा, गाथा, मात्रानक माला, काव्य (रोला)

और कामिनी मोहन के मिश्रण से बनाये गये हैं। कुण्डलिया (दोहा काव्य) चन्द्रायण (दोहा कामिनी मोहन) राससुम (आभाणक या प्लवंगम उल्लाला), रड्डया वस्तु(मात्रा दोहा) छप्पय (काव्य उल्लाला) इत्यादि इसी प्रकार के छन्द हैं।

डिंगल के कवियों में भी इसी प्रकार नये नये छंद गढ़ने की प्रवृत्ति मौजूद है। एक दोहा और एक चंद्रायणा छंद को मिलाने से नया डिंगल छन्द झमाल बन गया। इस मेल में दोहे और चंद्रायणा में सिंहावलोकन है, अर्थात् दोहे का अंतिम चरण चंद्रायणे के आदि में आता है।[२]

उदाहरण देखिये[३] —

> कृति ऊंचा विचरे उरस, बणिया विसवा बीस।
> जोड़े साथे जगत में, सिर गज कुम्भ गिरीस॥
> सिर गज कुंभ गिरीस प्रवीणां पाविया।
> गुवरण वरण सुरंग कठोर सुहाविया॥
> सोहे अंगिया ओट हरी रंग साज में।
> दुड़िया करबा दोय सिवाल समाज में॥१७॥

डिंगल के अनेक गीत इसी प्रकार रचे गये हैं। विषय विवेचन के लिए कृपया परिशिष्ट १ डिंगल गीतों का छन्दशास्त्रीय अध्ययन देखिये। इसी प्रकार डिंगल में अनुप्रास तथा उसके स्थान के आधार पर दोहे के तेवीस भेद कर दिये गये हैं। इसी प्रकार बावीस छप्पय[४] चार कुण्डलियां[५] और २६ प्रकार के गाथा छन्द माने गए हैं[६]। यह भेदोपभेदों की वृत्ति और नवीन छन्दों के निर्माण की प्रवृत्ति डिंगल काव्य की अपनी विशेषता है।

इस प्रकार हमने देखा कि डिंगल के काव्यरूप, छंदपद्धति वस्तुविन्यास और भावव्यञ्जना सभी अपभ्रंश के निकट हैं। अपभ्रंश की परम्पराएं ही कालांतर में डिंगल के रूप में विकास पा गई है। यह बात सही है कि डिंगल के कवियों को अपने आश्रयदाताओं की गुणगाथा गाने में संस्कृत परम्परा से जिस प्रकार पौराणिक परम्परा से बड़ी प्रेरणा मिली है फिर भी प्राकृत अपभ्रंश की परम्पराओं ने डिंगल साहित्य के अन्तरंग और बहिरंग दोनों का निर्माण किया है।

---

१ वेलणकर अपभ्रंश मीटर्स — जर्नल आफ युनिवर्सिटी आफ बाम्बे—नवम्बर १९३३-पृ० १२ ६६

२ बनावक व बारेठ बांकीदास ग्रंथावली—भाग ३ पृ० ४१

३ बांकीदास कृत रसिका सिक्तन वर्णन पद सं० १७

४ सीताराम लालस रघुवर जसप्रकास पृ० ६२ ७०

५ वही पृ० ८१ ११०

६ वही पृ० १११ १११

७ वही पृ० ७९ ८४

६

उपसंहार

प्राकृत और अपभ्रंश दोनों भाषाओंका अध्ययन तो भाषागत आधारोंपर अनेक देशी विदेशी विद्वानों ने किया है किन्तु उनके साहित्यों का विस्तृत अध्ययन प्राय नहीं हो पाया। प्राकृत साहित्य का वैज्ञानिक सर्वांग इतिहास अभी भी लिखा जाना बाकी है। अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन डा० हरवंशलाल कोछड़ ने किया है जो 'अपभ्रंश साहित्य' नाम से प्रकाशित हो चुका है। इन दोनों भाषाओं की साहित्यिक परम्पराओं का विधिवत अध्ययन आधुनिक आर्यभाषाओं की साहित्य-परम्पराओं को समझने के लिये अनिवार्य है। इस प्रकार का प्रयत्न डा० रामसिंह तोमर व डा० नामवरसिंह द्वारा स्वतन्त्र रूप से किया गया है। डा० तोमर का प्रबन्ध तो अभी भी अप्रकाशित है। इन पंक्तियों के लेखक ने उसे भी मगा कर देखा है। नामवरसिंह ने 'अपभ्रंश का हिन्दी साहित्य के विकास में योग नामक निबन्ध द्वारा प्रस्तुत विषय पर प्रकाश डाला है। परन्तु डिंगल साहित्य जो कि अपभ्रंश साहित्य का सबसे प्रमुख उत्तराधिकारी है इस दृष्टि से उपेक्षित रहा। यहाँ हमने प्राकृत और अपभ्रंश की साहित्यिक परम्पराओं के सन्दर्भ में डिंगल साहित्य की प्रवृत्तियों को परखने की चेष्टा की है और इस प्रकार से प्राकृत, अपभ्रंश और डिंगल से राजस्थानी तक की साहित्यिक शृंखला की कड़ियाँ व्यवस्थित करने का प्रयास किया है।

पहला अध्याय प्राकृत भाषा और साहित्य के विकास को लेकर है। जिसमें प्राचीन और आधुनिक व्याकरणों भाषाविदों और शोधकर्ताओं द्वारा अब तक किये गये कार्य के आधार पर संक्षिप्त विकासरेखा प्रस्तुत की गई है। तत्कालीन सामाजिक आर्थिक राजनैतिक और धार्मिक परिवेश में प्राकृत भाषा और साहित्य के विकास को सविस्तार समझा गया। प्राकृत का भाषावधि उपलब्ध साहित्य ६०० ई० पूर्व से आरम्भ होकर १८०० ई तक आता है। परन्तु मूलत उसका काल ६०० ई० पूर्व से १ ई० तक रहा है। शिलालेखी प्राकृत, बाह्रिर्भारतीय प्राकृत धार्मिक प्राकृत, वैयाकरणों की प्राकृत साहित्यिक प्राकृत, नाटकीय प्राकृत, मिश्र संस्कृत या गाथा डायलेक्ट सभी पर संक्षेप में सप्रमाण विचार किया गया। विशेषत प्राकृत साहित्य की प्रमुख कृतियों—यथा समराइच्च कहा धूर्ताख्यान कथाकोष-प्रकरण कथा महोदधि ज्ञानपंचमी कहा तरंगवती कथा, सिरिसिरिवाल कहा पउम चरिउ,

सेतुबन्ध, गौडवहो, भाषा उप्पत्ती, बज्जालग, लीलावई कहा आदि का विषय की अनुकूलता के आधार पर अध्ययन किया गया। नाटकीय प्राकृत और प्राकृत मुक्तकों की परम्परा को ठीक से समझने की चेष्टा की गई।

दूसरे अध्याय में अपभ्रंश भाषा और साहित्य के विकास को समझने की चेष्टा है। इस अध्याय में 'अपभ्रंश सम्बन्धी विचार विमर्श व्यापकता से किया गया है, क्योंकि हमारे डिंगल साहित्य की अधिकांश प्रवृत्तियों के मूल हमें यहीं पर दीख पड़ते हैं। अपभ्रंश, अवहट्ट और देसी संज्ञाओं को लेकर सप्रमाण व्याख्या की गई है और विकासपरम्परा निश्चित की गई। चरित, कहा, रासक, रास, चर्चरी, फागु, सता, वेलि, रसायन प्रकाश, कौमुदी, संकीर्तन, विलास विजय रूपक आदि नाम देकर प्रशस्तिमूलक प्रबन्धकाव्य लिखने की परम्परा का प्रादुर्भाव इसी युग में हो गया था। अपभ्रंश और अवहट्ट की प्रमुख कृतियों यथा पउम चरिउ, महापुराण, भविसयत्त कहा, हरिवंशपुराण, णायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ, जंबुसामि चरिउ, सुदंसण चरिउ, करकंडु चरिउ, पउमसिरि चरिउ, सुकुमाल चरिउ, सन्देशरासक, कीर्तिलता, पाहुडदोहा, सावयधम्म दोहा आदि पर विस्तार से काव्यरूपों के आधार पर प्रकाश डाला गया। इसी प्रकार अपभ्रंश के मुक्तक काव्यपरम्परा का विकासात्मक व मुक्तात्मक अध्ययन किया गया। अपभ्रंश छन्द की विशेषताओं को भी परखा गया।

तीसरे अध्याय में डिंगल और उसके साहित्य का विवेचन है। डिंगल सम्बन्धी समस्त समस्याओं पर सप्रमाण विचार किया गया है और निर्णय लिया गया है। साथ में तत्कालीन परिस्थितियों के परिवेश में डिंगल साहित्य का विकासात्मक अध्ययन किया गया है। प्रकाशित एवं अप्रकाशित दोनों प्रकार के ग्रंथों की समीक्षा विषय प्रतिपादन की दृष्टि से की गई। चारण भाटों के साहित्य के अन्तर्गत प्रमुख प्रबन्ध काव्यों पर विचार किया गया। रासो, प्रकाश विलास रूपक वेलि आदि संज्ञावाली रचनाओं के विभिन्न आधारों का अध्ययन कर इस नामकरण की विशेषताओं को परखा गया। डिंगल के इस काव्यरूप का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया। साथ ही मुक्तक के रूप में दोहे तथा अन्य छंदों को लिया गया। डिंगल गीतों के रूप-विन्यास को लेकर भी चर्चा की गई। अपने इस अध्ययन में उन रचनाओं पर भी विचार किया गया जो भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से पिंगल की रचनाएं हैं, किन्तु जो डिंगल काव्यरूपों के अध्ययन के लिए उपयोगी हैं। ऐसी रचनाओं में पृथ्वीराज रासो और वंशभास्कर हैं जिनकी भाषा और शैली अनेक स्थलों पर डिंगल से अभिन्न हो जाती है। श्रीधर का रणमल्ल छंद कल्लोलकृत ढोलामारूरादूहा, बीठू सूजाजी रचित राव जैतसीरो छंद केशवदासकृत गुण रूपक पृथ्वीराज की वेलि क्रिसन रुकमणीरी, सांयां झूला रचित नागदमण और रुकमणी हरण, माधोदास का रामरासो, किशोरदास प्रणीत राजप्रकाश, बागाजी रचित रतन रासो, जोगीदास का हरिपिंगल प्रबन्ध बारठ का वीरमायण, करणीदानकृत सूरज-प्रकाश किसनाजीआढ़ा रचित रघुवर जस प्रकाश, पद्मनाभ लिखित कान्हड़दे प्रबन्ध, सेवगी का भाषा भारत, वीरभाण

कृत राजरूपक, मंछाराम का रघुनाथरूपक आदि ग्रंथों पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया। राजस्थानी गद्य का विकास भी पूरी तरह समझा गया। ख्यात बात प्रसंग वचनिका, दवावैत, वात्तवाम, इतिहास भट्टावलि आदि रूपों का विस्तृत अध्ययन किया गया।

चौथा अध्याय डिंगल की प्रधान प्रवृत्तियों और काव्यरूपों को लेकर चलता है। 'रासो' काव्यरूप का विकासात्मक अध्ययन किया गया। प्रबन्ध प्रकाश विलास, रूपक, छंद, वेलि आदि विभिन्न नामों से पुकारी जाने वाली रचनाओं का अध्ययन कर डिंगल प्रबन्धकाव्यों के स्वरूप के बारे में कुछ निष्कर्ष निकाले गये। पवाड़ा नामक काव्यरूप की परीक्षा करने से ज्ञात हुआ कि उसे भी वीरचरितात्मक खण्ड-काव्य के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। झमाळो, झाल्याल मंगल आदि नाम भी प्रबन्ध काव्यों के ही है। प्रबन्धकाव्यों से सर्वथा भिन्न किन्तु एक विशेष प्रयोजन को लेकर चलने वाले भी अनेक काव्य ग्रन्थ डिंगल में उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ तो ऋतुकाव्य है यथा फाग बारामासी व संदेसो और कुछ एक ही विषय पर लिखित मुक्तकों के संग्रह हैं—जैसे बांकीदासजीके अनेक ग्रन्थ। डिंगल मुक्तकों के दोनों प्रकारों—यथा दोहों, कवित्त कुण्डलियां आदि तथा डिंगल गीतों का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया गया। डिंगल गीत डिंगल साहित्य की अपनी विशेषता है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। डिंगल के विभिन्न गद्यरूपों ख्यात, बात, दवावैत, वचनिका, संवाद, बात्याल आदि विधाओं का विस्तृत अध्ययन किया है और डिंगल की प्रमुख विशेषता 'वयण सगाई' पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है।

पाचवां अध्याय प्राकृत व अपभ्रंश के डिंगल साहित्य पर पड़े हुये प्रभाव का मूल्यांकन करता है। प्राकृत और विशेषकर अपभ्रंश के विभिन्न काव्यरूपों और कृतियों के आधार पर डिंगल रचनाओं की परीक्षा की गई। अपभ्रंश के विविध काव्यरूपों में से कुछ का सम्बन्ध सीधे जनता से रहा, इसलिए जब समयानुसार भाषा में विकास हुआ तो ये काव्यरूप परवर्ती भाषा में भी प्रयुक्त होने लगे। यही कारण है कि डिंगल के अधिकांश काव्यरूपों की परम्परा अपभ्रंश से जोड़ी जा सकती है। दोनों प्रकार की रास परम्परायें प्रेमाख्यानक पद्धति लोकजीवन से सम्बन्धित मुक्तक, तुकान्त-छंद ये सभी डिंगल को अपभ्रंश के द्वारा प्राप्त में मिले हैं। ऋतु वर्णन ध्वन्यात्मक भाषा का प्रयोग, दीर्घसूक्तियां देने का रिवाज और युद्ध वर्णन करने की पद्धति की परम्परा अपभ्रंश के द्वारा ही आई है। अपभ्रंश की पुराने छंदों को मिला कर नवीन छंद गढ़ने की प्रवृत्ति का डिंगल में खूब प्रचलन हुआ। समानताओं और असमानताओं दोनों पर विस्तृत विचार किया गया है।

इस समूचे अध्ययन से भारतीय साहित्य परम्परा की अखण्डता का बोध होता है। वस्तुतः डिंगल साहित्य का विकास ही प्राकृत अपभ्रंश की साहित्यिक परम्परा

दाढा दाढा दाढा दाढा[1]
दाढा दाढा दाढा दाढा।

एक और दो चतुष्कलों का प्रास। इसके बाद पाखवती पर विचार करेंगे।

पाखवती

पुनियो मंहु चाप कंप टोपाखी,
धाम जनक मिलिया रजधाणी।
हुवो कठै पोरस कुस हाथी,
जब तैं सिया वरीकर जाणी॥

—वही पृ० १६६

दुमेल और पाखवती में मात्र इतना ही अन्तर है कि जहां दुमेल में दो-दो पंक्तियों का प्रास होता है वहां पाखवती में चारों चरणों में एक ही प्रास होता है। इसी प्रास के आधार पर दुमेल को अर्धपाखवती के नाम से भी पुकारा जाता है। इसमें भी प्रथम पंक्ति में दो मात्राएं अधिक आती हैं। इसी पाखवती के तीसरे चरण को प्रासमुक्त रख पहले, दूसरे और चौथे चरण का एक ही प्रास रखने से अडलुपत गीत हो जाता है। अड का अर्थ डिंगल में पद होता है। इसमें एक पद मे अर्थात् तीसरे चरण में प्रास लुप्त होता है, इसी से इसका नाम अडलुपत हुआ।

अडलुपत

डेरा रोपया उत्तर दिस वारण,
मन नहचै लंकेसुर मारण।
अनै विचार करे सिधमीवर
धरै अगम मरजादा धारण॥

—वही पृ० १७८

इसमें भी प्रथम पंक्ति में तीन मात्राएं अधिक होती हैं, ऐसा रूपक में उल्लेख है। किन्तु तीन मात्राएं इस उदाहरण में अधिक नहीं हैं अतः या तो प्रस्तुत उदाहरण ठीक नहीं है अथवा नियम में अन्तर होना चाहिए। रघुवरजसप्रकासकार पहली पंक्ति में दो ही मात्राएं अधिक हों, ऐसा निर्देश करता है और उदाहरण 'डेरा रोपिया उत्तर दख वारण' देता है। इसे प्रामाणिक माना जाना चाहिए।

ईलोल

मन्दोवर! बोलै भूलमती,
अब आछी वारज सांभळती।
अब आवर वारज सांभळती,
मुह मई मोलै भूलमती॥

—वही पृ० १६६

इसका लक्षण है—प्रत्येक पंक्ति में चार चतुष्कल, अन्तिम चतुष्कल सगण अर्थात् ल ल गा, चारों ही पंक्तियों का एक ही प्रास और दूसरी पंक्ति के शब्दों की तीसरी पंक्ति में पुनरावृत्ति। उत्थापनिका नीचे अनुसार होगी —

।   ।   ।   ।
दा] दादा दादा दादल दा

अन्त में गुरु, पीछे की पंक्ति के साथ मिल कर चतुष्कल का निर्माण करता है। उल्लिखित पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति डिंगल के अनेक छन्दों में मिल जाती है।

उर्मंग

कढिया मृगनाभ लिया कर में,
रचना कहु सुपनखा वर में।
मारी इक तीर उसी नर में
तिसकी न सही सुपनन्तर में ॥

—वही पृ० १११

रघुनाथ-रूपकसार के अनुसार सोलह मात्रा अन्त में गुरु और चारों ही पंक्तियों में एक ही प्रास उर्मंग का लक्षण है। परन्तु पाठ करके देखने पर इसमें भी ईसोल के समान ही पहले निस्ताल आ जाता है। अन्तर मात्र इतना है कि ईसोल के अन्त में गालल आ जाता है इसमें अन्त में दादा मा होता है। उत्थापनिका —

।   ।   ।   ।
दा] दादा दादा दादा दा

सावक भजन

दासरथी लिछमण सुत दसरथ,
दोऊ सुभे सिधारे दसरथ।
दीहु उचाटी कीधे दसरथ,
दीधी प्राण पचाड़ी दसरथ ॥

—वही पृ ११२

यह चार चतुष्कलों की सोलह मात्राओं की सादी रचना है। इसकी एकमात्र विशेषता यही है कि एक ही चतुष्कल शब्द हर पंक्ति के अन्त में आता है। इसका एक दूसरा रूप भी है। यथा —

निरखे अचाखी नर निजर
यहु देखे दसरथ नृप निजर।
निज देखे यहु अंबर निजर,
नर दीठा जिवरखा सह निजर ॥

—वही पृ० १११

पहले उदाहरण और इसमें फर्क इतना ही है कि यहाँ अन्त्य चतुष्कल की एक मात्रा खंडित है और यह त्रिकल नगण बन जाता है जो चारों पंक्तियों में प्रयुक्त होता है । अब सेलारछन्द पर विचार किया जाय ।

सेलार

तपसीरो रूप धरे मतवाई,
धड़ंग कुटी गह सीत धठाई ।
सिवरू पुकारी साव सुणीजै,
कीजै हो हरि ! बाहर कीजै ॥

—वही पृ० ११५

यह भी एक चतुष्कल, सोलह मात्रा की रचना है । दुमेल के सदृश इसकी पहली पंक्ति में दो मात्रा अधिक होती हैं । अंतिम अर्थात चौथे चरण में विधि नाम का शब्दालंकार प्रयुक्त होता है । विधि नामक इस शब्दालंकार के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती । रणपिंगल में विधि शब्द का प्रयोग न कर मात्र शब्दालंकार का उल्लेख है । (पृ० ७४) रघुनाथरूपककार ने जो गीत उदाहरण स्वरूप दिया है उसमें प्रत्येक पद के अंतिम चरण में 'कीजै हो हरि ! बाहर कीजै', 'धीरो रे आयो हूँ धीरो' 'आवो रे नम मारग आवो', 'दीजो रे प्रभुनू सुव दीजो', 'छोड़ रे तन छील न छोड़' इस प्रकार आता है । इसके सहारे विधि अलंकार की कल्पना की जा सकती है । इस प्रकार सामान्य द्विरुक्ति से उत्पन्न प्रभाव के आधार पर डिंगल ने नये छन्द बनाये हैं । अब डिंगल का सवैया छन्द लिया जाय जो हिन्दी के बहुप्रचलित सवैया से भिन्न है । नीचे डिंगल के सवैये का उदाहरण देखिये ।

सवैयो

परहस्त पटै, कर शूल कटै ।
मिटवांण मटै इणमांय हटै ।
रतकुंभ अमावध राम रटै ।

—वही पृ० १९८

रघुनाथरूपककार के अनुसार इसमें दो दो सगण के चार पद आते हैं और पांचवां पद सोलह मात्राओं का मिलता है तथा पांचों पदों के प्रास मिलाये जाते हैं । किन्तु अंतिम पंक्ति के स्वरूप को देखते हुए इसे सोलह मात्राओं की त्रिपदी मानना उचित जान पड़ता है । इसकी उत्थापनिका निम्न होगी —

ललगा ललगा' ललगा ललगा ।
ललगा ललगा' ललगा ललगा ।
ललगा ललगा ललगा ललगा ।

इस प्रकार की अन्तर प्रासयुक्त त्रिपदी अत्यन्त विरल है । इसके बाद भंवरो छन्द पर विचार करेंगे । उसे मैं अपने ढंग से इस प्रकार लिखना चाहूँगा ।

झमको

पूछी मो आमल आम प्रभा।
पितु बंधु न दिसै अब प्रभा।

सब-राज न रंग न रंग भरा, बन राज न रंगम राज सभा।

पुतर चर मांग्यो नृप पासं।
यह सो सुत जो सिय सिय पासं।

श्रीराघव लिछमन लिछमन रघव, राघव लिछमन बनवासं।

रघुनाथरूपक के अनुसार झंकळा गीत में प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। प्रथम द्वितीय और चतुर्थ चरण में प्रास होता है। तीसरे चरण में आदि में दो मात्राएं, मध्य में दो चतुष्कल और अंत में एक षटकल रहता है। तीसरे चरण में जो चतुष्कल हो वही पलट कर चौथे चरण में आये। इस प्रकार इसे चतुष्पाद रचना *किया गया है। किन्तु मैं इसकी गणना त्रिपाद में करता हूं।* तीनों चरणों में एक ही प्रास आता है, पहली दो पंक्तियां चार चतुष्कल, सोलह मात्राए लिये होती हैं, तीसरा चरण आठकल की बत्तीस मात्राओं की ऐसी पंक्ति होती है जिसमें शब्दों का पुनरावर्तन होता है। पुनरावृत्ति की यह पद्धति डिंगल में बहुत प्रचलित है। डिंगल के अधिकांश छन्द लयकार के साथ पढ़े जाते हैं अत उनमें नाद-सौन्दर्य और प्रभाव शीलता उत्पन्न करने के लिए इस प्रकार शब्दों अथवा ध्वनियों की आवृत्ति की जाती है। झंकळो की उत्थानिका निम्न होगी —

```
        |    |    |    |
दा ]  दादा दादा दादा गा
        |    |    |    |
दा ]  दादा दादा दादा गा
        |    |    |    |    |    |    |    |
दा ]  दादा दादा दादा दादा दादा दादा दादा गा
```

तीनों ही पंक्तियों के अन्त में एक ही प्रास।

डिंगल छन्दशास्त्र में सोलह से भी अधिक लम्बी रचनाओं को सोलह मात्राओं के आधार पर ही निरूपित किया गया है किन्तु मैं अपने तरीके से उनका अध्ययन करूंगा। सबसे पहले हम झंवकड़ो पर विचार करेंगे।

झंवकड़ो

अंबर भेजियो सद दूत अपंपर, जस जकला मजबूत महारगो।
नव छिनधार दूत जस बैठो रचे सभा अदभूत रहारगो॥

—वही पृ० १०९

सुपंख में जिस प्रकार गीत के प्रथम चरण में तीन मात्राए अधिक आती हैं उसी तरह यहां भी तीन मात्राए अधिक होती हैं। उसके बाद दादा के आठ आवर्तन

होते हैं। सोलह मात्राओं पर यति आती है। 'म ग' अथवा अन्त में बोल कर चतुष्कल पाठ करने से ठीक बत्तीसा सवैया प्राप्त होता है। यद्यपि डिंगल छन्द शास्त्रियों ने इसे सोलह मात्रा का चतुष्पाद छन्द माना है मैं इसे बत्तीस मात्राओं का छन्द गिनता हूँ अत मेरे निरूपण के अनुसार यह छन्द द्विपाद बन गया है। अन्य बत्तीस मात्राओं वाले गीतों के निरूपण की मेरी पद्धति यही है, अत उनमें भी चतुष्पाद छन्द द्विपाद के रूप में ही ग्रहीत है। अब छोटो सांणोर पर विचार किया जाय —

छोटो सांणोर

एकण दिन अमर सकल मिल आया करी अरज सांमल करतार।
राज बिना मारै कुण रावण, भू रो अवण उतार भार॥ १॥
इसा सबद मंडियो असुरांणों, संकट जी रो अकथ सह्यो।
दीनानाथ! तुम बिन दूसरी किणने जाय पुकार इ कह्यो॥ २॥

—वही पृ० १८

इस गीत के प्रथम चरण में दो मात्राएं अधिक हैं। रघुनाथरूपककार के अनुसार तीन मात्राएं अधिक होनी चाहिए थीं किन्तु ऐसा नहीं है। छोटो सांणोर गीत के चरण विकल्प से इक्कीस और तीस मात्राओं के होते हैं। इक्कीस मात्राओं का चरण होने पर आठवीं यति गण आता है व तीस मात्राओं का चरण होने पर आठवीं संधि गण आता है। सांणोर के चार प्रकार हैं। पहला वेलिया गीत है जो इक्कीस मात्राओं का या मात्र छन्द है और दूसरा है सोहणो जो तीस मात्राओं का मात्र छन्द है। इन दोनों के उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। तीसरा प्रकार जांगड़ो सांणोर है जो अट्ठाईस मात्राओं का छन्द है। उदाहरण देखिए —

जांगड़ो सांणोर

पड़ियो मुरझाय सेस इम ऊपर सकत राण सुत सांसी।
परके मास बन परां धारा मुख कुमलाणा मांसी॥

—वही पृ० १९१

प्रथम पंक्ति में दो मात्राएं अधिक हैं, उसके बाद चतुष्कल चलते हैं। सोलह मात्राओं पर यति होती है। अन्त्य चतुष्कल में दो गुरु इष्ट हैं यद्यपि रघुनाथरूपक इसे कोई लक्षण नहीं मानता है। उसने एक लक्षण बताया है कि इस छन्द में कहीं कहीं मगण सगस अवश्य आना चाहिए। सांणोर का चौथा प्रकार खुड़द सांणोर है।

खुड़द सांणोर

व्याकुल थया सेस विभीषण बोले, कमलापतमू जोर कर।
अनुपवरल बीरज उर धरजै, हिम कीजै उपचार हर॥

—वही पृ० १९१

प्रथम चरण के द्वाले में दो मात्राएं अधिक हैं, अन्यत्र उनतीस मात्राओं का प्रयोग हुआ है। सोलह मात्राओं पर यति है और आठवीं संधि की तीन मात्राएं जहाँ लक्षित हों वहाँ मात्र एक ही लघु रहता है। उत्थापनिका देखिए —

दादा दादा दादा दादा' दादा दादा दालल ल

रघुनाथरूपककार सुद्ध साणोर का स्वरूप निर्देशित करते हुए अन्त में दो लघु मात्राओं का विधान करता है परन्तु दिये गये उदाहरण में सर्वत्र दालल न आया है। जो उसका वास्तविक स्वरूप जान पड़ता है।

पंखाळो

भरियो पग धमक इसी भम भारे धमक पिनाक चढ़ाय धरै।
महपत आय सयंवर माहै जसुधा कुमरी तिको बरै।।१।।
बाद हुवे इणकी परतिग्या सांभळ बात कहूं सुरसाल।
दसमन धार भाल दसरथ तण, मैं मन राम् वरी वरमाल।।२।।

—वही पृ० ७४

इसमें भी छोटे साणोर के समान ही तीस और इकतीस मात्राओं का विकल्प चलता है। तीस मात्राओं वाले छन्द की पंक्ति गान्त होती है और इकतीस मात्राओं वाले छन्द की पंक्ति गागान्त होती है। रघुनाथरूपक के अनुसार साणोर में गुरु-लघु का भेद है जो इसमें नहीं है। वस्तुतः यह कथन ठीक नहीं। यह भेद नाममात्र का ज्ञात होता है।

सिहचलौ

परगट हम भ्रात चढ़ू परणीजै माग कियावा मारिया।
सांभां हुवे उजोड़ा डेरा पाछा वीर पधारिया।।१।।

—वही पृ० ८१

पहली पंक्ति में दो मात्राएं अधिक हैं उन्हें छोड़ कर इसका पठन विचारना होगा। इस गीत के विषम चरणों में छोटे साणोर गीत की विषम चरण की मात्राएं आती हैं। इसके सम पद तेरह मात्राओं के होते हैं और अन्त्य प्रास में रगण होता है। उत्थापनिका यों होगी —

दादा दादा दादा दादा दादा दादा गालगा

इसके बाद इसी से मिलती जुलती रचना सहणाल पर विचार करें।

सहणाल

सुत भ्रात कटे सक बीह बधे धक
बीस भुजाण बिचारियो जी।
गिरधीगां बानर गैम गमुल्लर
भेळ दसों मन धारियो जी।।१।।

—वही पृ० २११

पहली दो मात्राएं निरर्थक मान लेने पर शेष जगण के छह आवर्तन आते हैं । अन्त में जगण भी आता है जगणों के आवर्तनों में कहीं-कहीं भगण भी आ जाता है । रघुनाथरूपककार के अनुसार विषम चरणों में दस मात्राओं और आठ मात्राओं पर विश्राम होता है । सम चरणों में आठ मात्राएं रख कर एक रगण के बाद भी छन्द होता है । इसके बाद अमेल नामक छन्द पर विचार किया जायगा । अमेल अर्थात् जहां मेल नहीं हो । समूचे डिंगल गीतों में यही एक मात्र अतुकान्त रचना है । रघुनाथरूपककार ने इसका कोई लक्षण नहीं दिया है किन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि अमेल सावझोर और पंखाला जैसा तीस और इकतीस मात्राओं का छन्द है जो प्रास विहीन है ।

अमेल

सबरी बन माहिं प्रीत सु साचो उदर बढै दरसण अभिलाखा ।
आयण जभे सहोदर आया जिमवण नायक पेख वढै ॥१॥

—वही पृ० १४१

अब अरटियो गीत को परखें —

अरटियो

एकण दिहाड़े मुनिराज अयोध्या कौशक आवण कीधो ।
राजाकुल मिले रिपराजा, यो मख आसन दीधो ॥१॥

—वही पृ० ९४

यह गीत अट्ठाईस मात्राओं वाला चतुष्पाद है । अन्त में दो गुरु होते हैं । रघुनाथरूपक के अनुसार जगण का प्रयोग वर्जित है । प्रथम पंक्ति में तीन मात्राएं अधिक हैं । ओपतो सावझोर और अरटियो में इतना ही फर्क है कि जहां अरटियो में जगण अर्थात् मध्य वर्जित है वहां ओपता सावझोर में उसका होना आवश्यक है । अब अरट लिया जाय —

अरट

हुम राज करे अवनींद अयोध्या मेल कंधी निपतेय ।
कंधा भीत उधोयत आसम ओप चढ़ै अवडेय ॥१॥

—वही पृ० ९२

यह सत्ताईस मात्राओं वाला चतुष्पाद छन्द है जिसके अन्त में गाल आता है । पहली पंक्ति में दो मात्राएं अधिक होती हैं । इसकी उत्थापनिका निम्न होगी —

। । । । । । ।
दावा दावा दावा दावा' दावा दावा गाल

अब प्रहमुखर गीत का विवेचन किया जायेगा ।

झमुमट

तरवर वन सिखर ओवती सरतर कर सारंग सुम्मीर कर।
वर सोहा दीठो अंग रघुवर पर वर पडिमो वरण पर ॥१॥

—वही पृ० १४०

इस रचना का निर्माण कुडल-सावोर में प्रास की मिलता के आधार पर हुआ है। इसकी बनावट समझने के पहले उत्थापनिका पर गौर करना सरल और व्यावहारिक होगा।

सम सप्रदा दादा दादा दासस' बलदा दादा दासल स
बलदा दादा दादा दासल' बलदा दादा दासल स

पहली दो मात्राएं चरण में अधिक हैं। कुडल सावोर के अनुरूप ही इसमें भी चार यतियां हैं। अन्त में रघुनाथरूपककार के मत में दो लल—किन्तु मेरे मत में तीन लल आवश्यक हैं। इसकी एक अन्यतम विशेषता यह है कि प्रत्येक चरण का आरम्भ और अन्त लल से होना चाहिए, यही नहीं प्रत्येक यतिखण्ड के शुरू के दो लघु अक्षर ही उसके अन्त में आते हैं। इन चारों यतिखण्डों का प्रास भी मिलता है।

हंसावली

पयधररा मयण अमतरा पालग, धररा अवस संतरा धाय।
वररा विमण वगतरा वच्छल, नररा कम नमो रघुनाय ॥१॥

—वही पृ० १४८

पहली दो पंक्तियों में दो मात्राएं अधिक हैं। यदि उन्हें बाद कर दिया जाय तो शेष इक्कीस मात्राओं का क्रम रह जाता है। इसमें रा की—जो डिंगल में षष्ठी का प्रत्यय है बार-बार आवृत्ति होती है। साथ में उल्लेखालंकार का प्रयोग रहता है। यह गीत हंसावली कहलाता है। उल्लेखालंकार में किसी एक व्यक्ति के अनेक गुणों का बहुविध उल्लेख होता है। रघुनाथरूपककार ने लक्षण और दृष्टान्त इस प्रकार दिया है।

बहु विधि बरनें एक को, बहुगुन सो उल्लेख।
तू रन अर्जुन तेज रवि, सुरगुर बचन विशेष ॥

अब इसी से मिलते-जुलते पाडमत गीत पर विचार किया जाय। इसमें हर पंक्ति के पहले शब्द के आगे आगडदी शब्द आता है। सम्भवतः भाव-सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए ही इस पद्धति का उपयोग किया गया है। उदाहरण देखिए—

पाडमत

गंगाग्डदि दुहुओडी दल माझ तागडदि तबल बाजे रिणातूर।
राग्डदि राम रावण जुध रोपे सागडदि समाम बडे सजपूर ॥१॥
मागडदि भूत ओपम जब भैरव वाग्डदि अमर अपछर वर वांच।
पाग्डदि प्रबल परवर दुर पेखत, बाग्डदि व्योम सुर भ्रमा विमांच ॥२॥

—वही पृ० २११

डिंगल की पद्धति के अनुकूल ही इसमें भी अधिक मात्राएं हैं। मन लक्षण निर्धारण के लिए मैं दूसरी कड़ी लूंगा। पठन से ज्ञात होता है कि यह अनुप्रास रचना है। रचानुसारी शब्दों को अलग रख यदि विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि उससे तीन लघु बनते हैं। इन तीन लघुओं से कहीं सर्व लघु चतुष्कल बनते हैं और कहीं ललललगालला अष्टकल बनते हैं। उदाहरण देखिए —

पावड़ि प्र भल पर, पर पुर पेलल,
वावड़ि व्योम सुर छपा वि भोम

पहले यतिखण्ड में ललललल, ललल ललल, गालल इस प्रकार चार चतुष्कल पड़ते हैं और दूसरे में ललललगाललल, ऐसा पहला अष्टकल आता है और इसके बाद लगाल, भाल संधियां आती हैं।

सतरखों

आया भूम भार सेसम् आवे, बंबर ! गुणो सवीता।
बारुण फूटो विर्हणो दीसे राहो पमाई सीता।
रे मन मीता रे मन मीता किण विध कीजिये ॥१॥

—वही पृ० ११८

पहली पंक्ति में दो मात्राएं अधिक हैं। पहले दो द्वाले चौपड़ा साणोर के हैं। तीसरी पंक्ति के अन्त में मालया है। तीसरी पंक्ति में अष्टकल का उपयोग सम्बोधन सूचक शब्द के साथ सबसे पहले किया जाता है जिसे पुन दुहराया जाता है। इसके बाद नौ मात्राओं का पद रखा जाता है जो टेक की तरह हर द्वाले के अन्त में प्रयुक्त होता है। उपर्युक्त गीत के अन्य द्वालों का गठन इस प्रकार है—रे रंग खोटे रे रंग खोटे किण विध कीजिये। रे सुण भावें रे सुण भावें किण विध कीजिये। रे वृतधारी रे वृतधारी, किण विध कीजिये आदि आदि। अब हम दीपक गीत लेंगे। इसके स्वरूप को आसानी से समझा जा सके इसलिए मैं उदाहरण को नये ढंग से लिख रहा हूं —

दीपक

इसबर सीस सेस चढ़ रच ऊपर दहक सारथी चढ़े तुरंग।
मगर हसक हार्ल नरमारी
बर बंधो छोड़े बरधारी।
मिल ताणू दी सीख उमंग ॥१॥

—वही पृ० १०९-११०

तीन अधिक मात्राओं को यदि नहीं गिना जाय तो पहली पंक्ति इकतीस मात्राओं की गालान्त है। बाद की दोनों पंक्तियां सोलह मात्राओं की चौपाई सी गुरुवान्त हैं। चौथी पंक्ति पन्द्रह मात्राओं का पद है जिसका प्रास पहली पंक्ति से है। यह एक अति सुन्दर छन्द है। तीन अधिक मात्राओं को छोड़ कर उत्थापनिका यों होगी —

दाता दाता दाता दाता, दाता दाता दाता भाल'
दाता दाता दाता दाता
दाता दाता दाता दाता
दाता दाता दाता माल''

भाल के साथ माल का और बीच की दो पंक्तियों में दाता के साथ दाता का प्रास मिलता है।

चोटियो

चढ़ै माबरी रिम रोपण लंका बंधु सुग्रीव बकारै।
ऊठै सुण घुमअक्कप्रमायो भीम क्रोध उर धारै।।
हूं हिव भखियो पगमांड हकारै ।।१।।
मीने जाय भलाइक मारयो धाम कूम विण लेखा।
जादव वंश देवकी जामण, धर अवतार धरेखा।।
दाखै दसरथ सुत जबलो यव देखां ।।४।।

—वही पृ० १२३-१२४

पहली कड़ी में तीन मात्राएं अधिक हैं अतः हम स्वरूप-निर्देश के लिए दूसरी कड़ी ही लेंगे। पहली दोनों पंक्तियां अट्ठाईस मात्राओं की गागान्त हैं। अंतिम चरण में रघुनाथरूपक के अनुसार उन्नीस मात्राएं मगान्त होनी चाहिए। जिसका प्रास भी अन्य दोनों पंक्तियों से मिलना चाहिए। अब चित्तविलास नामक विचित्र गीत लेंगे।

चित्तविलास

हनुमारे ! रे हनुमारे !
हर एक काम सिधारे।
महाराजाधिराज सुग्रीव मनारा सारा कारज सारे।
कोधो भूप पुरी किष्कंधा दोयण दूर विदारे।

रे हनुमारे।
रघुराजा ! रे रघुराजा !
रिध मुक्त निर्भय दराजा।
चौमास रहे वे प्रात पूर्णिमा ताम घटे घन ताजा।
देखे राम पयोधर वामण सीत विरह तन छाजा।
रे रघुराजा !

—वही पृ० १२८-१२९

यह बड़ा झटपटी रचना है गेय है और चतुष्कलों से निर्मित है। नीचे उसे चतुष्कलों में—दाता संधियों में पृथक्कृत प्रदर्शित किया गया है।

मनु] । पा रे । रे मनु । पारे ।
दा । दादा । दादा । दादा । दा
सर । ए का । बालसि । पारे । रे मनु । पारे ।
दा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दा
महा । राजवि । राजमु । प्रीत मा । गोरा । सारा । कारज । सारे
दा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा
। कीधो । सुप पु । रीके । कंपा । पोषण । दुरवि । बारे । रे मनु । पारे
। दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दा
रघु । राजा । रे रघु । राजा । —
दा । दादा । दादा । दादा । दा
रिप । मुकवि । दंद द । राजा । रे रघु । राजा । —
पो । मास र । आदि आदि
दा । दादा ।

इस प्रकार से प्रस्तुत छंद की चतुष्कल व्यवस्था हो सकती है। रघुनाथरूपक के अनुसार षट्कल दो बार प्रयुक्त हों। उसके मध्य में एक गुरु अक्षर का संयोजन रहना चाहिए। इसके बाद चौदह मात्राओं का समास पद होता है। तत्पश्चात् बरटिया गीत का एक हाका आता है, जिसका अन्त प्रारम्भ के प्रथम पद के अन्त के शब्द से ही होता है। अब निसाणी संज्ञक गीतों पर विचार किया जाय —

शुद्ध निसाणी

सिंघ अजा सामस समत पीवै इक पाणा,
तसकर दबे उलूक ज्यूं ऊगां किरणाळां।
पड़ी न छेड़ै पारकी चितु धरम विचाळा
ऐसा राज करै अनम दसरथ नृप-आसा ॥

—वही पृ० २७०

उत्थापनिका निम्न होगी —

दादा दादा दालदा' दादा दादा दा।

यहाँ प्रत्येक चरण में तेरह और दस कुल तेईस मात्राएं हैं। तुकांत में दो गुरु हैं।

परवठ निसाणी

दृढ़ प्रताप आडू दिसा पसरै अवनी पर।
रिपु कमल फूलै निहर भाव चक हरमर ॥
मिस अनीत अरु तेस नह तह के दुख तोमर।
सूरजकुल सूरज तपै जह तेज दिवाकर ॥

—वही पृ० २५०

उत्थापनिका —

दादा दादा दालदा दादा दादा लल

शुद्ध निसाणी के अनुरूप ही इसमें दोहे की अर्द्धालि और दस मात्राएं हैं। शुद्ध निसाणी के अन्त में गा गा इसमें उसके स्थान पर लल होते हैं।

निसाणी पम्मार

जिण पुर गुपराजै नगरम गाजै केवल मेव भूपावंदा।
सब रहे ठिकाने हुकम प्रमाणे मारुत मदे भजाइ या॥
काभाव भरावें भय नहीं भावें भय दुख दीना भावंदा।
राजन राजिन्दा अवनति नंदा ऐसा राज दिया चंदा॥

—वही पृ० १७१

इसकी उत्थापनिका निम्न है—

दा दादा दादा दादा दादा' दादा दादा दादा गा

यही छंद गुजराती में कुछ अन्तर के साथ पद्मावती के नाम से प्रचलित है। दस और आठ मात्राओं में प्रास फिर चौदह मात्राएं तुकांत पद। कुल ३८ मात्राएं। गुजराती के कवि दलपत राम द्वारा दिया गया लक्षण उदाहरण है—

दश आठे आखा करि अनुप्रासा उपर कला चौदे आवे
पद्मावती नामे छंद सुकामे गुणवन्ता कविजन गावे।

—दलपत,पिंगल पृ० २१

अन्तर निसाणी में और पद्मावती छंद में मात्र इतना ही अन्तर है कि निसाणी में चरणान्त में तीन गुरु होने का विधान है ऐसा कोई बन्धन पद्मावती के लिए नहीं है।

निसाणी पैडी

जिण रहवत सात सुखां सरसाई सातू ईत भीत नहुकाई
निरखत नयन नगन कर नीरख घेरत नगर अरंदा है।
पट रित ही सफल कुसुम बन सरसत पट ही सास उपावे हरषत
बारह मास सदा मन भाया पावस पूर भरंदा है।

—रघुनाथ रूपक गीतांरो पृ० २७२

इसकी उत्थापनिका इस प्रकार होगी—

दा] दादा दादा दादा दादा' दादा दादा दादा गागा
दादा दादा दादा दादा दादा दादा गागा गा

इसके प्रत्येक पद में अठारह सोलह और सोलह मात्राएं लगाकर प्रास मिलाया जाता है और फिर अन्त में यगण सहित चौदह मात्राएं कही जाती हैं।

निसाणी सिर खुली

नापे मोर निहारे महिफल करारे,
मूपक सीस न भारे भाल मंजारियां ।
माहोमाह न मारे वैर कुरवाहरां
ऐसे तेज मझारे राजे रघुपति ।।

—वही पृ० २७१

बारह मात्राओं पर यति और प्रास, फिर भी मात्राओं का पद जोर रखा जाता है। उत्थापनिका होगी —

दादा दादा दादा' दादा गागगा

निसाणी सोहणी

फिरै नवीता ग्वालिया वायो सिय करै रखवाली ।
निघड़क एण निसंग सू वाघासेण सगाफर आली ।।
चिड़ियां बाद विहंग वन बाजों हुत हुसे दे ताली ।
बधै गरीवां वस इधक ऐसी धाक सियावर आली ।।

—वही पृ० २१४

उत्थापनिका इस प्रकार होगी —

दादा दादा दागदा' दादा दादा दादा गागा

पहले यति खंड में दोहे का पहला यति खंड उसके बाद चार चतुष्कल और गागान्त है।

निसाणी रुपमाला

नामन चार बेर के बखता आयम वृष्टी आन पुरन्दर।
साहूकार सको बजबंधी दूखी जात असेप कुरंदर ।।
छारा ही सुखपूर विचारै निरत ओर नरेस उरंदर ।
ऐसी राम प्रसा जिस आगे देखत भागे सहज पुरन्दर ।।

—वही पृ० २७४

यह एक बत्तीस मात्राओं का छंद है जिसकी अंतिम संधि भागल होती है। चारों चरणों में प्रास।

निसाणी मार

बाम धाम जग होम वेद धुन रिव अभिराम ररंदे ।
दयावंत मठ साह मोम दिल हित परपीड़ हरंदे ।।
पवन अबर जिह से सुखी अपारां बन ब्रह पुर बरंदे ।
अवल नीति जयजीत अयोध्या रघुवर राज करंदे ।।

—वही पृ० २७५

उत्थापनिका — दादा दादा दादा दादा' दादा दादा गागा

यह सोलह और बारह कुल मिलाकर अठ्ठाईस मात्राओं का छंद है अन्त में दो गुरु और चारों चरणों में प्रास।

निसाणी सीमर

अटतीसु बंस वंश जिलधारी विग्रह क्रम करारा है।
पू मामें आप करे निबरायां से बन जिके चरारा है॥
बर बर का हुउ वई चक पूजें जिस बल पड़े दरारा है।
कमसस्यालंद अखी का रैणा ऐसा तेज करारा है॥

—वही पृ० २७७

उत्थापनिका —

दा] दादा दादा दादा दादा दादा दादा गागा गा

अठारह और चौदह – कुल बत्तीस मात्राए। प्रासांत में मगण।

निसाणी झुमिला

इंद बजा के होत धार अनुबंका धार।
पल छ साल पुमजी पुकार छंद नवरा सारा।
चोरी परचित हरण नार नर चोरी नार।
ऐसा राज करे उदार कमसल कंवार॥

—वही पृ० २७७-२७७

उत्थापनिका – दादा दादा दाललालदा दादा गाल

ऐसी चार पंक्तियों का एक छंद होता है। पंक्ति के मध्य में आये गाल के आगे यति तथा इस गाल और पंक्ति के अन्त में आये गाल का प्रास। इस प्रकार इस छंद में आठ प्रास। वैसे इसकी बनावट तेईस मात्राओं के रोला छंद जैसी है और बीच में गाल लाने के लिए दूसरी अष्टकल संधि दाललालदा करनी आवश्यक है।

निसाणी धार

सेमें ससि सूरज इन्द सिव ब्रह्मादि ब्रह्मा दु वारका।
जंपै धुम रसण हजार सु हरिगुण मित सीस हजार का॥
कह कह सह थका मंझ कही पंडत बन पारापार का।
बरणन कर कासु बरणऊं कमसलसिंह राजकंवार का॥

— वही पृ० २७८

उत्थापनिका इस प्रकार होगी —

दा] दादा दादा दालदा' दादा दादा दादा लगा

पन्द्रह और पन्द्रह कुल मिला कर तीस मात्राए। प्रासान्त में रगण।

चतुष्कल रचनाएं अब समाप्त हो गई हैं, अत त्रिकल रचनाओं को विचारार्थ लिया जा रहा है। डिंगल गीतों में त्रिकल रचनाएं अपेक्षाकृत कम हैं। सबसे पहले हम बोबो नामक गीत पर विचार करेंगे।

पहली पंक्ति में तीन मात्राएं अधिक होती हैं। उसके अलावा सवाया के नियम वाला झूलना ही जान पड़ता है। हां, इसकी एक अपनी विशेषता है और वह यह कि इसकी पहली पंक्ति के अन्तिम शब्द से ही दूसरी पंक्ति का आरम्भ होता है। इसी प्रकार तीसरी पंक्ति के अन्तिम शब्द से ही चौथी पंक्ति का आरम्भ होता है।

साथाल

सुण वयण अंगद कसह, गुमह सरसाविया,
धरक दलपान जिम त्रिकूट बल घावियां।
घाल चांपे पुरा हनुम मलचाविया।
अंतधप अर्कपम समर सज आविया ॥१॥

—वही पृ० १०३

पहली पंक्ति में तीन मात्राएं अधिक हैं अन्यथा प्रस्तुत रचना कामिनीमोहन या मदनावतार कही जा सकती है। चारों पंक्तियों में एक ही प्रास है। जब यह प्रास मात्र दो पंक्तियों में हो, उसे अर्धसावझड़ा गीत कहा जाता है। अब इसके बाद हम चोटियाल गीत पर चर्चा करेंगे।

चोटियाल

सुणे सुपनखा बैन चढ़ हांकिया साकुरां,
खरदूषर त्रिसर घन झाल थांमा,
पूर रण पहरियां ॥
उरस छपता चका आविया अराकी,
आवता असुर रघुबीर आगा,
कोप लीयण किया ॥१॥

—वही पृ० १११

पहली तीन मात्राओं को बाद करने पर गुर्वन्त झूलने की पूरी पंक्ति आती है। इसके बाद दासदा दासमा वाली एक अतिरिक्त पंक्ति आती है। इसी प्रकार की रचना की एक आवृत्ति फिर करने पर पूरा पद होता है। दीर्घ झूलना पंक्तियों में प्रास होता है, इसी प्रकार दोनों अतिरिक्त पंक्तियों में भी प्रास आता है। उत्थापनिका यों है —

दास] दासदा दासदा दासदा दासदा
दासदा दासदा दासदा मा
दासदा दासमा।

यह हुआ आधा बंध यदि इतना ही और बढ़ा दिया जाय तो चोटियाल गीत बन जाता है। अब सप्तकल रचनाओं पर विचार किया जाय। सबसे पहले प्रौढ़ लिया जाय।

प्रौढ़

चमके मुकामी करे त्रिशूला। आविया अवधेस।
सुण अतुल साज समूह सारा। मिले सक मिथलेस ॥१॥

—वही पृ० ८३

रघुनाथ रूपककार के अनुसार पाँच, चार, तीन, चार इस प्रकार से विषम पदों में सोलह मात्राएं होती हैं। तीन, चार और तीन इस तरह दस मात्राएं, अन्त में गुरु-लघुयुक्त प्रास सम पदों में होती है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह दो प्रासयुक्त चरणों वाली एक सप्तकल पंक्ति है। मेरी दृष्टि से इसकी उत्थापनिका यों होगी —

धा] दाऴदादा दाऴदादा दाऴदादा धाऴ

अन्त्य धाऴ के बाद की दो मात्राएं अनक्षर रहती हैं जो आगे की पंक्ति के प्रारम्भिक मित्ताक्ष धा के साथ मिलकर सप्तकल पूरा करती हैं। कभी-कभी दाऴ-दादा के स्थान पर ददा-दादा आता है। गीत के दूसरे प्रकार में पंक्ति में प्रारम्भिक मित्ताक्ष धा नहीं होता, मात्र यही अन्तर है। उदाहरण लीजिए —

प्रीतकर पूफ्फुव ऊपर। उठे रघुवर आप।
सहस भय किय भसम सहसा। सकल मेटे आप ॥

—वही पृ० ८५

इस गीत को सोरठिया गीत भी कहते हैं। अब इकवारो लेंगे।

इकवारो

सुण सेसरे सुण सेसरे, जिनके कई कपरेसरे।
वनवास आयप वेसरे, दम आखियो अवधेसरे ॥१॥

—वही पृ० १०७

उत्थापनिका—दादालदा दादालगा। दादालदा दादालगा

यह आधा हुआ। प्रत्येक चरण चौदह मात्राओं का, दादालदा के दो आवर्तन चरणान्त में दादलगा तथा चारों ही चरणों का एक प्रास।

हेलो

उठ आय कवसल मात आगें सुत सीरप पाय लाये।
वर्ड नायक सीप ॥
बेकर्ई बदनाम कीधी, घोप मोटो मनै दीधो।
हुवो सारै हीण ॥१॥

—वही पृ० १११

उत्थापनिका—धा।] दाऴदादा दाऴदादा दाऴदादा दाऴदादा
दाऴदादा दाऴ

यह आधा छंद हुआ। पहली पंक्ति में अन्त्यप्रास और उसके आगे दाऴदादा धाऴ की एक छोटी सी पंक्ति जिसका प्रास ऐसी ही आगे की पंक्ति के साथ मिलता है। ऊपर दिये गये उदाहरण से प्रास-योजना स्पष्ट हो जायगी। धाऴ के बाद की चार मात्राएं अनक्षर रहती हैं। पहले पद की पहली पंक्ति में दो मात्राएं अधिक, बाकी सर्वत्र चौदह मात्राएं।

भाख

आयो भरथ अवध अभंग, मंडे पावडी उतमंग।
रहयत कीध अत उछरंग, इम आवास जाय अभंग ॥१॥

—वही पृ० १२२

रघुनाथरूपककार एक चतुष्कल और दो पंचकल—कुल मिला कर चौदह मात्राओं का विधान करता है। अन्त में गुरु-लघु और चारों पंक्तियों में प्रास। यदि दो दो पंक्तियों का प्रास मिले तो उसे भरथ भाख गीत कहते हैं। भाख की उत्थापनिका होगी —

दा॑दाऽ' दादादास

धमाल

रावण सहा डिगमग कर डंडक बन रमैं।
निरसज सुपनखा तिण नाम नरक अनंग मैं॥
सीतानाथ आगम सार आई तिण समैं।
नाक सकाति अद्भुत भरम सुधि रत दंभ में ॥१॥

—वही पृ० १२८

धमाल गीत के प्रत्येक चरण में तेवीस मात्राएं होती हैं। चरण के अन्त में लघु-गुरु से चारों में प्रास। इसकी उत्थापनिका होगी —

दादा] दासदादा दासदादा दासदा

ऐसी चार पंक्तियां होती हैं। प्रथम दासदा में दो मात्राएं अनसर रहती हैं। अब भंवर गुंजार गीत को परखें।

भंवर गुंजार

हनु मिलत पुर हर दीव सिर हुय रिपु अगरंथ हुओ समरथ।
चले रघुवर वयण अगवर सीत सुध सारी ॥
तो अक असिमण ठेम कण कथ हरथ भाव विसल हण हुय।
विकट पूरू मनार्थमन, गहर गुण भारी ॥१॥

—वही पृ० १५०

उत्थापनिका स्पष्ट है —

दा] दासदादा दासदादा' दासदादा दासदादा
दासदादा दासदादा दासदादा दा

यह हुआ अर्ध सं। इसमें पहली पंक्ति के दोनों अतिसप्त प्रासयुक्त दूसरी पंक्ति और चौथी पंक्ति में भी प्रास। दूसरी पंक्ति में दा के बाद के सदा अनवर है और उसके पीछे की पंक्ति के दा के साथ मिल कर सप्तकल की रचना होती है। अब ढंढार लिया जाय।

केदार

बिलसक अमद बाद बादस, ठहूकिया देवी ।
इक बरण सो बिच मिला मातुर बरि बुम देवी ॥१॥

—वही पृ० १९१

उत्थापनिका सरल है —

दा] दालदादा दालदादा' दालदादा दा

ऐसी दो पंक्तियों से एक पंक्ति बनती है । तुकान्त में दो गुरु ।

मल्हारी

कार्छ कुमधारी धीर काया, सक्कीत ऊसेज छाया ।
कियण मो वास कुम साया, धाय छाया कोस ॥
नाम बोयण बंद बाया प्रभुण बन्ही करे प्राया ।
बहुण बाबय होम माया, रपि दराया रोस ॥१॥

—वही पृ० २०६ २०७

पहली पंक्ति में चार मात्राएं अधिक हैं । शेष दालदादा दालदादा इस प्रकार से सप्तकल के तीन अतिखण्ड हैं और चौथा खण्ड दालदादा मात्र है । यह है अर्ध रचना । प्रास की योजना सरल है । उत्थापनिका देने की आवश्यकता भी नहीं जान पड़ती ।

काफी

रघुपत जपतमिण उपसास रासै, मामनी चिहु ओर माले
तन विचासे को धरै ।
चित भाव चार्दै गात मार्ले धर धमार्ले धीर ॥
दूरै विचार्रै फेक कामी अधम चार्दै ऊमरै ।
पीठ्य दमार्ले दैण तासै मन बगार्ले धीर ॥१॥

—वही पृ० १४२

पहली पंक्ति में चार मात्राएं अधिक होती हैं । वैसे मंछाराम ने पांच अधिक मात्राओं का विधान किया है । इन अधिक मात्राओं को बाद करके ही उत्थानिका तय की जा सकती है, जो निम्नानुसार होगी ।

१ २ ३
दादा] दालदादा दालदादा दालदादा दालदादा दालदादा दालदा

४ ५ ६
दा] दालदादा दालदादा दालदादा दाल

७ ८ ९
दा] दालदादा दालदादा' दालदादा दालदा

१० ११ १२
दा] दालदादा दालदादा' दालदादा दाल

इसमें तालगा के साथ तालगा प्रास मिलता है, मास के साथ मास का प्रास मिलता है और एक से बारह स्थानों में भी प्रास रहता है। अब त्रकुटबंध गीत देखें।

त्रकुट बंध

कुम्भ भ्रात मन्त्री सुत कटे, उर कोप रावण ऊफटे।
मन दामरा महवें चढे मरणों, सजे घण घमसांण।।
धप कोप वाजत्र वाजिया' सुर पोर अम्बर साजिया।
कस कमर सक्कर सहर फर, धर धजर आवध तपर घर।।
चढे चसे रथ पर सुर अमर, मझ असुर निसचर रिण मर्दर।
मिल चहर मूंछां मुहर भर, कज पग्गर गूघर भिडज भर।।
गज धीर फरहर कुत अपर सुक अतुर सोषण अपनधार।
धर अखियो आराण।।१।।

—वही पृ० २१९

पहली तीन पंक्तियों का उत्थापनिका इस प्रकार होगी —

दा दालदादा दालदा' दा दालदादा दालदा
दा दालदादा लगादावा' दालदादा गाल
दा दालदादा दालदा दा दालदादा दालदा

इसके बाद भी चार पंक्तियों तक इसी तरह से संधियां चलती हैं किन्तु प्रभाव विशेष को लक्ष्य में रखकर उनके लघु गुरु और सम्बन्ध रूप हो जाते हैं। प्रत्येक संधि में प्रास है और जब ये चार पंक्तियां भी समाप्त हो जाती हैं तो एक बारह मात्राओं की लघुपंक्ति आती है। इस सम्पूर्ण गीत में प्रासों के प्रयोग में विशेषता है जिसे मूल उदाहरण के सहारे आसानी से समझा जा सकता है।

इसके बाद हम सिलहिलोल गीत की विशेषताएं देखेंगे।

सिलहिलोल

ले हुकम सीता खबर लेवण सकज रावण लंक।
लह लंक दिस सज छलसंचण, हालियो हणमन्त।।
तो बलवंत बी बलवंत बारण लोपवे बलवंत।।१।।

—वही पृ० १९१

उत्थापनिका —

१
दा] दालदादा दालदादा' दालदादा गाल

२
दा] दालदादा दालदादा' दालदादा गाल

३ ४ ५
तो दा] गालदादा गालदादा दालदादा गाल

उत्थापनिका पर गौर करने से सप्तकस का विन्यास समझ में आ जाता है। एक से पांच स्थानों पर एक ही प्रास जिसमे तीसरे चौथे और पांचवें स्थान पर एक ही शब्द का प्रयोग। तीसरी पंक्ति का आरंभ सर्वत्र तो के साथ होता है।

सुगम

संपरी रिम सेन आडो, घुमर बारक आज माडो।
इस सबे कु मेण आडो, सूस आडो सूस आडो ॥१॥

—वही पृ० २०१

उत्थापनिका — वासवादा वासवादा

ऐसी चार पंक्तियां, इनमें एक ही प्रास और चौथी पंक्ति में वीप्सा।

मालरी

मिथ्या महिपती की आवनी कीय जिय आरम्भ।
तेजे समवती की सिख फुरमाय बाहु प्रर्लभ॥
कर कर भ्रमती की ओपै चैन हुय बस सम्म।
मालर मोवती की बर बर पूरत द्वार बधम्म॥
बर द्वार मोवत पुरत वाजत तीस वट् अवरेख।
बंध पौत पोस बिसाल तोरन बजे चित्र विशेष॥
वत सबल पोत पताक फरकत बरन बहुधुबवेष॥
मन भानकपुर सूर असुर मानव पड़े संभूत पेख॥

—वही पृ० ७०

यह एक सुन्दर रचना है जिसकी पहली चार पंक्तियों का संविन्यास नीचे अनु— सार होगा—

वावावाल गा — गा० वावावाल वावामाल

अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से किसी सरल पंक्ति का उदाहरण लिया जाय —

मा गर मो व ती — बी० वर वर पुर त द्वा र व धं म
वा वा वा व वा — वा० वा वा वाल वा वा मा ल

एक अन्य तरीके से भी इसका पाठ किया जा सकता है—

वावावाल गामा —० वावावाल वावा माल

अर्थात मात्र अकेला बी ही पांच मात्राओं का प्लुत बन जाता है। आगे की पंक्तियों की रचना सरल ही है, अत अब अवगत मीत लिया जाय।

पवमत

कुंभज कह कहै की सिवबर सुप सहे।
बंधे पग बहे को पैसो बन पहे॥
बन बहे गेला वेग जिय में रहे राक्षस रोस में।

तन तुम नाम नवंप तिपरो करत भोजन कोग मै॥
सो हुनो मंडप मार नामर मिटै प्रारम मारिया ।
विपरीत दूर प्रमार बाह्री बनी भीष महारिया ॥१॥

—वही पृ० १२२

इनकी पहली दोनों छोटी पंक्तियाँ गायत्री के समान हो हैं। उत्थापनिका है

धी

दाऽदाल गा – गाऽ दादाऽग गा — —ऽ
दादाताल गा – गाऽ दादादाल गा — —ऽ

अथवा इसे दूसरे ढंग से इस प्रकार भी किया जा सकता है।

वी

दादाताल गागा —ऽ दादाऽग गा — — ऽ
दादाताल गागा —ऽ दादाताल गा — — ऽ

तदुपरान्त आगे बाकी चार पंक्तियों की उत्थापनिका यों होगी —

दा] दालगादा दालगादा दालदादा गागगा

इन पीछे की चार पंक्तियों में एक विशेषता है और वह यह कि दूसरी पंक्ति के अन्तिम कुछ शब्दों की पुनरावृत्ति तीसरी पंक्ति के आरम्भ में होती है।

निशानी विहुगती

रघुवंस नायक भीत जिनरी कवण बरणै लाज ।
कुण लाज बरणै भीत जो नर उम्र बांधे पाज ॥
रच पाज अम्पे कवण सावै उतर मारग छेह ।
मग छेह उतर करै विनती बूब सावण मेह ॥

—वही पृ० २०१

उत्थापनिका दा] दालदादा दालदादा दालदादा गाल
इसकी विशेषता यह है कि इसमें पहली पंक्ति के कुछ अन्तिम शब्दों की आवृत्ति दूसरी पंक्ति के आरम्भ में होती है। इसी प्रकार दूसरी पंक्ति के अन्तिम शब्द तीसरी पंक्ति की शुरुआत में प्रयुक्त होते हैं। सभी पंक्तियों के लिए यह नियम लागू होता है। हाँ, इस आवृत्ति में बहुधा शब्दों का क्रम बदल जाता है।

रघुनाथ-रूपकार ने इन गीतों के अतिरिक्त अनेक कुण्डलियाँ भी दी हैं। अब उन पर विचार किया जाय। सबसे पहले मझ सवट को लें।

मझ सवट

आठूं दिस बरती अदल रामचन्द्र राज ।
सीस समापै सोहड़ा कर मन बंछ्या काज ॥

काम मन वंछत्ता पूर समसा किया ।
मवम हुरि तुरम कम बेस क्तिरा किया ॥
कीम बर निकंटक बीत रावम जिसा ।
जमी पग फौल जिम, दवे बाटू दिसा ॥

—वही पृ० २७९

पहले दोहा और फिर मदनावतार दोहे के अन्तिम यतिखंड की आवृत्ति तीसरी पंक्ति के आरम्भ में और दोहे का प्रारम्भिक अंश मदनावतार का अन्तिम अंश बनता है। इस आवृत्ति या सिंहावलोकन में शब्दों का क्रम उलट जाता है। इसके बाद कुंडलियो राजबट लिया जाय —

राजबट

सियबर राज समापिया, पाट अवध सम पेख।
कुस नै समप कुसावती, बंधव सुतां विशेष ॥
बंधव सुतां विशेष दोम सुत भरत सुबतिय।
तखक नै तखसली पुखर नै पुक्खर बतिय ॥
अंगी चित्रभान उभय अंबद नगरी बंबद नै।
चन्द्रकेत चन्द्रवती, सत्रुघन सुतां सुबद नै ॥
कमबस सुबाहु सभुपात कर पति मथुरा इम थापिया।
इम मांत मंद्य कहु आठ ही सियबर राज समापिया ॥

—वही पृ० २८०

यहां दोहे के बाद छप्पय आता है और पहले की तरह ही सिंहावलोकन और कुण्डली होती है। रघुनाथ-रूपककार ने कुण्डलियो का शुद्ध कुण्डलियो नाम से एक भेद दिया है जो हिन्दी में बहुप्रचलित दोहा और रोला के योग से बनने वाला कुण्डलिया है अतः उसके विवेचन की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। अब दोहाळ लें —

दोहाळ

रूपक यह रघुनाथरी पिंगल गीत प्रमाण।
कहियो मछाराम कवि, जोधनगर जग जाण ॥
जोधनगर जग जाण जास पूंगी विसतारा।
चमसीराम सुजाब जात सेवक कूंमारा ॥
संवत ठारै सतक बरस तेसठो बखाणों।
सुकळ माधवी दसम वार ससि हूर वरताणों ॥
मत अनुसारै मैं कह्यो, सुध कर लिखो सुजाण।
रूपक यह रघुनाथ रो पिंगल गीत प्रमाण ॥

—वही पृ० २८१ २८२

इसमें पहले दोहा फिर चार पंक्तियाँ रोला की और अन्त में पुनः दोहा। मुख के दोहे की पहली पंक्ति अन्तिम दोहे की अन्तिम पंक्ति होती है। प्रथम दोहे का चौथा चरण आगे चार रोला की पंक्ति के आरम्भ में आता है। अब कुण्डलनी की बात —

कुण्डलनी

कोयें तीरथ कोट, कोयें गोदान सत सिरियक।
अथव करै इक कोय नर के बिवाह किया॥
किया व्याहै कोयनो बू किरपा करे गोरे।
नाम लखासा मुनक दुर्ग उनके ना बरे॥
राम राम इक नरक दुरै दरसो गह दोऊ।
वऊ न पड़े तप तुम कोट पा तीरथ कोयें॥

—वही पृ० २८० २८२

रघुनाथ रूपककार के अनुसार इस छन्द में प्रथम आर्या छन्द होता है बाद के चार पद काव्य छन्द के होते हैं। आर्या के चौथे पद का अन्तिम चरण काव्य छन्द के प्रथम पद में आता है और आर्या छन्द का प्रथम पद काव्य छन्द के चौथे पद के अन्त में उलट कर आता है।

अब हम वार्णिक छन्दों पर विचार करेंगे। डिंगल गीतों में सबसे अधिक संख्या मात्रिक छन्दों की है। रघुनाथ रूपक के अनुसार सात गीतों में वार्णिक आधार है किन्तु शुद्ध वार्णिक छन्द तो वे नहीं हैं। मात्र एक ही वार्णिक रचना अवशिष्ट रूप में मुझे मिली है और वह है सपंखरो। अन्य रचनाओं का मात्रिक छन्दों की दृष्टि से विवेचित किया जा सकता है और हमने ऐसा किया भी है।

सपंखरो

जंगा ऊससे सजायो जायो जुने जैत राणजाया
जजायो छोह न छायो जपो जोस जन्न।
कसेसा आयायो तेप रटणको सजोर काये
कटूटको रामरै माथे आयो क भजग्न ॥१॥

—वही पृ० २००

रघुनाथ-रूपक के अनुसार इस गीत के विषम चरणों में सोलह वर्ण और सम चरणों में चौदह वर्ण होते हैं। इस तरह एक द्वाले में साठ वर्ण होते हैं। प्रथम द्वाले के पहले चरण में उन्नीस वर्ण होते हैं। किन्तु दिये गये उदाहरण में मात्र अठारह वर्ण ही हैं। मंछाराम से न जाने यह भूल कैसे हो गई। इसमें जगण-तगण, भगण-नगण और नगण-सगण का प्रयोग निषिद्ध है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस रचना में दो या दो से अधिक लघु एक साथ नहीं आ सकते। वार्णिक छन्दों में यदि प्रत्येक अक्षर या वर्ण दो मात्राओं का हो तो उच्चारण में सुविधा रहती है प्रायः प्रत्येक चतुरक्षर

संधि को आठ मात्राओं का कर दिया जाता है। इसकी पद्धति यह है कि प्रत्येक लघु को दो मात्राओं का करने के बदले उसे तो लघु की तरह ही उच्चारित किया जाय किन्तु उसके बाद आने वाले गुरु को प्लुत कर दिया जाय। यह प्लुत गुरु न हो जाय इस दृष्टि से दो या दो से अधिक लघुओं का एक साथ लाने का निषेध किया जाता है। इस तरीके से यदि कहीं लघु आता भी है तो बाद वाले गुरु को प्लुत करके कमी को पूरा कर लिया जाता है।

इसके अलावा अब मैं वाणिक छन्द के रूप में किसी अन्य छन्द को लेना चाहता हूँ तो लगता है कि निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना कठिन है। ऐसा एक छन्द है सहणाल। इस पर हम मात्रिक छन्दों के सन्दर्भ में पीछे विचार कर चुके हैं। इसका वाणिक छन्द के अनुसार पाठ हो सकता है। इसका प्रत्येक अक्षर दो मात्राओं के समान उच्चारित हो सकता है। इसकी संधियां चतुष्कल न होकर त्र्यक्षर हैं। इसको इस प्रकार से पढ़ा जायगा।

गुरु] भात क । टै सक । वीट ब । बे बक ।

दादा] दा दा दा । दा दादा । दादा दा । दादादा ।

वीस मु । आण मि । ळारियो । जी ।

दादा दा । दादा दा । दादा दा । दा ।

गिर] वीर्या । बाजर । म मग । मुलर ।

दादा] दादा दा । दादादा । दादादा । दादादा ।

मेछ इ । सौं मन । मारियो । जी ।

दादादा । दा दादा । दादादादा । दा ।

अतः विलंबित में धीरे-धीरे बोलते लघु को गुरु करना पड़ता है यह कम से कम सहा तो नहीं लगता।

यहाँ डिंगल के छन्दों का विवेचन समाप्त होता है। इस अध्ययन से डिंगल गीतों की निम्न विशेषतायें ज्ञात होती हैं।

(१) डिंगल के प्रायः सभी गीत मात्रिक हैं।

(२) डिंगल-गीतों के प्रभेदों के आधारों में प्रास-वैविध्य प्रमुख है। केवल प्रास-पद्धति में भिन्नता होने से नये छन्दों का निर्माण डिंगल की अपनी विशेषता है।

(३) सिंहावलोकन अथवा पुनरावृत्ति की भंगिमा दूसरा कारण है।

(४) वीप्सा का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है, पर पिंगल छन्दों की तुलना में काफी है।

(५) कहीं-कहीं जी रे, हो आदि शब्दों के प्रयोग का विधान है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन गीतों का निर्माण प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से किया गया है। वीप्सा, पुनरावृत्ति प्रासों का वैविध्य रे, हो, जी आदि शब्दों का प्रयोग सभी का उद्देश्य नाद-सौन्दर्य की अभिवृद्धि ही है, जिससे गीत के

प्रभाव में अमित वृद्धि हो जाती है। तत्कालीन मांग के अनुसार ही इसका सृजन हुआ है। प्रस्तुत अध्ययन का आधार गुजराती के विद्वान लेखक श्री रामनारायण विश्वनाथ पाठक रचित बृहत् पिंगल ग्रन्थ का विषम छन्दों सम्बन्धी परिशिष्ट रहा है। यदि यों कहा जाय कि यह उस अंश का रूपान्तर ही है तो उचित ही होगा। मैंने रूपान्तर करने में स्थान-स्थान पर आवश्यक परिवर्तन किये हैं और कुछ मुख्य अंशों को छोड़ दिया है। इसी तरह कुछ नवीन अंशों की अनुभावना भी मेरे द्वारा हुई है। इसमें जो कुछ अच्छा है वह पाठक जी का है, मैं यही मान कर चलता हूं।

परिशिष्ट (ख)

सहायक-सामग्री सूची

राजस्थानी व हिन्दी के ग्रन्थ

अकबरी दरबार के कवि-डा० सरयूप्रसाद, २००७ वि०
अपभ्रंश व्याकरण-शालिग्राम उपाध्याय १९४८ ई०
अपभ्रंश प्रकाश-देवेन्द्र कुमार २००७ वि०
अपभ्रंश साहित्य-डा० हरिवंश कोछड़, २०१२ वि०
अर्धकथानक-सं० नाथूराम प्रेमी, १९५७ ई०
अवधी और उसका साहित्य-त्रिलोकीनारायण दीक्षित, प्रथम संस्करण
असली पृथ्वीराज रासो-पं० मथुराप्रसाद दीक्षित, १९५२ ई०
उदयपुर राज्य का इतिहास भाग १ गौ०ही० ओझा, १९८५ वि०
उदयपुर राज्य का इतिहास-भाग २ गौ ही ओझा, १९८८ वि०
उमरकाव्य-उमरदान-१९१० ई
उर्दू साहित्य का इतिहास-डा० ऐजाज हुसैन १९५७ ई०
ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह-अगरचन्द भंवरलाल नाहटा १९९४ वि
ओझा निबन्ध संग्रह-चारों भाग उदयपुर-प्रथम संस्करण
कबीर हजारीप्रसाद १९५० ई०
कबीर की विचारधारा-गोविन्द त्रिगुणायत २ ०९ वि
करणी चरित-किशोरसिंह १९१८ ई०
कविरत्नमाला-मुंशी देवीप्रसाद १९१८ ई०
कवीन्द्र कल्पलता-सं० लक्ष्मीकुमारी चूंडावत १९५८ ई०
क्याम खां रासा-सं० दशरथ शर्मा, अगरचन्द नाहटा १९५३ ई०
कान्हड़दे प्रबन्ध पद्मनाभ-के बी व्यास १९५३ ई०
काव्य मीमांसा-सं० केदारनाथ सारस्वत १९५४ ई
काशी विद्यापीठ रजत-जयंती अभिनन्दन ग्रंथ धीरेन्द्र वर्मा प्रथम आवृत्ति
कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा-शिवप्रसाद सिंह १९५५ ई
केहर प्रकाश-बख्तावर १९९१ वि
क्रिसन रुकमणी री वेल-सं० नरोत्तमदास स्वामी १९५५ ई०
गीत मंजरी-सं० नरोत्तमदास स्वामी १९५४ ई०

चौबोली—सं० कन्हैयालाल सहल, १९४१ ई०
चन्द वरदायी और उनका काव्य—डा० विपिन बिहारी, १९५२ ई०
छिताई वार्ता—सं० माताप्रसाद गुप्त, २०१५ वि०
छंद राउ जइतसी रउ बीठू सूजइ रउ कहियउ—टैसीटरी कलकत्ता
जुगल विलास—सं० लक्ष्मीकुमारी चूंडावत १९५८ ई०
जैन साहित्य परिशीलन—भाग १, नेमिचन्द्र शास्त्री १९५६ ई०
जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी १९५६ ई०
जोधपुर राज्य का इतिहास—खण्ड १ गौ०ही० ओझा, १९९५ वि०
डिंगल साहित्य—डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव १९६० ई०
डिंगल में वीर रस—मोतीलाल मेनारिया २००८ वि०
डिंगल साहित्य में नारी—हनुवंत सिंह देवड़ा १९५५ ई०
डूंगरपुर राज्य का इतिहास—गौ०ही० ओझा १९९२ वि०
ढोला मारूरा दूहा—ठाकुर, स्वामी पारीक, २०११ वि०
दक्खिनी हिन्दी—बाबूराम सक्सेना १९५२ ई०
दयालदास री ख्यात—शार्दूल रिसर्च सीरीज, २
दोहाकोष—राहुल सांकृत्यायन १९५७ ई०
नाथ चरण सामी मूला—सं० हमीरदान १९११ ई०
नाथसम्प्रदाय—हजारीप्रसाद १९५ ई०
नाथ सिद्धों की बानियाँ—हजारी प्रसाद २०१४ वि०
परमाल रासो सं० श्यामसुन्दर दास १९७६ वि०
पालि साहित्य का इतिहास—भरतसिंह २००८ वि०
पुरातत्व निबन्धावली—राहुल सांकृत्यायन १९३७ ई०
पुरानी हिन्दी—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी २००५ वि०
पुरानी राजस्थानी—टैसीटरी, अनु० नामवरसिंह २०१२ वि०
पूर्वआधुनिक राजस्थान डा० रघुबीर सिंह १९५१ ई०
पंचामृत—स्वामी मंगलदास १९४८ ई०
प्रगतिशील साहित्य के मानदंड—डा० रांगेय राघव १९५४ ई०
प्रशस्ति संग्रह—कस्तूरचन्द कासलीवाल, १९५० ई०
प्राकृत और उसका साहित्य—डा० हरदेव बाहरी प्रथम संस्करण
प्राकृत विमर्श—डा० सरयूप्रसाद १९५३ ई०
प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—पिशेल—अनु० हेमचन्द्र जोशी, १९५८ ई०
प्राकृत व्याकरण—मधुसूदन प्रसाद मिश्र १९६ ई०
प्राकृत भाषा—डा प्रबोध पंडित—१९५४ ई०
प्राकृत प्रबोधिका—बनारसीदास जैन १९३३ ई०
प्राचीन भारत की शासन पद्धति—अल्तेकर प्रथम संस्करण
प्राचीन राजस्थानी गीत—मोहनसिंह कविराव, भाग १ प्रथम संस्करण

प्राचीन राजस्थानी गीत—खण्ड २, मोहनसिंह प्रथम संस्करण
प्राचीन राजस्थानी गीत—भाग ३, मोहनसिंह, प्रथम संस्करण
प्राचीन राजस्थानी गीत—भाग ४, मोहनसिंह, २०१४ वि०
प्राचीन राजस्थानी गीत—भाग ५, हनुवंतसिंह देवड़ा २०१४ वि०
प्राचीन राजस्थानी गीत—भाग ६, गोवर्द्धन शर्मा २०११ वि०
प्राचीन राजस्थानी गीत—भाग ७, मोहनसिंह, २०१५ वि०
प्राचीन राजस्थानी गीत—भाग ८, मोहनसिंह २०१४ वि०
प्राचीन राजस्थानी गीत—भाग ९ गोवर्द्धन शर्मा प्रथम संस्करण
प्राचीन राजस्थानी गीत—भाग १०, कविराज मासिया २०१४ वि०
प्राचीन राजस्थानी गीत—भाग ११ कविराज मासिया प्रथम संस्करण
प्राचीन राजस्थानी गीत—भाग १२, कविराज बाखिया, प्रथम संस्करण
पृथ्वीराज रासो—मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या १९९१ वि०
पृथ्वीराज रासो—पद्मावती समय राधेश्याम त्रिपाठी, १९५६ ई०
पृथ्वीराज रासो—चार खण्ड कविराव मोहनसिंह प्रथम संस्करण
पृथ्वीराज रासो की भाषा—नामवरसिंह, १९५६ ई०
पृथ्वीराज रासो की विवेचना—साहित्यसंस्थान प्रथम संस्करण
पृथ्वीराज रासो में कथानक रूढ़ियाँ—ब्रजविलास श्रीवास्तव, १९५५ ई०
बांकीदास ग्रन्थावली—पहला भाग ना०प्र० सभा १९२४ ई०
बांकीदास ग्रन्थावली—दूसरा भाग ना०प्र० सभा १९३१ ई०
बांकीदास ग्रन्थावली—तीसरा भाग ना०प्र० सभा १९३८ ई०
बीकानेर राज्य का इतिहास—खण्ड १ गौ० ही० ओझा १९९६ वि०
बीसलदेव रास—सं० माताप्रसाद गुप्त नाहटा १९५३ ई०
भक्तमाल—उदयराज उज्ज्वल, १९५९ ई०
भारत का भाषा सर्वेक्षण—ग्रियर्सन-अनु उदयनारायण तिवारी १९५९ ई०
भारत की भाषाएं और भाषा सम्बन्धी समस्याएं—चटर्जी, १९५७ ई०
भारत में जाति भेद—क्षितिमोहन सेन दूसरा संस्करण
भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—चाटुर्ज्या १९५४ ई०
भारतीय प्रेमाख्यान काव्य—हरिकान्त श्रीवास्तव १९५५ ई०
मध्यकालीन धर्म-साधना—हजारीप्रसाद १९५६ ई०
मध्यकालीन प्रेम-साधना—परशुराम चतुर्वेदी, १९५२ ई०
मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—अ० म० युसुफ अली, १९२८ ई०
मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—गौ० ही० ओझा १९२८ ई०
मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां—सावित्री सिंहा १९५३ ई०
मध्यकालीन हिन्दी-काव्य हरिमोहन श्रीवास्तव १९५५ ई०
मराठी और उसका साहित्य—प्रभाकर माचवे, प्रथम संस्करण
महाभारत—हिन्दी व्याख्यासह गीताप्रेस संस्करण

महाराणा यशप्रकाश–भूरसिंह शेखावत, प्रथम संस्करण
महिला मृदुवाणी–मुंशी देवीप्रसाद, १९१८ ई०
मांझल रात–लक्ष्मीकुमारी चूंडावत, २०१४ वि०
मारवाड़ का इतिहास–जगदीश सिंह गहलोत, १९२५ ई०
मारवाड़ी व्याकरण–पं० रामकर्ण आसोपा प्रथम संस्करण
मालवी और उसका साहित्य–श्याम परमार, प्रथम संस्करण
मुता नैणसीरी ख्यात–भाग १, रामकर्ण आसोपा, जोधपुर संस्करण
मुंहता नैणसीरी ख्यात–बद्रीप्रसाद साकरिया १९६०
मुहणोत नैणसीरी ख्यात–भाग १, ना०प्र० सभा, १९८२ वि०
मुहणोत नैणसीकी ख्यात–भाग २, ना०प्र० सभा, १९९१ वि०
रघुवर जसप्रकाश–सं० सीताराम लालस, १९६०
रघुनाथ रूपक गीतांरो–मंछाराम, सं० नारैड, १९९७ वि०
राज रसनामृत–मुंशी देवीप्रसाद, १९१८ ई०
राजरूपक–सं० रामकर्ण आसोपा १९९८ वि०
राजपूताने का इतिहास–जगदीश सिंह गहलोत १९३७ ई०
राजविलास–सं० मोतीलाल मेनारिया, २०१५ वि०
राजस्थान का पिंगल साहित्य–डा० मोतीलाल मेनारिया, १९५२ ई०
राजस्थान की जातियां–बजरंगलाल लोहिया, १९५४ ई०
राजस्थान के ज्योतिस्तम्भ–हरिभाऊ उपाध्याय, १९४९ ई०
राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद–कन्हैयालाल सहल, प्रथम संस्करण
राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान–कन्हैयालाल सहल १९४९ ई०
राजस्थानरा दूहा–सं० नरोत्तमदास स्वामी १९३५ ई०
राजस्थान दिग्दर्शक–सं० चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय १९४८ ई
राजस्थानी दोहावली–गिरधारीलाल शर्मा प्रथम संस्करण
राजस्थानी भाषा और साहित्य–नरोत्तमदास स्वामी २००० वि०
राजस्थानी भाषा और साहित्य–मोतीलाल मेनारिया २००८ वि०
राजस्थानी भाषा–सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या १९४९ ई०
राजस्थानी भाषा और साहित्य–लक्ष्मीकुमारी चूंडावत १९५० ई०
राजस्थानी भाषा की रूपरेखा पुरुषोत्तम मेनारिया १९५१ ई०
राजस्थानी व्याकरण–सीताराम लालस १९५४ ई०
राजस्थानी वार्ता–भाग १, नरोत्तमदास स्वामी, प्रथम संस्करण
राजस्थानी वार्ता–भाग २, भवानीशंकर, प्रथम संस्करण
राजस्थानी वार्ता–भाग ३ सौभाग्य सिंह शेखावत प्रथम संस्करण
राजस्थानी वार्ता–भाग ४, शेखावत तथा व्यास प्रथम संस्करण
राजस्थानी वार्ता–भाग ५, शेखावत प्रथम संस्करण
राजस्थानी वार्ता–सूर्यकरण पारीक, १९१४ ई०

राजस्थानी साहित्य का महत्व–रामदेव चोखानी, २००० वि०
राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा–मोतीलाल मेनारिया, प्रथम संस्करण
राजस्थानी साहित्य संग्रह–भाग १, नरोत्तमदास स्वामी १९५७ ई०
राजस्थानी साहित्य संग्रह–भाग २ पुरुषोत्तम मेनारिया, १९६० ई०
राजियेरा सोरठा–जगदीश सिंह गहलोत, १६१४ ई०
रामकथा–कामिल बुल्के, १९५० ई०
रास और रासान्वयी काव्य–ओझा, शर्मा २०१६ वि०
रीतिकालीन कविता और शृंगार रस का विवेचन–राजेश्वरप्रसाद १९५१ ई०
रेवातट समय–विपिनबिहारी वाजपेयी १६५१ ई०
लावा रासा–गोपालदान कविया १९५१ ई०
वचनिका राठौड़ रतनसिंहजीरी महेसदासोतरी कही टेसीटरी, १९१७ ई०
वर्तमान राजस्थान–रामनारायण चौधरी प्रथम संस्करण
विरद छिहत्तरी–दुरसा आढ़ा, १६२२ ई०
विरद शिणगार–करणीदान, १९९९ वि०
विश्व साहित्य की रूपरेखा–भगवतशरण उपाध्याय १६५७ ई०
वीर काव्य संग्रह–उदयनारायण तिवारी २००५ वि०
वीररस का शास्त्रीय अध्ययन–भटेकृष्ण १६५९ ई
वीरवाण–सं० लक्ष्मीकुमारी चूंडावत, १९६ ई०
वीर सतसई सं० सहल व अन्य २००५ वि
वीसलदे रासो–सं० सत्यजीवन वर्मा २००८ वि०
वेलि क्रिसन रुकमणिरी–टेसीटरी १९१९ ई०
वेलि क्रिसन रुकमणीरी–सं० आनन्दप्रकाश दीक्षित, १९५१ ई०
वेलि क्रिसन रुकमणीरी–हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रकाशन १९११ ई०
वंश भास्कर–सूर्यमल्ल मिश्रण, प्रथम संस्करण
सती सप्तक–उदयराज उज्ज्वल, १९५४ ई०
शिव चरित–सूर्यशंकर पारीक, २०१५ वि
सिद्ध साहित्य–धर्मवीर भारती १९५५ ई०
सुन्दरसार–स० पु० हरिनारायण १९२८ ई०
सूरजप्रकाश–सं० टेसीटरी १६१७ ई०
सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य–शिवप्रसाद सिंह १९५७ ई०
संस्कृत और उसका साहित्य–शान्तिकुमार व्यास प्रथम संस्करण
संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन–भोलाशंकर व्यास प्रथम संस्करण
संस्कृति संगम–क्षितिमोहन सेन १९५१ ई०
संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो–हजारीप्रसाद नामवर सिंह १९५७ ई०
हम्मीर रासो–सं० श्यामसुन्दर दास २००६ वि०
हरिरस–सं० ठा० किशोरसिंह १९१८ ई०

हालां झालांरा कुण्डलियां–सं० मोतीलाल मेनारिया, २००७ वि०
हिन्दी कारकों का विकास–शिवनाथ, २००५ वि०
हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य–ओमप्रकाश, १९५७ ई०
हिन्दी काव्यधारा–राहुल सांकृत्यायन १९४५ ई०
हिन्दी काव्यशैलियों का विकास–हरदेव बाहरी, १९५७ ई०
हिन्दी की प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास–श्यामधर सिंह १९५६ ई०
हिन्दी की प्रादेशिक भाषाएं–एम्सिकेदस डिवीयन १९४१ ई०
हिन्दी के मुसलमान कवियों के प्रेमकाव्य–गुरुप्रसाद १९५७ ई०
हिन्दी दशरूपक–गोविन्द त्रिगुणायत, १९५५ ई०
हिन्दी नाटक उद्भव और विकास–दशरथ ओझा प्रथम संस्करण
हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य–कुलश्रेष्ठ, १९५१ ई०
हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास–उदयनारायण तिवारी २०१२ वि०
हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास–शम्भूनाथ सिंह १९५६ ई०
हिन्दी काव्यरूपों के मूलस्रोत और उनका विकास–शकुन्तला दुबे, १९५८ ई०
हिन्दी व्याकरण–कामताप्रसाद गुरु पांचवां संस्करण
हिन्दी वीर काव्य–टीकमसिंह तोमर १९५४ ई०
हिन्दी शब्दानुशासन–किशोरीदास वाजपेयी प्रथम संस्करण
हिन्दी साहित्य का अतीत–भाग १ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, २०१५ वि०
हिन्दी साहित्य का गद्यकाल–गणेशप्रसाद द्विवेदी, १९१५ ई०
हिन्दी साहित्य और साहित्यकार–सुधाकर पांडेय १९५५ ई०
हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास–गोपाललाल खन्ना १९४९ ई०
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास–रामकुमार वर्मा, १९५४ ई०
हिन्दी साहित्य का इतिहास–रामचन्द्र शुक्ल २००२ वि०
हिन्दी साहित्य का आदिकाल–हजारीप्रसाद १९५२ ई०
हिन्दी साहित्य की भूमिका–हजारीप्रसाद १९५० ई०
हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास–भाग १, २०१४ वि०
हिन्दी साहित्य प्रेरणाएं और प्रवृत्तियां–शिवनन्दन प्रसाद १९५५ ई०
त्रिपुरी का इतिहास–व्योहार राजेन्द्रसिंह, प्रथम संस्करण

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश ग्रन्थ

अपभ्रंश काव्यत्रयी–गायकवाड़ ओ० सिरीज, १९२७ ई०
अपभ्रंश पाठावली–म० वि० मोदी १९३५ ई
अर्धमागधी रीडर–डा० बनारसीदास जैन १९२३ ई०
उक्ति व्यक्ति प्रकरण–मुनि जिनविजय २०१० वि०
काव्यादर्श दण्डी, भण्डारकर इन्स्टीट्यूट १९१८ ई०
काव्यानुशासन–पारीख व आठवले, १९३८ ई०
काव्य मीमांसा–केदारनाथ सारस्वत, १९५४ ई०

काव्य मीमांसा—गायकवाड़ ओ० सिरीज १९२४ ई०
काव्यालंकार रुद्रट—वेंकटेश्वर प्रेस, प्रथम आवृत्ति
करकंडु चरिउ—हीरालाल जैन १९३४ ई०
कीर्तिलता विद्यापति—इलाहाबाद, १९८६ वि०
कुमारपाल प्रतिबोध—मुनि जिनविजय, १९२० ई०
कुमारपाल चरित—भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, १९३८ ई०
कुवलयमाला कहा उद्योतन सूरि प्रथम संस्करण
गाथा सप्तशती—सदाशिव आ० जोगलकर १९५६ ई०
गौडवहो वाक्पतिराज—पूना १९२७ ई०
जसहर चरिउ पुष्पदन्त—पी एल वैद्य, १९३१ ई०
डाकार्णव—नगेन्द्रनारायण चौधरी प्रथम आवृत्ति
णायकुमार चरिउ पुष्पदन्त—हीरालाल जैन १९३३ ई०
देशी नाममाला हेमचन्द्र—बम्बई संस्कृत सिरीज १९३८ ई०
दीपक वृत्ति हेमचन्द्र—भगवान दास १९३६ ई०
दोहाकोष—राहुल सांकृत्यायन १९५७ ई०
दोहा पाहुड—हीरालाल जैन १९३३ ई०
धूर्ताख्यान हरिभद्र सूरि—प्रा० ने० उपाध्ये १९४४ ई०
नाट्यशास्त्र भरत—गायकवाड़ ओ० सिरीज १९२६ ई०
निर्बन्ध प्रवचन—चौथमलजी १९९६ वि०
पउम चरिय विमलसूरि १९१४ ई
पउम चरिउ स्वयम्भू—भायाणी १९५३ ई०
पउम चरिउ : स्वयम्भू—तीन भाग देवेन्द्रकुमार, प्रथम संस्करण
पउमसिरि चरिउ—भायाणी तथा मोदी २००५ वि०
पुरातन प्रबन्ध संग्रह—मुनि जिनविजय १९९२ वि०
पुरंदर चरितम्—गौतम सोमजी १९५५ ई०
प्रबन्ध चिन्तामणि मेरुतुंग—जिनविजय प्रथम संस्करण
प्राकृत पैंगलम्—चन्द्रमोहन घोष १९०२ ई०
प्राकृत प्रवेशिका—बनारसीदास जैन—१९३३ ई
प्राकृत विमर्श—डा सरयूप्रसाद अग्रवाल २००९ वि०
प्राकृत व्याकरण—सिंहराज, सम्पा, प्रथम आवृत्ति
प्राकृत सर्वस्व—भट्टनाथ स्वामी १९१२ ई०
प्राकृत मार्गोपदेशिका—बेचरदास दोशी २००१ वि०
भरत बाहुबलि रास—ला म गांधी, १९९७ वि०
भविसत्त कहा—दलाल तथा गुणे, १९२३ ई०
भावप्रकाश शारदातनय—गायकवाड़ ओ सिरीज प्रथम संस्करण
महापुराण पुष्पदन्त—३ भाग, वैद्य १९३७-१९४१

महापुराण जिनसेन—२ भाग, प्रथम आवृत्ति
लीलावई कहा—डा० ने० उपाध्याय १९४९ ई०
वसुदेव हिण्डी दो भाग—संघदास गणि प्रथम संस्करण
वाग्भटालंकार—वेंकटेश्वर प्रेस, प्रथम आवृत्ति
समराइच्च कहा—जैन, प्रथम संस्करण
सनत्कुमार चरित—याकोबी, प्रथम संस्करण
संदेश रासक—भायाणी तथा जिनविजय, १९४५ ई०
संदेश रासक—हजारीप्रसाद तथा विश्वनाथ, १९६० ई०
साहित्य दर्पण विश्वनाथ—निर्णयसागर प्रेस, १९१५ ई०
सिरिसिरिवाल कहा—बी एम चौकसी १९३५ ई०
सावयधम्म दोहा देवसेन—हीरालाल जैन १९३२ ई०
व्रजभाषा व्याकरण ग्रियर्सन—ए क प्राणशंकर, १९११ ई०
हिन्दी रासकाव्य—गोविन्द त्रिगुणायत, प्रथम संस्करण
कंसवहो—डा ने उपाध्ये द्वितीय संस्करण
करलक्खन—भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रथम संस्करण
विष्णुधर्मोत्तर पुराण—निर्णय सागर प्रेस प्रथम संस्करण

गुजराती ग्रन्थ

अपभ्रंश पाठावली—मधुसूदन चिमनलाल मोदी सन् १९३५
अपभ्रंश व्याकरण हेमचन्द्र—के का शास्त्री सं० २००५
अपभ्रंश व्याकरण हेमचन्द्र—नगभाई पटेल इषित बुच सन् १९६६
आपणा कविओ—के का शास्त्री, १९४२ ई०
कविचरित—के का शास्त्री १९५१ ई०
कान्हडदे प्रबन्ध—सं० देरासरी १९२५ ई
कान्हडदे प्रबन्ध—सं के बी व्यास १९५८ ई०
गुजराती भाषा अने साहित्य—न मो दिवेटिया सं के का शास्त्री १९५७ ई०
गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति—बेचरदास दोशी १९४३ ई०
गुजराती रूपो—रामनारायण विश्वनाथ पाठक प्रथम आवृत्ति
गुजराती साहित्य—खण्ड १ सं क मा मुंशी १९२९ ई०
गुजराती साहित्य—भाग १ अनन्तराय रावल १९५४ ई०
गुजराती साहित्यना स्वरूपो—पद्य विभाग, मं र मजुमदार १९५४ ई०
गुजराती साहित्यनी रूपरेखा—विजयराय क वैद्य १९४९ ई०
गुजराती साहित्यनु रेखादर्शन—के का शास्त्री, १९५१ ई०
गुर्जर रासावली—डा भोगीलाल सांडेसरा १९५६ ई
चारणों अने चारणी साहित्य—झवेरचन्द मेघाणी १९४३ ई०
छन्दानुशासन—म ज्ञो परीख प्रथम आवृत्ति
जैन ऐतिहासिक गुर्जरकाव्य संचय—मुनि जिनविजय, १९२६ ई०

ज्ञानेश्वरी—के वि का राजवाडे, चौथी आवृत्ति

संदर्भ ग्रन्थ

अनूप संस्कृत पुस्तकालय की पुस्तक-सूची
अभिधान राजेन्द्र
एंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका—भाग ११, संस्करण १४
गजेटियर आफ बीकानेर—पी डब्ल्यू पाउलेट
डिंगल कोश—नारायण सिंह भाटी १९५७ ई०
नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट
पाइयलच्छी नाममाला धनपाल पाटन २००१ वि०
पाइय सद्द महण्णवो—हरगोविन्ददास सेठ, १९२५ वि०
बोम्बे गजेटियर
राजस्थान के जैन शास्त्रभण्डारों की ग्रन्थसूची—भाग १ २, ३
राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज—भाग १, २, ३, ४
रिपोर्ट स आन दी आपरेशन इन सर्च आफ एम एस एस आफ बार्डिक क्रोनिकल्स
सरस्वती भण्डार उदयपुर की पुस्तक-सूची
साइक्लोपीडिक डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर—शिप्ले, १९४६ ई०
हस्तलिखित पोथियों का विवरण—सभी भाग बिहार राष्ट्रभाषा
हिन्दी विश्वकोष—नगेन्द्रनाथ वसु, १९११ ई०
हिन्दी साहित्य कोष—धीरेन्द्र वर्मा २०१५ वि०
हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्य-विवरण
हिन्दी शब्दसागर—नागरी प्रचारिणी सभा

हस्तलिखित ग्रन्थ

(संकेत सूची)

अ सं पु – अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर
अ जै पु – अभय जैन पुस्तकालय बीकानेर
आ ज्ञा – आनन्दजीवाई ज्ञानमन्दिर जामनगर
का – ज्ञानभण्डार कारंजा
द. वि – दरबार गोपालदास महाविद्यालय पुस्तकालय बलीआबाडा
पु प्र – पुस्तक प्रकाश जोधपुर
ब उ – ज्ञानभण्डार बड़ा उपाश्रय पाटन
मो क – मोहनसिंह कविराज संग्रह, उदयपुर
रा रि. – राजस्थान रिसर्च सोसायटी संग्रह, कलकत्ता
स भं – सरस्वती भण्डार, उदयपुर
सी ला – सीताराम लालस संग्रह मथानिया

सु भा — सुमेर लायब्रेरी जोधपुर
ला द — लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति मन्दिर, अहमदाबाद
अचलदास खीचीरी वचनिका—चारण शिवदास, अ सं पु
अभय विलास—बेलसी स मं
अभय विलास—दा पृथ्वीराज पु प्र
अमरसिंघ राठौड़री बात—अज्ञात, स मं
करण बत्तीसी—मुक्तक पु प्र
किरतार बावनी—दुरसाजी पु. प्र
किसन चन्द्रिका—बांकीदास सी ला
खींवजारा दूहा—मुक्तक पु प्र
गुण गोब्यंद—कल्याणदास स मं
गुण जोधायण—चारण पसाइत पु प्र
गुण रूपक—हेमकवि पु प्र
गोरखनाथजीरा छन्द—किशोरदास चारण पु. प्र
चन्द कुंवररी बात—हंसकवि मा भा
जगत विनोद—पद्माकर, द वि
जती रासा—करणीदान, मिश्री संग्रह
तत्ववेत्तारा सवैया—तत्ववेत्ता, ला द
तिथियांरा दूहा—मुक्तक, पु प्र
दसम भागवतरा दूहा—पृथ्वीराज स मं
नागजारा दूहा—मुक्तक, पु प्र.
नाग दमण—सांया झूला पु प्र
नायचन्द्रिका—उत्तमचन्द ओसवाल पु प्र
नाथ चरित—महाराजा मानसिंह, पु प्र
पद्मिनी चौपई—हेमरतन, अ जै पु
पंच सहेलीरा दूहा—मुक्तक स मं
पज्जुन चरित—सिंह का मं
प्राचीन राजस्थानी दोहे—मुक्तक, व उ
फतह जसप्रकास—बखतावर मो क
बालचन्द बत्तीसी—बालचन्द, मिश्री संग्रह
बुद्धि रासो—जल्ह पु प्र
भाषा भारत—सांदू तेजसी, स मं
भीम विलास—किसनजी आढा स मं
भीम प्रकास—रामदान स मं
रतन रासा—कुम्भकर्ण सु भा
राव अमरसिंहजीरा दूहा—चारण केसवदास पु प्र

राजा रतनसी वचनिका—प्रसाद, निजी संग्रह
रामरंजाट—सूयमल्ल, रा रि
रामरासो—माधोदास, अ वी पु
रामरासो—माधोदास, सा द
राणा रासो—दयालदास, सा द
रुकमणी हरण—सांया झूला, पु प्र
सगतसिंह रासो—गिरधर, पु प्र
सदीरा कवित—आशानन्द, पु प्र
सुकुमाल चरित—श्रीधर, सा द
सूरजप्रकाश—करणीदान, पु प्र
श्रीपाल रासो—विनयविजय आ भा
हरि पिंगल प्रबन्ध—जोगीदास, स भं

English Books

1. A Crammer of Prakrit Language—D C Sarkar 1943
2. An Introduction to Prakrit Language—Dr D C. Sen —First Edition
3. An Introduction to Ardh Magadhi—Dr A. M Chatge 1940
4. Annals & Antiquities of Rajasthan—James Tod —I Complete Edition
5. A Literary History of India—R. W Frazer—First Edition
6. Apbhransha Meters—Prof Velankar—Poona—First Edition
7. Comparative Grammer of the Middle Indo-Aryan —Dr S K. Sen—1951
8. Comparative Grammer of the Modern Aryan Language in India Volume I, John Beams—1872
9. Comparative Prakrit Grammer—V J Chokei—1933
10. Complete Works of R. Bhandarkar—4 Parts—First Edition
11. *Catalogue of Manuscripts in the Jain Bhandars of Pattan* Part I—1937
12. Catalogue of Samkrit & Prakrit Manuscripts in the —C. P & Berar—192,
13. Dhammapada—Samuel Beam—1950
14. Early History of India—Vincent & Smith—Second Edition
15. Gujarati Language & Literature 2 Parts—N B Divatia—1921
16. Gujarat & Its Literature—K. M. Munshi—1954
17. History of Indian Literature Vol 2 Winternitz—1933
18. History of Indian Literature—Albrecht Weller—First Edition
19. Historical Grammer of Apbhransha—G V Tagore—1948
20. History of Sanskrit Literature—Das Gupta & De—1947

21 History of Sanskrit Literature—A. B. Keith—1948
22 India as known to Panini—V S Agarwal—First Edition
23 Introduction to Prakrit—A. C. Woolner—1939
24 Indo Aryan & Hindi—Dr S. K. Chatterji—1942
25 India—A Short Cultural History—Rawlinson—1958
26 Language—Bloowfield—1955
27 Linguistic Survey of India—Vol IX—Grierson
28 Milestones in Gujarati Literature—K. M Zaveri—I Edition
29 Origin & Development of Bengali Language —Dr S K. Chatterji—1926
30 Political Institutions & Theories of Hindus —Sarkar—First Edition
31 Pali Literature & Language—Dr V K. Ghosh—First Edition
32. Prakrita Language & Their Contribution to India Culture —S. M. Katre—1945
33 Rajasthani Literature—B. L. Singh—Calcutta—First Edition
34 Study in the Gujarati Language in Sixteenth Century —Dr T N Dave—First Edition
35 Study in the Language of 'Uktivyakti Prakarana —Dr S. K. Chatterji—1953
36. Some Problems of Indian Literature—Winternitz—First Edition
37 Sanskrit Drama—Jagirdar—First Edition
38. Types of Sanskrit Drama D R. Mankad—First Edition
39 Tribes and Castes of Bombay—R. R. Enthoren—First Edition
40 The Catalogue of Gujarati & Rajasthani M. S S in the India Office Library—1954

सहायक पत्र-पत्रिकाएं

१ अजन्ता—हैदराबाद
२ अनेकान्त—दिल्ली
३ अवन्तिका—पटना
४ आलोचना—दिल्ली
५ इंडियन एंटीक्वेरी
६ कल्पना—हैदराबाद
७ भाव—इलाहाबाद
८ चारण—भावनगर
९ जनमन—अजमेर
१० जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसायटी
११ जर्नल आफ गुजरात रिसर्च सोसायटी
१२ जैन-जगत—वर्धा
१३ जैन सत्य प्रकाश—अहमदाबाद
१४ नागरी प्रचारिणी पत्रिका—वाराणसी
१५ प्रेरणा—जोधपुर
१६ परम्परा—जोधपुर
१७ बुद्धि प्रकाश—अहमदाबाद
१८ भारतीय विद्या—बम्बई
१९. मरु-भारती—पिलानी
२० मरुवाणी—जयपुर
२१ माधुरी—लखनऊ
२२ मीरां—अजमेर
२३ राजस्थान—कलकत्ता
२४ राजस्थान भारती—बीकानेर

२५ राजस्थान साहित्य—उदयपुर
२६ राजस्थानी—कलकत्ता
२७ राजस्थानी—नागपुर
२८ राजस्थानी वीर—पूना
२९ वरदा—बिसाऊ
३० विश्वभारती—शान्ति निकेतन
३१ शोधपत्रिका—उदयपुर
३२ सम्मेलन पत्रिका—प्रयाग
३३ सरस्वती—इलाहाबाद
३४ साहित्य संदेश—आगरा
३५ हिन्दी अनुशीलन—प्रयाग
३६ हिन्दुस्तानी—इलाहाबाद
३७ विशाल भारत—कलकत्ता

अप्रकाशित शोध प्रबन्ध

१ प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन तथा हिन्दी पर उसका प्रभाव
—डा० रामसिंह तोमर, प्रयाग विश्वविद्यालय
२ वीरगाथाकाल में ऐतिहासिक तथ्य
—डा० उमेशचन्द्र त्रिपाठी लखनऊ विश्वविद्यालय
३ भारतीय मध्ययुग के इतिहास का अध्ययन
—डा० टी० एन० बी० आचार्य, आगरा विश्वविद्यालय
४ राजस्थान के राजघरानों की हिन्दी-सेवा
—डा० राजकुमारी शिवपुरी राजस्थान विश्वविद्यालय

⊙